रचना-प्रक्रिया
(THE PROCESS OF LITERARY CREATION)

(हिन्दी विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर)

—भाई इन्द्रनाथ चौधरी के नाम

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

साहित्य के रचना-प्रक्रियात्मक अध्ययन की भूमिका

पृष्ठ संख्या

द्वितीय खण्ड

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण

तृतीय खण्ड

अभ्यन्तर का बाह्यीकरण

पुस्तक-पूर्वा

'सिरजना और सिरजनहार' नामक पिछली पुस्तक मे मैंने साहित्यिक सर्जनात्मकता और सर्जक-व्यक्तित्व की पहचान को मनुष्य की व्यापक रचनात्मक क्षमता के परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन का विषय बनाया था। यह पुस्तक साहित्य ही के सन्दर्भ मे, विभिन्न ज्ञानानुशासनो मे उपलब्ध गवेषणाओ की सहायता से, सर्जन-व्यापार या रचना की प्रक्रिया का संधान करती है। इसमे रचना-प्रक्रिया की कुछ महत्वपूर्ण, आधारभूत और सार्वत्रिक अवस्थाओ के विश्लेषण द्वारा उसकी सामान्य प्रकृति से अवगत होने का प्रयास किया गया है।

इसमे सन्देह नही कि रचना-प्रक्रिया बहुत दुर्व्याख्येय विषय है। विज्ञान के सभी दावो के बावजूद जब अभी तक शारीरिक प्रजनन की प्रत्येक समस्या को पूरी तरह सुलझाकर उसके परिणामो को इच्छानुकूल नही बनाया जा सका है तब कलात्मक रचना-प्रक्रिया जैसी सजटिल तथा असलक्ष्य क्रिया के विषय मे निर्णायक स्वर से कुछ भी निरूपित करना सचमुच कठिन है। लेकिन यह भी सच है कि समीक्षा-कर्म करते समय कृतियो की जिन वास्तविकताओ से हमारा साक्षात्कार होता है उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में उनकी रचना-प्रक्रिया के किन्ही बिन्दुओ से अवश्य जुडता है। उन बिन्दुओ के सम्यक् रेखाकन की अपेक्षा ही हमे इस सवाल का जवाब तलाशने के लिए मजबूर करती है कि आखिर रचनाएँ कैसे बनती है, कि वे कौन से बुनियादी कार्यभार अथवा सामाजिक एव कलात्मक सरोकार है जिनसे उत्प्रेरित होकर रचना-धर्मिता एक वांछनीय दिशा तथा परिणति ग्रहण करती है अथवा जिनकी अनुपस्थिति या अस्पष्टता के कारण वह दिशा-हीनता के जगल मे भटकती और भटकाती है।

यह अजीब विडम्बना की स्थिति है कि एक ओर जहाँ वैज्ञानिक ढग से सोचने वाले विचारक मानते हैं कि सब प्रकार की रचनात्मक मौलिकता के पीछे समस्त जैव सगठन के कुछ समानता-सूचक नियम प्रकार्यशील रहते है वहाँ दूसरी ओर साहित्यकारों का एक वर्ग ऐसा भी है जो रचना-प्रक्रिया मे केवल असमानता के तत्वो को महत्व देता है, उसे नितान्त वैयक्तिक किस्म की चीज मानता है और कई बार तो उसे लेकर बाव

तर्क करना भी नागवार समझता है। इस प्रसंग में सबसे ज्यादा भ्रम उन कृतिवादियों ने फैलाया है जो हर रचना को ऐसी स्वायत्त इकाई मानकर चलते हैं जिसकी संरचना अपने ही किन्ही अलग-थलग भीतरी सन्दर्भों पर खड़ी होती है। वे न तो कृति के सामाजिक परिवेश और कृतिकार की स्थिति-बद्धता की पड़ताल करना चाहते हैं, न उनकी वर्ग-चेतना और वर्गीय सीमाओं के अतिक्रमण को विकासात्मक महत्व देते हैं, न कृतियों या कृतिकारों की परस्पर-निर्भरता के ऐतिहासिक प्रश्न से जूझते हैं, न साहित्यिक आन्दोलनों का प्ररूपात्मक अध्ययन ही पसन्द करते हैं, न यह जानना चाहते हैं कि आधुनिकतावाद की झोंक में लेखन-प्रक्रिया किस वैचारिक जमीन पर खड़ी है और न अनुभूति की तथाकथित विशुद्धता से हटकर लेखकीय पक्षधरता को रचनात्मक संकल्प का अपरिहार्य विवेक मानते हैं। जाहिर है कि ऐसे लेखक रचना-प्रक्रियाएँ भी उतनी ही असंख्य मानते हैं जितनी कि कृतियों की संख्या होती है।

प्रस्तुत पुस्तक की प्राक्कल्पना है कि रचनाकारों के स्वभावों-संस्कारों और रचनात्मक विधाओं में भिन्नताओं के बावजूद रचना-प्रक्रिया के कुछ ऐसे मूलतात्विक अभेदात्मक सन्दर्भ या चरण होते हैं जिनसे गुजर कर हर रचना अपना-अपना आकार ग्रहण करती है और उनके अभिज्ञान के बिना रचनात्मक सन्तुलन, संश्लेषण तथा श्रेष्ठता को सम्यक् प्रकार से उद्घाटित करना यदि असम्भव नहीं तो अप्रासंगिक अवश्य हो जाता है। पुस्तक के प्रथम अध्याय में इस पर खुलकर बहस की गई है।

रचना-प्रक्रिया की अवस्थाओं को विवेचन का आधार बनाने का मतलब यह नहीं है कि हर रचना हूबहू किसी निश्चित लकीर पर चलती है या ये अवस्थाएँ आगे-पीछे कभी नहीं होतीं। अन्त शास्त्रीय अवस्था-निर्धारण की पृष्ठभूमि के बावजूद मैंने रचना-प्रक्रिया की मात्र दो अवस्थाओं या उसके दो सायुज्य पक्षों के व्याज से उसकी आन्तरिक नियमशीलता को अनेक व्यावहारिक प्रसंगों में समझने का प्रयत्न किया है। कुछ शब्दों के उपयोग के लिए मुक्तिबोध और डा० मेघ का विशेष ऋणी हूँ।

चूँकि सर्जनात्मकता के लिए मैं 'सिसृक्षा' शब्द का व्यवहार करता रहा हूँ, इसलिए रचना-प्रक्रिया या सर्जन-व्यापार के लिए कहीं-कहीं 'सिसृक्षण' का उपयोग भी हो गया है जिसे क्लिष्ट मानकर कुछ साथियों का चौंकना स्वाभाविक हो सकता है।

मैं अपनी सीमाओं से भली-भाँति परिचित हूँ, लेकिन मुझे उस सौजन्य पर विश्वास है जो सार को ग्रहण करता है और निस्सार को त्याग देता है। जिन विद्वानों और रचनाकारों से मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता मिली है, उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रूफ-वाचन की कुछ अशुद्धियों के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ, परन्तु वे अनर्थकारी नहीं हैं।

—ओम् अवस्थी

नव-वर्ष, 1985

4651-बी, गुरुनानक वाड़ा
अमृतसर-143002

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यंचः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
—अथर्ववेद

(भाई से भाई और बहन से बहन द्वेष न करे, तुम समव्रत तथा समानगति होकर भद्रभाव से ऐसी वाणी बोलो)

निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तय. ॥
—विष्णु पुराण

(सृष्टि की सर्जना मे स्रष्टा इसलिए निमित्त मात्र है क्योकि मुख्य कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तियाँ हैं)

अव्युत्पत्तिकृतो दोष शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते ॥
—ध्वन्यालोक

(अव्युत्पत्ति के कारण होने वाला दोष कवि की शक्ति के बल से छिप जाता है, परन्तु जो दोष कवि की शक्ति से उत्पन्न होता है उसका तुरन्त पता चल जाता है)

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता ।
स्मृतिदार्ढ्यमनिर्वेदश्च मातारोऽष्टौ कवित्वस्य ॥
—काव्यमीमासा

(स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृतिदृढता और उत्साह—कवित्व की ये आठ माताएँ हैं)

"अनुभव को तलाशने वाले के लिए जो महत्व इतिहास का होता है, सवेदन की खोज में लगे हुए व्यक्ति के लिए वही महत्व 'घटना' का होता है। कारण यह है कि 'घटना' एक ऐसी चीज है जिसे पूरी तरह विविक्त कहा जा सकता है। यह हमारे अनुभवों में अभिवृद्धि किये बिना, हमारे सवेदनों को बढाती है। इस प्रकार अनुभव (एक्सपीरिएंस) और संवेदन (सेंसेशन) वस्तु-जगत के प्रति प्रुवान्तक विपरीतता के रवैयों को व्यक्त करते हैं।... अनुभवोन्मुखी व्यक्ति निरन्तरता को खोजता है, पा लेता है और सहभागिता तथा सम्प्रेषणीयता पर बल देता है। सवेदनोन्मुखी व्यक्ति तात्कालिक, आत्मकेन्द्रित तथा अव्याख्येय को तलाश करता है। 'अनुभव' का संचयन 'विशेषज्ञ' को पैदा करता है। 'विशेषज्ञता' उसका सचयी उत्पादन है—सामर्थ्य है, एक ऐसी योग्यता है जो स्थितियों की परिचित और परीक्षित विशेषताओं को जानकर उनसे बरताव करती है। और संचित अनुभव ही का नाम है ज्ञान।"

—डेनियल जे॰ बूर्स्टिन
('दि डिक्लाइन ऑफ रेडिकलिज़्म' से)

प्रथम खण्ड

साहित्य के रचना-प्रक्रियात्मक अध्ययन की भूमिका

अध्याय—एक

रचना-प्रक्रिया : सामान्य-स्वरूपता, अभिज्ञान की उपयोगिता और अध्ययन के उपागम

1. प्रास्ताविक

सर्जक साहित्यकार या रचनाकार यदि सर्जनशीलता अथवा रचनात्मकता का विशिष्ट *गुण-सम्पन्न कर्ता-तत्व है तो सर्जन-व्यापार या रचना-प्रक्रिया उसी का नव-*निर्माणोन्मुखी कृत्य-पक्ष अथवा सृष्टि-तन्त्र है। रचना की प्रक्रिया मे प्रत्यक्षित यथार्थ का सवेगात्मक आत्म-सात्करण, वैचारिक सामान्यीकरण और साभिप्राय मगर कलात्मक रचनान्तरण किया जाता है। वैसे तो रचना-प्रक्रिया को रचनाकार और रचना से एकदम अलगाया नही जा सकता, लेकिन विवेचन की सुविधा के लिए हम उसे इन दोनों का मध्यवर्ती प्रक्रम कह सकते हैं। यह अन्तर्मुखी चित्यात्मक भावन और उसके बहिर्मुखी भौतिक प्रकटीकरण की अनिवार्य पद्धति है। दूसरे शब्दो मे कहे तो जीवन-सत्य को कला-सत्य में ढालकर अधिक आशंस्य तथा विचारणीय रूप मे प्रस्तुत करने के प्रयोजन से विभिन्न विकासमान चरणों में जो अदृश्य यात्रा तय की जाती है, वही रचना-प्रक्रिया है। चूंकि उसी के परिणामस्वरूप कोई सम्प्रेष्य रचना अस्तित्व मे आती है, इसलिए किसी रचना मे कथ्य और कथन के जितने भी गुण-दोष पाये जाते है वे किसी-न-किसी बिन्दु पर रचना-प्रक्रिया की ताकत या कमज़ोरी के परिचायक होते हैं। इस तथ्य की उपेक्षा नही की जा सकती।

1 1. रचना-प्रक्रिया सदैव से जिज्ञासा और विवाद का विषय रही है। इस जिज्ञासा का पूर्ण तार्किक प्रशमन अभी तक भविष्य की बात है। वास्तव मे यह मनुष्य की सर्जनात्मक विचार-प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है और इसका उदय सृष्ट-पदार्थो को देखने, सुनने या पढ़ने के उपरान्त होता है। 'कामायनी' जैसी कालजयी काव्य-कृति की रचना कैसे हुई, किन अवस्थाओं से गुज़र कर 'कफन' एक महत्वपूर्ण कहानी बनी, किन लेखकीय और मचीय आग्रहो से 'लहरो के राजहस' को बार-बार लिखा गया, 'आनन्द मठ' की

प्रतिक्रिया में 'विवाद मठ' उपन्यास की रचना करना क्या सचमुच नम्बर दो का लेखन है—ये और ऐसे अनेक सवाल हैं जो रचना की पूरी प्रक्रिया अथवा उसके किसी एक चरण के हवाले से रचना-कर्म के आन्तरिक नियमों की शक्ल में जवाब चाहते हैं। साहित्य-विवेचकों और कलाशास्त्रियों ने इस जवाब की तलाश में अगर अपने-अपने क्षेत्र का मथन किया है तो सर्वक्षेत्रीय स्तर पर वैज्ञानिक ढंग से व्यापक विचार करने का श्रेय मनोविज्ञान को जाता है। स्वयं सिसृक्षुओं ने भी अनेक बार अपनी रचना-प्रक्रिया की आंशिक जानकारी दी है जो मात्रा की दृष्टि से, इस विषय पर उपलब्ध-सामग्री का सबसे बड़ा भाग है और प्राथमिक सूचना का महत्वपूर्ण स्रोत भी है।

1 2 मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट थॉमसन ने ठीक लिखा है कि—"सर्जनात्मक विचारण का पर्यवसान वस्तुओं (कविताओं, तस्वीरों, प्रयोगों, पाण्डित्यपूर्ण लेखों आदि) में होता है जिनकी गुणवत्ताओं के कारण हम उन्हें 'मौलिक', 'सर्जनात्मक' अथवा 'कल्पना शक्ति सम्पन्न' कहते हैं। आम आदमी झट से विश्वास कर लेता है कि वे विचार-प्रक्रियाएँ और कार्यक्रियाँ जो इन प्रशस्य उत्पादनों का कारण बनती हैं, जरूर अद्वितीय होंगी—उन सबसे नितान्त भिन्न जिनमें वह अपनी नीरस दिनचर्या के दौरान प्रवृत्त रहता है।"[1] ऐसा सोचने पर रचना की प्रक्रिया रहस्यमयी प्रतीत होती है; लेकिन थॉमसन के अनुसार इसका युक्तियुक्त समाधान तभी मिल सकता है जब हम इसे सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन प्रक्रिया के सन्दर्भ में एक गुणात्मक अन्तर और स्तर पर विश्लेषित करें तथा यह सोचकर भी चलें कि विशेष शिक्षा तथा कौशल्य आदि को अर्जित करने और अनुकूल परिस्थितियों में रख दिए जाने से किसी भी व्यक्ति द्वारा अपनी चिन्तना को इस स्तर तक विकसित करने की सम्भावना हो सकती है।

1 3. अगर साहित्य जीवन-यथार्थ का सौन्दर्यबोधात्मक एवं सामान्यीकृत प्रतिबिम्बन है तो निश्चित रूप से उसके सिसृक्षण को—भले ही वह कितना अदृश्य और अमूर्त व्यापार क्यों न प्रतीत हो—अमूर्त ढंग से विवेचित करना बेकार है। मार्क्सवादी साहित्य-समीक्षक वेस्सिली नॉविकॉव ने इस सवाल को कला-सत्य के सदर्भ में उठाया है। उनका विचार है कि "कला-सत्य का यदि हम अमूर्त ढंग से व्याख्यान करेंगे तो उसे सुस्पष्ट लक्षणों में बाँधना कठिन हो जायेगा। तब वह अध्ययन-विषय के रूप में लुप्त हो जायेगा। लेकिन वह 'वास्तव' बनकर तभी पकड़ में आयेगा और अपनी पूर्ण विविधता एवं सम्पन्नता के साथ तभी उद्घाटित होगा जब हम उसे एक ठोस उपागम से समझेंगे। ...मेरी निश्चित धारणा है कि हम कला-सत्य के सवाल को तब तक हल नहीं कर सकते जब तक हमें उसमें 'प्रतिनिधिक' (टिपिकल) का बोध नहीं होता। यह बिन्दु हमें तत्काल कलाकृतियों के भीतरी रचना-नियमों के क्षेत्र में ले जाता है और सक्षम करता है कि

1. रॉबर्ट थॉमसन, दि साइकॉलॉजी ऑफ थिंकिंग (एलेस्बरी बुक्स, दि इंग्लिश लेंग्वेज बुक सोसाइटी और पेंगुइन बुक्स, 1971), पृ० 183-84।

हम उन्हें बन्द अन्तर्वर्ती कुलक न समझें बल्कि उन्हें यथार्थ की कलात्मक व्याख्या के ऐसे सामान्य नियमों के साथ संजटिल अन्योन्याश्रय में विश्लेषित करें जो हर बार स्वयं को विशिष्ट रूपों में प्रव्यक्त करते हैं।"[1] नॉविकॉव यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि साहित्य-कलात्मक उत्पादन कोई अराजक अथवा नियमहीन व्यक्तिगत प्रक्रिया नहीं है कि नितान्त नये यथार्थ या कल्पित जीवन-सत्य का निरूपण ही उसका प्रयोजन मान लिया जाए; वह मनुष्य की लम्बी विकास-यात्रा में समाजैतिहासिक शक्तियों द्वारा पहले से निर्धारित और उसके शुभाशुभ के विवेक द्वारा चालित किसी ठोस 'प्रतिनिधि-सत्य' को वर्तमान के सन्दर्भ में नयी सौन्दर्यबोधात्मक व्याख्या देने का विविधरूपी कलात्मक प्रयास है।

1.4 उपर्युक्त दोनों कथनों में वैचारिक दृष्टि के ध्रुवान्तक भेद के बावजूद एक स्वाभाविक समझौता है—कि रचना की प्रक्रिया का कहीं एक सामान्य स्वरूप होता है और उसके भीतरी नियमों की तलाश इसी व्यापक सन्दर्भ में की जानी चाहिए। समझदारी का यह एक महत्वपूर्ण प्रस्थान-बिन्दु है जिसे रेखांकित करना इसलिए जरूरी है क्योंकि अभी तक कुछ रचनाकारों की मान्यता है कि हर कलाकार की अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया होती है और किसी एक के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों को दूसरे पर नहीं 'थोपा' जा सकता। अगर रचना-प्रक्रिया का यही अर्थ लिया जाए कि कोई रचनाकार दिन और रात के किन घण्टों में रचना-कर्म करता है या किस मसि-कागज का इस्तेमाल करता है या अपने ध्यान को केन्द्रित करने के लिए कौन-सा अभ्यास करता है या उसका प्रेम-प्रसंग कितना गहरा अथवा उथला था, तो यह मान्यता ठीक हो सकती है; वरना सामान्यीकृत सैद्धान्तिक विवेचन में इन सतही बातों के लिए कोई खास जगह नहीं होती। पाल वेलरी ने तो यहाँ तक लिखा है—"रचनाओं के उत्पादन में मुझे कुछ भी ऐसा नज़र नहीं आता जो कला-कर्म के लिए एक अलग श्रेणी बनाने पर मजबूर कर सके। मुझे सब जगह तथा सभी मनों में एकाग्रता, प्रारम्भिक आयास, अप्रत्याशित स्पष्टता और अँधेरे रास्ते, आशुतत्व एवं अभ्यास, या त्वरित पुनरावृत्तियाँ दिखायी देती हैं। मन की प्रत्येक भट्ठी में आग और राख दोनों होती हैं; इसी तरह दूरदर्शिता और अदूरदर्शिता भी, प्रविधि और अप्रविधि भी, हजार तैयारियों में संयोग भी। वैचारिक जीवन की विलक्षण विस्तीर्णता में कलाकार और विद्वान एक जैसे होते हैं। यह कहा जा सकता है कि किसी भी विशिष्ट क्षण में कार्यरत मनों का प्रकार्यात्मक अन्तर दुर्ग्राह्य होता है।"[2] अतः सिसृक्षण की सामान्य-स्वरूपता विचारणीय है।

---

1. वेस्सिली नॉविकॉव, आर्टिस्टिक ट्रूथ एण्ड डाइलेक्टिक्स ऑफ क्रिएटिव वर्क (मास्को, प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज़, 1981), पृ० 14।

2. रचना-प्रक्रिया की सामान्य-स्वरूपता

रचना-प्रक्रिया के सिद्धान्त-सम्मत विवेचन और उसकी उपयोगिता की बात तभी सार्थक हो सकती है जब हम यह मानकर चलें कि उसका एक सर्व-सामान्य स्वरूप होता है जिसके व्यापक सघटकों या अवस्थात्मक सोपानो के आकलन द्वारा कृतियो की प्रक्रियात्मक पडताल की जा सकती है। प्रस्तुत अध्ययन की यह आधारभूत सकल्पना है कि रचयिता-व्यक्तित्व, कला-विशेष और उस कला की विधा-विशेष के सन्दर्भ में अपने-अपने प्रक्रिया-भेद या प्रतीयमान वैशिष्ट्य के बावजूद तमाम सिसृक्षण मे एक मूलतात्विक अभेद या निर्वैशिष्ट्य होता है। अगर हम ऐसा नही मानते तो 'रचनात्मक साहित्य' या 'कला' जैसे शब्द, जिनका अवधारणात्मक अस्तित्व ही निर्माण-साम्य पर टिका हुआ है, बेमानी हो जाते हैं। मोटे तौर पर देखें तो रचना-प्रक्रिया की मुख्यत. दो अवस्थाएँ होती हैं—एक भावन की सकुल मानसी अवस्था, जिसमे अनुभूति, विभिन्न प्रभाव-ग्रहण, प्रतिक्रियात्मक घात-प्रतिघात, वैयक्तिक एव सामूहिक चेतावचेत, कल्पना, बुद्धि, सान्द्रता, स्मार्त गुणो और निर्वैयक्तिक प्रव्यक्ति-कामना आदि का संश्लिष्ट एव अदृश्य विनियोग रहता है; और दूसरी रूपाकार-बद्ध अवस्था, जिसमे अभिव्यक्ति के माध्यम और विधागत वैशिष्ट्य के अनुसार रचनाओ का सृष्ट भौतिक रूप उजागर होता है। हालाकि ये दोनो सर्जन-व्यापार ही की अवस्थाएँ हैं फिर भी कुछ विद्वान पहली को भावन और दूसरी को सर्जन कहना अधिक पसन्द करते हैं। "साहित्य-विधाएँ ही नही, सभी ललित-कलाओ मे भावन के धरातल तक रचना-प्रक्रिया की समानता बनी रहती है, किन्तु भावनाओ या भावित अनुभूतियो को सर्जन के धरातल पर लाते ही अभिव्यक्ति-प्रणाली या अभीष्ट विधा के अनुरूप रचना-प्रक्रिया मे अन्तर प्रारम्भ हो जाता है।'''सर्जन के धरातल पर पहुँच जाने के बाद कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और नाटककार की रचना-प्रक्रिया एक ही साँचे मे ढली नही रहती, बल्कि अपने-अपने विधागत स्थापत्य के अनुरूप किंचित भिन्न हो जाती है।"[1] लेकिन यह 'किंचित' भिन्न हो जाना भी तो तमाम साहित्यिक सिसृक्षण की आभिव्यक्तिक या रूप-बद्ध होने की अवस्था ही का आयामपरक परिप्रेक्ष्य है।

2.1 वास्तव मे इन दोनो दृष्टियो में कोई तात्विक विरोध नही है कि सब रचनाकारो की अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया होने के बावजूद इस प्रक्रिया का एक सर्व-सामान्य स्वरूप होता है और रचना-प्रक्रियात्मक अध्ययन के आधारभूत सन्दर्भ उसी से प्राप्त होते हैं। कुछ रचनाकारो को छोड़कर, अधिकाश साहित्य-स्रष्टा, कला-मीमासक और सभी मनोवैज्ञानिक इस तथ्य को स्वीकार करते है; बल्कि उनका सिसृक्षा-विवेचन इसी प्राक्कल्पना से प्रस्थान करता है। जब हम किसी एक लेखक की रचना-प्रक्रिया, या

1. कुमार विमल, रचना-प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप, काव्य-रचना-प्रक्रिया (पटना; बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1974), पृ० 4।

इससे भी आगे उसकी किसी एक विधा की रचना-प्रक्रिया या इससे भी आगे उस विधा की किसी एक कृति की रचना-प्रक्रिया का अध्ययन करते है तब हमारा लक्ष्य एक बृहत् प्रक्रिया के आयामपरक वैशिष्ट्य को छाँटते हुए, 'माइक्रो' उपागम द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाना होता है। इस प्रकार के अध्ययन मे हर रचनाकार और हर विधा की प्रक्रिया में अन्तर दिखायी देता है; हालाकि उस अन्तर के मूल सन्दर्भ वही अनुभूति, चिन्तना और अभिव्यक्ति के होते हैं, फिर भी वे बदले हुए लगते है क्योंकि एक तो उनके आनुवंशिक स्रोत पृष्ठभूमि मे चले जाते हैं और दूसरे हमारी व्याख्या व्यक्ति वैशिष्ट्य-प्रधान हो जाती है। लेकिन जब हम समूचे साहित्य की रचना-प्रक्रिया पर विचार करते है तब रचनाकार, विधा और कृति के इकाई-रूप पृष्ठभूमि मे चले जाते हैं, उनके निर्वैयक्तिक मूल सन्दर्भ पूरी साहित्यिक आनुवंशिकता समेत अग्र-भूमि में चले आते है और हम व्यापक 'मेक्रो' उपागम द्वारा सारी विभिन्नताओ को सैद्धान्तिक अभिन्नता मे पिरोते हुए उसके सर्वसामान्य स्वरूप की पहचान करते है।

2.2 सब मानते है कि रचना करना एक 'प्रक्रिया' है। ध्यान से देखें तो 'प्रक्रिया' या 'प्रॅासेस' शब्द ही सर्वसामान्यता-सूचक है। इसमे 'कुछ करने' की बजाए एक तरह के सार्वभौमिक 'हो जाने' का अर्थ अधिक मुखर है जो प्राकृतिक घटना-विधान का सूचक है—जैसे मौसम बदलने की 'प्रक्रिया', मनुष्य के उद्भव और विकास की 'प्रक्रिया' आदि। इसीलिए प्रायः माना जाता है कि मानवीय प्रजनन और साहित्य-कलात्मक सिसृक्षण मे बहुत समानता है। जिस तरह मानवोत्पत्ति के लिए प्रतिलैंगिक संघर्षण, वीर्य-वपन, गर्भाधान, भ्रूण-विकास और प्रसूति की अवस्थाएँ जरूरी होती हैं उसी तरह सिसृक्षण भी मातृगुणात्मक व्यापार है जिसमे आत्म और वस्तु जगत के द्वान्द्विक समागम से अनुभूति का प्रस्फुटन होता है जो अवचेत मे सगर्भित होकर विचार-विकास मे फैलता है और शब्द-बिम्बात्मक रचना-शिशु के रूप मे नव्यागमन से साहित्य-परिवार को परिवृद्ध एव प्रभावित करता है।

इस रूपक की तार्किक संगति पर प्रश्न-चिह्न लगाया जा सकता है मगर इससे रचना-प्रक्रिया की सामान्य-स्वरूपता अवश्य व्यंजित होती है और यह सकेत भी मिलता है कि रचनाओ का भी एक 'शरीर-विज्ञान' होता है जिसे उद्घाटित करने के लिए राग-मूल्यवादी साहित्यिक दृष्टि और तथ्यपरक वैज्ञानिक दृष्टि, दोनो का समन्वय जरूरी है। शायद इसीलिए मनोवैज्ञानिको से लेकर साहित्य-कला-मीमांसको और अनेक रचनाकारों तक ने इस रूपक का सहारा लिया है। जुग, रैंक और घिसेलिन आदि तो इसके लिए प्रसिद्ध हैं ही, आधुनिक मनोवैज्ञानिक और रचनाकार रोलो मे ने भी कवि आडेन और बाइबल के हवाले से लिखा है कि 'अब्राहम ने अपनी पत्नी को जान लिया और वह गर्भवती हो गई'—इस वाक्य मे 'जान लेना' अर्थात् सम्भोग और ज्ञान, तथा 'गर्भवती होना' अर्थात् विचारण और उत्पादन इसलिए साथ-साथ रख दिए गए हैं क्योंकि इससे प्रक्रिया की सर्वसामान्यता और उसके लिए सर्वथा अपेक्षित अनन्य आत्मीयता तथा गतिशीलता व्यंजित होती है—"सम्भोग दो प्राणियो की चरम निकटता और सर्वाधिक समृद्ध द्वान्द्विक

समागम का नाम है। अतिविचारणीय है कि यही वह अनुभव है जो इस अर्थ में सिसृक्षा का सर्वोच्च रूप है कि वह नये आकार को उत्पन्न कर सकता है। कविता, नाटक और प्लास्टिक कलाओं में प्रतीक एवं बिम्ब ही इस समागम से उपजित शिशु-रूप हैं।"[1] अज्ञेय इसे प्रातिभ उन्मेष की अनिवार्य अवस्था मानते हुए भारतीय 'ब्रह्मानन्द सहोदर' और पाश्चात्य 'रति-सुख' को लगभग पर्यायवत् समझते हैं।[2] मुद्राराक्षस ने, हमारे एक प्रश्न के उत्तर में लिखा है—"लिखना मातृत्व की प्रक्रिया के समानान्तर अनुभव है।" कवि नरेन्द्र शर्मा की भी धारणा है कि "संवेदनशील कवि-हृदय, उर्वरा भूमि और जननी बन सकने वाली जाया में रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी समानताएँ होती हैं।···आधार मानसिक, भौतिक और दैहिक हो सकते हैं।"[3]

मतलब यह कि रचना-कर्म को 'प्रक्रिया' कहना ही मूलतात्त्विक सामान्यता का सूचक है। जहाँ उस प्रक्रिया के पीछे स्पष्ट मानवीय सत्ता का बोध नहीं होता वहाँ उसकी सर्वसामान्यता नियमतः स्वतः स्वीकृत हो जाती है, लेकिन जहाँ वह विशुद्ध प्राकृतिक व्यापार न रहकर किसी विशिष्ट कर्त्ता का मानसिक कृत्य दिखायी देता है वहाँ कर्त्ता-भेद के कारण यह सामान्य-स्वरूपता संदिग्ध हो उठती है। यह संदेह तब तक दूर नहीं होता जब तक हम कर्त्ता और कर्त्ता में, संघटनात्मक दृष्टि से, साम्य तलाशते हुए यह नहीं समझ लेते कि जो कर्त्ता स्वयं एक प्रक्रियात्मक सामान्यता की उपज है, उसके अपने सृष्ट पदार्थों में भी देह, मन और मस्तिष्क की संरचनात्मक समानता के कारण एक रचना-धर्मी सामान्य-सापेक्षता होती है। इसलिए गोर्की ठीक कहते हैं कि "अपने सारतत्त्व में साहित्यिक सर्जनात्मकता सभी देशों तथा सभी जातियों में एक-सी है।"[4] इसी प्रकार पच्चीस वर्षों तक कलात्मक सिसृक्षण की दो आधारभूत अवस्थाओं या समस्याओं—सृजनेच्छा और रूपबद्धता के निरन्तर जूझने वाले आटो रैंक को यदि लुडविग लेविसॉह्न ने रचना-प्रक्रिया का सबसे बड़ा अंग्रेज़ी-भाषी ज्ञाता कहा है तो इसलिए कि "उन्होंने इस प्रक्रिया को मनुष्य की उस वृहत्तर रचना-कायिकी की प्रावस्था के रूप में देखा है जिसके द्वारा मनुष्य ने, मनुष्य होने के नाते, सभ्यता की समग्रता का निर्माण किया है।"[5] हिन्दी में अकेले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस बात को सर्वाधिक समझा है और साहित्य

1. रोलो मे, दि करेज टु क्रिएट (लंदन, विलियम कालिन्स सन्ज़ एण्ड कम्पनी, 1976), पृ० 85-86।
2. अज्ञेय, जोग लिखी (दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज़, 1977), पृ० 63।
3. रणवीर रांग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार (नयी दिल्ली, पूर्वोदय प्रकाशन, 1978), पृ० 241-42।
4. मैक्सिम गोर्की, मैंने लिखना कैसे सीखा, लेखन-कला और रचना-कौशल (मास्को, प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज़, 1976), पृ० 8।
5. ऑटो रैंक, आर्ट एण्ड आर्टिस्ट (न्यूयार्क, एगाथन प्रैस, 1962), भूमिका।

को मनुष्य की जय-यात्रा के साथ जोड़ा है। रेंक के अनुसार जय-यात्रा सह-यात्रा तो होती है, पर निर्भरता नहीं; साहित्यिक सर्जना में हर तरह की निर्भरता से क्रमिक विमुक्ति की कामना ही समान-रूप में क्रियाशील दिखाई देती है।

2.3. मनोविज्ञान तो रचना-प्रक्रिया की सामान्य-स्वरूपता में सन्देह की कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ता, क्योंकि इसी को नियमतः सिद्ध करना उसका प्रयोजन है जो अतिवादिता और मूल्य-निरपेक्षता के कारण कई बार साहित्यकारों को चिढ़ाता है। लेकिन साहित्य के जितने भी सिद्धान्त और सम्प्रदाय, काव्यात्मा तथा काव्य-प्रयोजन आदि के नाम पर चर्चित होते रहे हैं, उनका लक्ष्य वास्तव में इसकी किसी-न-किसी मूल-तात्विक अवस्था का सामान्य स्वरूपीकरण रहा है। अनुकरणवादियों के लिए वह सामान्य तत्त्व प्रकृति की प्रेरणात्मक अनुकृति है, अभिव्यंजनावादियों के लिए स्वयंप्रकाश्य आत्माभिव्यक्ति है, रसवादियों के लिए शब्दार्थ की आनन्दप्रदता और भाषा तथा अर्थवैज्ञानिकों के लिए विचार-रावेगों का प्रतीकात्मक स्थानान्तरण है। ये सभी दृष्टियाँ अपनी-अपनी जगह पर आज भी ठीक हो सकती हैं लेकिन इन सबको मिलाकर देखने पर ही रचना-प्रक्रिया की समग्रता अधिक स्पष्ट होती है।

2.4. चूँकि साहित्य में सूरज अभी तक चलता है और पृथ्वी खड़ी देखती रहती है, इसलिए रचना-प्रक्रिया की सैद्धान्तिक सामान्यस्वरूपता को एक 'साहित्यिक मस्ला' बनाकर हमने कतिपय समकालीन रचनाकारों का अभिमत-संग्रह किया है और अनेक दूसरे रचनाकारों के उद्धरणों का संकलन भी। यह बात भी ध्यान में रखी है कि अनुभुक्त का प्रथम साक्षी अनुभोक्ता स्वयं होता है और बहुत-सी साक्षियों के विवेक सहित आकलन-विश्लेषण का नाम ही सैद्धान्तिक सामान्यीकरण है। सौभाग्यवश 80 प्रतिशत से अधिक रचनाकार रचना-प्रक्रिया की एक सामान्यस्वरूपता के समर्थक दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए अमृतराय लिखते हैं—"मैं आपकी बात से सहमत हूँ कि सबकी अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया के बावजूद उसका एक सामान्य-स्वरूप भी होता है, लेकिन उसके लिए लम्बी व्याख्या अपेक्षित है।" कहानी, उपन्यास और नाटक जैसी एकाधिक विधाओं में लिखने वाले भीष्म साहनी का कहना है कि—"प्रक्रिया एक ही है, कहने का ढंग बदल जाता है।" इस सम्बन्ध में मुक्तिबोध के संवेदन-क्षमता, बौद्धिक आकलन और शब्द-बद्धता—इन तीन सर्व-सामान्य रचनाप्रक्रियायी 'क्षणों' की बात किसी से छिपी नहीं है। हालाँकि रमेशचन्द्र शाह की धारणा है कि इस व्याख्या के पहले दो चरण टी० एस० इलियट आदि की आवृत्ति हैं, "तीसरा ही उनकी अपनी रचना-दृष्टि के संदर्भ में मौलिक और उद्घाटक है"—लेकिन इससे हमारे प्रतिपाद्य पर कोई आँच नहीं आती। इसी प्रकार राजेन्द्र यादव, कुबेरनाथ राय, मृदुला गर्ग, नरेन्द्र मोहन, नरेन्द्र कोहली और अनेक रचनाकारों ने 'हाँ' में जवाब देने के साथ अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार रचना प्रक्रिया की प्राक्कल्पनीय सामान्य अवस्थाओं के उल्लेख भेजे हैं जिनमें प्रभूत समानता है।

2.5. एक-दो आपत्तियाँ और कुछ खामोशियाँ भी वसूल हुई हैं। उमाकान्त मालवीय का विचार है कि इस सामान्य-स्वरूपता के स्वीकार से ग़लत निष्कर्षों का खतरा

बना रहेगा। शायद उनका मतलब है कि तब हम सामान्यीकरण के तर्क-दोष का शिकार होकर 'प्रेमचन्द' के निष्कर्षों को 'अज्ञेय' पर थोपने लगेंगे। इसी प्रकार गिरिराज किशोर "हर रचनाकार के अपने स्तर और क्षण होते हैं" कहकर बात को खारिज करते हैं। दोनो आपत्तियाँ एक ही किस्म की हैं क्योंकि इनके पीछे रचनाकार के अपने 'डीपर्सनलाइज' होने की आशंका है। हमारे विचार मे बात इसके बिल्कुल विपरीत है। निष्कर्षों की ग़लतियाँ तो रचना-प्रक्रिया और उसकी सर्वसामान्यता के वैयक्तिक आयामो को समन्वित न कर सकने वालो ने ज्यादा की हैं। मिसाल के तौर पर रचना-प्रक्रिया की सामान्यस्वरूपता का एक प्रमुख बिन्दु यह है कि रचनाकार अपनी बहुकारकीय व्यक्तित्व-संरचना द्वारा—जिसमे उसके अनुवंश, समाज, वर्ग, युग, उसकी परम्परा और शिक्षा-दीक्षा आदि की मुख्य भूमिका होती है—जीवन से अनुभवों की शक्ल में जो ग्रहण करता है उसी को कलात्मक नैपुण्य से रचना मे रूपान्तरित करता है। प्रेमचन्द ने भी यही किया था और अज्ञेय ने भी यही किया है। लेकिन इस बात को समझने की बजाए अगर हम यह निष्कर्ष देने लगे कि प्रेमचन्द ने अज्ञेय की अपेक्षा जीवन से उसके बेहतर अंश को नही लिया है तो बात रचनाप्रक्रिया के हवाले से नही, अपनी मान्यता के हवाले से की जा रही है।

सवाल यह नही कि अमुक ने अमुक की तुलना मे 'बेहतरीन' क्यो नही लिया; सवाल यह है कि जो कुछ जीवन से लेने के लिए कोई रचनाकार स्थितिबद्ध था, उसे उसने अपनी रचना-प्रक्रिया को खण्डित किये बिना किस प्रतिक्रिया और किस ईमानदारी से दिया है? प्रतिक्रिया उसकी अपनी जीवन-दृष्टि है और ईमानदारी उसका सामूहिक अवचेत है जो रचनाप्रक्रिया के दौरान बडी सहजता और अनोढेपन से, कई बार, जीवन-दृष्टि से भी बगावत कर बैठता है। हर रचनाकार के साथ यह होता है, खासतौर पर उस वक्त जब उसके पात्र उसके हाथ से छूटने लगते है। होरी का मर जाना प्रेमचन्द की ईमानदारी है क्योकि वह चाहकर उसे जिन्दा नही रख सके; और गौरा की ओर भुवन का मुड़ना अज्ञेय की ईमानदारी है क्योंकि वह चाह कर भी अपने 'क्षणवाद' की रक्षा नहीं कर पाते। मालती और मेहता के प्रसग मे प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया खण्डित हुई है, और रेखा-भुवन सम्बन्धो के 'ग्लोरीफिकेशन' मे अज्ञेय की, क्योकि दोनो ही वहाँ-वहाँ निर्वैयक्तिक या आग्रहमुक्त होकर अपने इस-इस हिस्से को रचनात्मक अन्विति मे विलेय नही बना सके। प्रेमचन्द और अज्ञेय दोनों की भाषा ध्रुवान्तक दूरी पर होकर भी उच्चकोटिक है क्योंकि वह अपने-अपने अनुभव-ससार की जरूरत के साथ निस्सृत होती है। इसी प्रकार आत्म-जागतिक द्वन्द्व हर कृति की प्रक्रिया का सवेदन-बिन्दु होता है लेकिन उसकी प्रव्यक्तियाँ कई दिशाओ मे होती हैं। 'गोदान' मे उसने पिस-रहे लोगो की तरफदारी की दिशा धारण की है जबकि 'नदी के द्वीप' मे भीड से अपने अकेलेपन के बौद्धिक रोमान को सत्य की 'इल्यूजन' मे ढालने की। मतलब यह कि मूल रचना-प्रक्रियात्मक सदर्भों के गवाक्षो से झाँककर ही अधिकाधिक सही निष्कर्षों पर पहुँचा जा सकता है, वरना आग्रह से किसी को 'समाजवादी' और किसी को 'अभिजात' मान लेना तो एकदम आसान है।

26. इस प्रकार साहित्यिक रचना-कर्म की व्यापक समरूपता का स्वीकार,

सर्जनात्मकता के विकसित ज्ञान-विज्ञान और उसके इस ललित आयाम—दोनो का तकाजा है। व्यक्ति और विधाओं के जहाज तो इसकी सागरिक अगाधता, विस्तीर्णता और चिर नवलता के सूचक हैं; सब एक ही घाट पर लगर डालते हैं क्योंकि सबकी यात्रा आत्म से अनात्म की ओर होती है। "उसका सम्बन्ध सब प्रकार के साहित्य से है, चाहे गोर्की के उपन्यासों से हो या ठाकुर की कविता से। मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य की कई कसौटियाँ हो सकती हैं; उनमें से एक कसौटी सौंदर्य-सम्बन्धी (रचनाप्रक्रियात्मक) भी है।"[1] यह मुक्तिबोध ने कहा है और लगभग यही बात रेने वेलेक ने भी की है। इस वक्तव्य मे एक ओर प्रक्रिया की सामान्यस्वरूपता व्यजित है तो दूसरी ओर साहित्य की समीक्षात्मक समझदारी के लिए उसे सौन्दर्यबोधात्मक पद्धति कहा गया है। आज चूंकि घोर व्यक्तिवादी साहित्य-विश्लेषकों से लेकर मार्क्सवादी तक इसका इस्तेमाल कर रहे हैं, इसलिए 'एक कसौटी सौन्दर्य सम्बन्ध' के स्थान पर 'एक व्याख्या अधिक समावेशी' कहना अधिक समीचीन हो सकता है।

3. रचना-प्रक्रिया की संश्लिष्ट अनानुपातिकता

साहित्यकलात्मक सर्जन-व्यापार मे जितनी भी भिन्नताएँ दिखायी देती है उनका वास्तविक कारण उसकी संरचनात्मक संश्लिष्टता और संघटनात्मक अनानुपातिकता है। उसमे अनुभूति, प्रेरणा, कल्पना और साहचर्यात्मक चिन्तना आदि को एक तो एक-दूसरी से अलगाना कठिन होता है और दूसरे इनकी मात्रा तथा क्रमिकता व्यक्ति-स्तरीय होने के कारण निर्भ्रान्तित' निर्धारित नही की जा सकती।

3 1. सिसृक्षा के तीनों पार्श्वों मे पहला अर्थात् सिसृक्षु यदि कुछ कम, और तीसरा अर्थात् सिसृक्षित अधिकतम स्पष्ट, आकारबद्ध, गोचर और भौतिक होता है तो यह दूसरा अर्थात् प्रक्रियात्मक पक्ष प्रधानत अस्पष्ट, आकारहीन, अगोचर और चित्यात्मक होता है। देखने को तो यह शब्द-व्यापार मात्र प्रतीत होता है मगर शाब्दिक रचना वस्तुत- रचनाकार के चित्यात्मक जीवन की रचना होती है जो कलम उठने से बहुत पहले ही शुरू हो चुकी होती है और कलम चलाने के दौरान भी अनेक स्तरो पर सक्रिय रहती है। सिसृक्षण की प्रक्रिया हमारे लिए तो कृति के आविर्भाव के साथ परिसमाप्त हो जाती है लेकिन रचनाकार के लिए शायद कभी खत्म नही होती क्योंकि वह बार-बार लिखने की ओर लौटता है। कहने को वह लिखकर तनाव-मुक्त हो जाता है मगर एक अपर्याप्ति उसमे बनी रहती है जो उसकी सृजनेच्छा को जीवित रखने के लिए जरूरी भी है। यह बात नयी रचना शुरू करने के सदर्भ मे ही नहीं, रचित के संशोधन और पुन-र्लेखन मे भी देखी जा सकती है। आप किसी प्रकाशक से पूछें कि व लेखक से प्रूफ कब

1. मुक्तिबोध रचनावली भाग-चार (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1980), पृ० 108।

पढवाता है तो वह कानो को हाथ लगाता हुआ नज़र आयेगा क्योंकि लेखक के हाथ में जाते ही प्रकाशित पृष्ठों में सुधार की बजाए परिवर्तन का खतरा कही ज्यादा बना रहता है। इसीलिए कई लोग यह सवाल उठाते हैं कि जो प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रहती है उसके ओर-छोर को शाब्दिक प्रतिपादन मे बाँधना क्या 'मक्खन के चाकू से मक्खन को काटना' नही होगा ?

3 2 फिर सभी रचनाकार किसी एक रचना की समाप्ति पर ही दूसरी का श्रीगणेश नही करते, बल्कि एकाधिक रचनाओं और विधाओं पर एक-साथ भी कार्यरत रहते हैं। ऐसी हालत में प्रक्रियाएँ परस्पर-प्रभावित होती हैं—नाटक में कविता और उपन्यास मे निबंध का आगमन हो सकता है। इसके अलावा रचनाएँ दिन, मास और वर्ष—कालावधि की किसी भी छोटी-बडी इकाई में लिखी जा सकती हैं। इस दौरान समाज-सास्कृतिक घटना-पटल पर कई दृश्य-परिवर्तन हो सकते हैं जिनकी वजह से अयात्मक सवेदन और इत्यात्मक प्रयोजन मे अन्तर का आना स्वाभाविक हो जाता है।

3 3 कभी लगता है कि रचनाकार फार्म की तलाश मे है और कभी लगता है कि शुरुआत ही फॉर्म के कारण हो रही है। कभी लगता है कि वह सिर्फ दिमाग से लिख रहा है और कभी लगता है कि संवेग-समुद्र मे गोते खा रहा है। कभी भाषा उसकी वशवर्तिनी और कभी वह भाषा के वशीभूत प्रतीत होता है। कभी उसकी अपनी राम-कहानी रचना मे ढली हुई प्रतीत होती है और कभी उसका लेखन दस्तावेज़ी होने का आभास देता है। मतलब यह कि कई तरह के अन्तर्विरोध भी रचना-प्रक्रिया को वैशिष्ट्य-सम्पन्न करते हैं।

3 4. ऐसी अनेक बातें हैं जो सब मिलाकर—जैसाकि पाल वैलरी[1] ने भी कहा है—रचना-कर्म को निहायत अनानुपातिक किस्म का व्यापार सिद्ध करती है और बहुत से लोग उसके क्रमबद्ध एवं तार्किक विवेचन को दुस्साध्य ही नही समझते, इस प्रयास पर फबतियाँ भी कसते हैं। अध्येता के सामने कृति एक शब्द-जगल बनकर रह जाती है; "रचना-प्रक्रिया का नाम लेते ही सब कुछ हाथ से फिसल जाता है।"[2] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि फिसलने वाली समस्याओं को विवेचना द्वारा पकड़ने और युक्तियुक्त समाधान तलाशने का प्रयास न किया जाए। रचना-प्रक्रिया की सश्लिष्टता और तात्विक अनानुपतिकता का प्रश्न उठाया ही इसलिए गया है कि इसमे सन्निहित अनेक मानसिक

---

1. पाल वेलरी, दि कोर्स इन पोइटिक्स, दि क्रिएटिव प्रॉसेस, सम्पा० घिसेलिन, पृ० 96।
2. निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति (नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1976), पृ० 15।

शक्तियो की सहप्रकार्यता को यात्रिक कारखाना न समझकर उन ब्रह्मवाक्यात्मक निष्कृतियों से बचा जा सके जिनमे आनम्यता और पुनरीक्षा के लिए कोई गुंजाइश नही होती।

4. रचना-प्रक्रियात्मक अभिज्ञान की उपयोगिता

जिस प्रकार सर्जनात्मकता स्वयं में एक निष्प्रयोजन कायिकी कभी नही होती, उसी प्रकार साहित्य-कर्मियों के लिए उसके सचेत अभिज्ञान की उपादेयता को भी निरस्त नही किया जा सकता। वास्तव मे रचनाकार, आलोचक-विश्लेषक और आशसक-पाठक, तीनों ही रचना-प्रक्रियात्मक समझदारी से लाभान्वित होते हैं। यह समझदारी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सही दिशा का निर्देश करती रहती है। चूँकि इस उपयोगिता के विरोध मे भी बहुत कुछ कहा जाता है, इसलिए यहाँ इन तीनो पक्षो मे इस पर विस्तार-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

4.1 रचनाकार के लिए उपयोगिता

आज जबकि रचनात्मकता और उत्पादकता को काफी पास-पास रखा जा रहा है, यह बात और भी विचारणीय हो गई है कि रचना-प्रक्रिया की जानकारी से रचनाकार व्यवहारत. उपकृत होता है या नही; यदि होता है तो किस अर्थ मे ? मनोविज्ञानी जोर देकर कहते हैं कि "कलाओ और विज्ञान की अन्वेषणात्मक प्रकृति मे सास्कृतिक घटना-विधान और चित्यात्मक प्रक्रियाओ का आधारभूत सादृश्य होता है।···अत लोग यदि उस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझ लें जिससे वे परिचालित रहते हैं तो उनकी रचनात्मक क्षमता मे प्रभूत परिवृद्धि हो सकती है।"[1] मनोविज्ञान के साथ समाज-शास्त्र इस बिंदु पर भी सहमत है कि उपयुक्त परिस्थितियाँ प्रदान की जाएँ तो किसी भी क्षेत्र मे व्यक्ति की रचनात्मकता सवृद्ध हो सकती है, जिसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि जागरूक रचनाकार उन परिस्थितियो के परिज्ञान द्वारा ऐसी पारिवेशिकता का अतिक्रमण कर सकता है जो उसकी सिसृक्षा को भोथरा करती है और उन सामाजिक कार्यभारो के साथ जुड़ सकता है जो उसे रचनाकर्म के लिए उकसाते है तथा उसकी सिसृक्षा परितृप्त होती है। अनेक साहित्यिक आन्दोलनों, मण्डलियों, लेखक-सघो और विचारधारात्मक मतवादो के प्रादुर्भाव का एक मुख्य कारण यह भी होता है।

रचना-प्रक्रियात्मक समझदारी रचनाकार के लिए आत्मान्वीक्षण और आत्म-तुलना का बिन्दु भी हो सकती है जहाँ खडा होकर वह एक तरह की असम्पृक्ति से अपनी रचनाओं के सघटकीय सन्तुलन पर विचार करने के अलावा उनके प्रभावशाली वितरण तथा समकालीन लेखन मे अपनी विशिष्ट पहचान के उपाय भी सोच सकता है। आखिर उसका तमाम कार्य तो अवचेतनात्मक होता नही, उसमें बहुत कुछ आयास-साध्य भी

---

1. विलियम जे०जे० गॉर्डन, साइनेक्टिक्स (न्यूयार्क, हॉपर एण्ड रो, *1961*) पृ० 5-6।

होता है; और सिमृक्षण की विज्ञान-सम्मत जानकारी कम-से-कम इस अंश को तो समृद्ध कर ही सकती है। उदाहरण के लिए यह मानी हुई बात है कि लिखना 'जानने' के बाद होता है—और इसी आधार पर सार्त्र[1] ने कहा भी है कि शुद्ध कला नाम की कोई चीज नही होती, यदि होती है तो शुद्ध कला और थोथी कला को पर्यायवाची मान लेना चाहिए—फिर भी लेखक द्वारा जो कुछ स्वभावत 'जाना' या प्रत्यक्षण से अनुभूत किया जाता है, वह सब-का-सब लिखा जाने योग्य नही होता। लेखक को उसमें से चयन करना पड़ता है, चयन के बाद सकेन्द्रण करना होता है, कल्पना की मुँहजोरी को रोकना होता है, अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता से दो-चार होना पडता है; और इस सब मे आयासात्मक परिज्ञान की भूमिका को नकारा नही जा सकता।

भारतीय काव्यशास्त्र भी कवि अथवा रचनाकार के लिए स्वकर्म-विषयक शास्त्र-ज्ञान को उपकारक मानता है। यह ठीक है कि वहाँ 'सारस्वत' होना उसके अस्तित्व की सर्वोत्तम शर्त है, मगर राजशेखर[2] जैसे कवि-मीमासको ने 'उभयकवि' को महत्व दिया है जिसमे 'शास्त्र-कवि' और 'काव्य-कवि' दोनो के सम्मिलित गुण होते हैं। इतना ही नही, *वह काव्य-रचना को काव्य-शिक्षा के साथ भी जोडते हैं जोकि विद्या-वृद्ध या* विद्वान गुरुजनो से प्राप्त की जानी चाहिए ताकि रचनाकार को अपने विषय-स्रोतो, आभिव्यक्तिक प्रयासो और रचना-सम्बन्धी अन्य बातों का समुचित अभिज्ञान हो सके। 'कविचर्या' के विवेचन मे उन्होने रचनापेक्षी रहन-सहन और दैनिक व्यवहार का विस्तृत उल्लेख भी किया है।

हमारे अभिमत-सग्रह मे इस विषय पर हिन्दी के समकालीन रचनाकारो की एकाधिक प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुई हैं। अधिकाश साहित्य-स्रष्टाओ ने, सीधे या किंचित परिवर्तन के साथ, प्रक्रियात्मक अभिज्ञान को रचना-कर्म के लिए जरूरी स्वीकार किया है। उमाकान्त मालवीय का विचार है कि "यह समझदारी लेखक, पाठक और आलोचक के पास यदि नही होगी तो गलत नतीजे निकाले जाने का खतरा बराबर बना रहेगा"—मतलब यह कि तीनों एक 'वेव लेंग्थ' पर नही आ सकेंगे। श्रीरजन सूरिदेव मानते हैं कि—"रचना प्रक्रिया मे स्वीकृत विषय का पूर्ण अनुभव और ज्ञान आवश्यक है। साथ ही रचना के क्षणो मे निर्बाध तल्लीनता अपेक्षित है। मेरा ख्याल है पाठक और आलोचक के लिए भी यही स्थिति अनिवार्य है। साधारणीकरण तो हर हालत मे चाहिए ही।" इस कथन से यह सकेत मिलता है कि रचना-प्रक्रिया की जानकारी से रचनाकार अतिरिक्त सवेदनशील तो नही हो सकता, मगर सवेद्य अनुभव को ज्ञानात्मक अवश्य बना सकता है जिससे उसका विश्वसनीय सामान्यीकरण होता है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने लिखा है कि रचना-प्रक्रिया का "एक सामान्य स्वरूप होता है जिसकी समझ

1 ज्याँ पाल सार्त्र, वट इज लिटरेचर (नार्थम्पटन, मेथुइन एण्ड कम्पनी, 1970), पृ० 16-17।

2 राजशेखर, काव्य-मीमासा, चतुर्थ, पंचम, अष्टम तथा दशम अध्याय।

ज़रूरी है।" राजेन्द्र यादव, कुबेरनाथ राय और सिद्धनाथ कुमार के अभिमत भी संक्षिप्त स्वीकृति-सूचक हैं। दूसरी प्रकार की प्रतिक्रिया उन सर्जक-साहित्यकारों की ओर से है जिन्होंने इस समझ की ज़रूरत या ग़ैरज़रूरत के नुक्ते को न छूकर, अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया की अवस्थाओं का उल्लेख किया है। इन अवस्थाओं में पर्याप्त समानता है और इनसे सिद्ध होता है कि ये रचनाकार अपने रचनाकर्म को विशुद्ध अवचेतन के हवाले न छोड़कर उसके प्रति जागरूक रहते हैं और यह जागरूकता उनके लिए उपकारक है। नरेन्द्र कोहली, महीपसिंह, मृदुला गर्ग, नरेन्द्र मोहन, राजेन्द्र किशोर और रवीन्द्र भ्रमर आदि के वक्तव्य इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए महीपसिंह का अनुभव है कि रचनाकार ने "जो कुछ सोचा होता है और जो कुछ लिखता है, उसमें अन्तराल रह जाता है। यह अन्तराल मुझे निरन्तर बेचैन रखता है। अपनी हर रचना में मैं अन्तराल को भरने की प्रक्रिया से गुज़रता हूँ।" तीसरी तरह के रचनाकारों को या तो अध्येता का प्रश्न ही अस्पष्ट प्रतीत हुआ है या फिर उनका कहना है कि इस विषय पर विचार करने की उन्हें कभी आवश्यकता नहीं पड़ी। ज़ाहिर है कि इनमें से कुछ लोगों को प्रक्रिया की विकसित जानकारी से परिचय नहीं है अथवा परिचय होने पर भी उसके प्रति लापरवाही का भाव है क्योंकि अपने सदर्भ में वह इन्हें अव्यावहारिक प्रतीत होता है। रमेश बक्षी ने बताया है कि—"मैं रचना शुरू करता हूँ और अन्तिम चरण पर छोड़ता हूँ, उसे पढ़ता भी नहीं।" गंगा प्रसाद विमल रचना-प्रक्रिया को "निहायत प्राइवेट किस्म की चीज़" मानते हैं जिसे "अभी तक व्यक्त करने की ज़रूरत नहीं पड़ी।" मुद्राराक्षस और जगदीशचन्द्र को बात-चीत का विषय स्पष्ट नहीं हो सका, लेकिन मुद्राराक्षस का यह कथन कि "लिखना मातृत्व की प्रक्रिया के समानान्तर अनुभव है" और उनकी 'साहित्य-समीक्षा परिभाषाएँ और समस्याएँ'[1] नामक पुस्तक से पता चलता है कि इस विषय में वह काफी प्रबुद्ध हैं। सर्जक-वर्ग की चौथी प्रतिक्रिया के अनुसार रचनाकार के लिए रचना-प्रक्रिया की समझदारी नितान्त गैर-ज़रूरी ही नहीं, रचनाकर्म में बाधक भी हो सकती है, हाँ आलोचक के लिए उपकारक मानी जा सकती है। रमेशचन्द्र शाह की धारणा है कि—"लेखक और पाठक के लिए रचना-रहस्य के बारे में बहुत ज़्यादा स्वचेतन होना न तो ज़रूरी है, न हितकर। आलोचक की जिज्ञासा का यह एक स्वाभाविक हिस्सा हो सकता है। हालांकि उससे आलोचना-कर्म में क्या मदद मिल सकती है, मैं नहीं जानता।" गिरिराज किशोर के अनुसार "ऐसा सोचना अपनी रचना को आरोपित करना होगा। जो पाठक और आलोचक सोचते हैं यदि उस पर रचनाकार अपनी शर्त आयद करना चाहता है तो उसे रचना के साथ पढ़ने की शर्तें भी छाप देनी चाहिए।" चन्द्रगुप्त विद्यालंकार मानते हैं कि ऐसे कोई सामान्य गुर नहीं

---

1. मुद्राराक्षस, साहित्य-समीक्षा : परिभाषाएँ और समस्याएँ (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1963), पृ० 11-29।

होते जिन्हें रचना में सहायक माना जा सके; "हाँ, अध्यापकों के लिए यह उपादेय हो सकता है" या फिर एक अंश तक आलोचकों के लिए।

इस प्रकार, प्रक्रिया की जानकारी द्वारा रचनाकार के उपकृत होने के सवाल पर मनोविज्ञानशास्त्रियों या अन्य शास्त्रकारों मे विशेष मतभेद नही है, मगर स्वयं रचनाकारों मे मत-वैभिन्य अवश्य है। हालाकि सीधा-सा सर्वविदित तथ्य यही है कि व्यक्ति जिस कर्म मे प्रवृत्त होता है उसे निष्पन्न करने की विधि का व्यावहारिक परिज्ञान उसके लिए लाभप्रद होता है और यदि उस ज्ञान को पर-साध्य-पुष्टता या शास्त्रीय प्रतिपादनो का बल मिल सके तो अपने कर्म के कारण, स्वरूप तथा प्रयोजन को समझने मे अधिक सहायता मिलती है; फिर भी इसका मतलब यह नही है कि रचना-विषयक किन्ही-सिद्धान्तो को जानकर रचनाकार बना जा सकता है या प्रशिक्षण द्वारा सृजन-गुण-शून्यता का निराकरण किया जा सकता है। निर्वीर्य व्यक्ति कामशास्त्र के गहन पुस्तकीय ज्ञान से भी प्रजनक नही बन सकता, मगर वीर्यवान् चाहे तो उससे दिशा-निर्देश लेकर अपनी क्षमता का सही इस्तेमाल और उसमे प्रयोगात्मक अभिवृद्धि कर सकता है। अत. यह लाजिम नही है कि हर रचनाकार को दूसरे रचनाकारो के अनुभवों अथवा विविध ज्ञानानुशासनो पर आधारित सिसृक्षण की विशिष्ट जानकारी हो; अपनी मानसिक संरचना और नैतिक दृष्टि के अनुसार वह चेतन-अचेतन के स्तर पर अपनी विधि का निर्धारण स्वय करता हुआ और शास्त्रीय परिज्ञान से अनभिज्ञ रहता हुआ भी उच्चकोटिक रचनाएँ देता रहा है। दूसरी ओर, गेटे से लेकर कॉलरिज और कॉलरेज से इलियट तथा उसके बाद तक; या संस्कृत मे कालिदास से लेकर हिन्दी मे अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, दिनकर, मुक्तिबोध और अनेक साठोत्तरी लेखकों तक ऐसे उदाहरणो की कमी नही है जिनमें रचना-प्रक्रिया की प्रबुद्धता अथवा सिद्धान्त-प्रतिपादन का प्रचुर परिचय मिलता है और यह निष्कर्ष निकालने मे दिक्कत नही होती कि ये रचनाकार इस जानकारी से अपने रचनात्मक प्रकार्य को समृद्ध करते रहे हैं।

इस संदर्भ मे, रचनाकार तथा शास्त्रकार की टकराहट के अन्तर्विरोधो को भी समझना होगा। यदि रचनाकार सचमुच मानते कि सिसृक्षण को जान लेने से रचना करने मे कोई गुणात्मक अन्तर नही आता तो उन्हे रचना-प्रक्रियात्मक परिचर्चा को कम-से-कम अपनी ओर से तो, दफना देना चाहिए था। लेकिन पिछले दशकों मे इस विषय पर लगातार तूल पकड़ती हुई बहस यह सिद्ध करती है कि उन्हे शिकायत प्रक्रिया को महत्व दिये जाने से नही बल्कि उसकी आरोपित और अपर्याप्त समझदारी से है। इसलिए कृतिकार के स्वातन्त्र्य, कृति की स्वायत्तता और रचनात्मक अनुभूति की तार्किक अप्रतिपाद्यता के नाम पर वे उसके प्रति वैज्ञानिक या शास्त्रीय उपागम की उपेक्षा करते रहे हैं। उन्हे यह गवारा नही कि उन्ही को उपजीव्य बना कर और वास्तविक रचनात्मक अनुभव से बाहर रहकर, कोई शास्त्र उन्ही के कर्तृत्व के उद्घाटन या नियम का दावा करे। परिणामत. शास्त्र को अपने हाथ मे लेकर उन्होंने प्रधानत. अपने हवाले से जो कुछ भी रचना-प्रक्रिया के विषय मे कहा, वह शास्त्रवादियों से उन्हे दूर करता गया।

दूसरी ओर अधिकांश शास्त्रवादी यह मानते रहे कि "सर्जक कलाकार या रसभोक्ता सहृदय कभी शास्त्रकार से समझौता नहीं कर सका है।...फिर भी शास्त्र-परिज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि उससे काव्य-विज्ञान में सहायता मिलती है।"[1] लेकिन जब सिद्धान्त और ज्ञान के आग्रही शास्त्र तथा अनुभव के आग्रही सृजन या रसापेक्षी आशंसा में संवाद ही नहीं तब सम्यक काव्य-परिज्ञान से किसको सहायता मिलेगी? जाहिर है कि किसी को भी नहीं। इसलिए जब हम कहते हैं कि रचना-प्रक्रिया की समझदारी से रचनाकार का उपकार होता है तब सिसृक्षा-विषयक सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को उसके साथ संवाद में देखना और रचना-कर्म को विस्तृत परिप्रेक्ष्य में पहचान सकना ही सर्वाधिक अभीष्ट होता है।

अनुभव यदि आदिम प्रकार का हो, अभिव्यक्त होने की कामना निबाध उत्कट हो और उपलब्धियों पर आँखें न जमी हो तो रचना कर्म की सचेत जानकारी रचनाकार के लिए महत्वपूर्ण नहीं होती। पुराने रचनाकार को इसकी जरूरत नहीं थी क्योंकि वह जगह-जगह बँटा हुआ आदमी न होकर सिर्फ रचना करने से मतलब रखता था और उसकी रचनात्मक अतिशयोक्ति को किसी तरह के कटघरे में खड़ा नहीं होना पड़ता था। लेकिन आज का रचनाकार एक बहुधधी और विभाजित व्यक्ति है। वह सम्पादक, समीक्षक, सगोष्ठीकार, भेंट-वार्ताओं का केन्द्र और कई ज्ञानानुशासनों का अध्येता इत्यादि भी है। कभी वह शब्दों की यन्त्रणा की बात करता है और कभी उन्हें पिस्तौल की तरह इस्तेमाल करने की; और ज्यादातर यह तो घोषणा करता ही है कि रचना-प्रक्रिया के माध्यम से वह इस सजटिल विश्व में अपनी पहचान तलाश रहा है। वह अपने ही पेशे के कुछ लोगों को सावधानी से स्वीकार-नकार भी रहा है और यह कदापि नहीं माना जा सकता कि इस सब में उसकी प्रक्रियात्मक समझदारी का हाथ नहीं है। रचना-प्रक्रियात्मक अध्ययन के विपक्ष में बोलने वाले निर्मल वर्मा तक का कहना है कि "रचना प्रक्रिया को लेकर यदि कोई बातचीत हो सकती है तो इतनी ही कि क्या उसकी चेतना लेखक के लिए कोई महत्व रखती है?"[2]

4 2. आलोचक के लिए उपयोगिता

रचना-प्रक्रिया की अर्जित और पाचित जानकारी रचनाकार के लिए भले ही कई अर्थों में जरूरी और हितकर न हो, मगर विश्लेषण तथा मूल्यांकन में प्रवृत्त विद्वान समीक्षक के लिए वह सभी अर्थों में अनिवार्य तथा उपादेय है। यह सवाल दूसरा है कि हिन्दी में 'भारतीय ज्ञान' और 'आयातित ज्ञान' के आग्रहों से मुक्त होकर इसकी बहुस्रोत-समृद्ध एवं संतुलित जानकारी रखने वालों की संख्या कितनी है, या रचना-प्रक्रिया का

---

1. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1974), पृ० 8-9।
2. निर्मल वर्मा, लिखने का कारण (दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज, 1978), पृ० 17।

बार-बार नाम लेने वालों की पकड़ कितनी प्रासंगिक और विज्ञानयुगीन है, लेकिन आलोचना यदि पुनस्सृजनस्तरीय साँझेदारी का नाम है तो उसकी सार्थकता हर हालत में आलोच्य की निर्माण-प्रक्रिया की अभिज्ञता और उसके साथ जुड़ने में होती है। यह ठीक है कि आलोचक का मुख्य कार्य रचनात्मक 'क्या' को खोलना है, लेकिन इस प्रयोजन की सिद्धि उस 'क्या' के पीछे कार्यरत 'कौन' के 'क्यों' और 'कैसे' का जवाब हासिल किये बिना नहीं हो सकती। अतः मिसृक्षण की सम्यक समझदारी से आलोचक के उपकृत होने का मतलब रचना को रचना की ऐनक से समग्रता में देखना है। "आधुनिक रचना के संदर्भ में समीक्षा या आलोचना के सामने कई चुनौतियाँ हैं, जिनमें सबसे प्रमुख है रचना को उसकी समग्रता में ग्रहण करना और उसी रूप में व्याख्यान करना। आलोचक की समस्या है कि वह रचना और रचनाकार के समग्र अनुभव में साँझेदारी कर सके और अन्यों के लिए ऐसा करना सम्भव बनाए।"[1] सही आलोचक समग्रान्वेषी होता है और चूँकि समग्रता का शतप्रतिशत उद्‌घाटन सम्भव नहीं; इसलिए उसकी ज्यादा-से-ज्यादा कोशिश होती है कि वह अनुभव को जितने भी अंश में खोले, उसका आधार समग्र परिदृश्यात्मक हो। कहने का मतलब यह है कि वह रचना को काट-काट कर नहीं देखता, बल्कि उसकी प्रक्रियात्मक अन्विति को ध्यान में रखकर, हर अवयव को अवयवी के पूरे प्रसंग में देखता है। अगर वह इस तथ्य को ध्यान में न रखकर, सिर्फ अक्रमबद्ध प्रभावों को व्यक्त करता है तो अप्रामाणिक हो जाने का खतरा उठाता है, और अगर पिष्ट-पेषित मानकों के परिवृत्त में घूमता है तो रचनात्मक अनुभव से छिटक कर सतही, 'तात्विक', आरोपित और अपर्याप्त होने के इल्ज़ामों को आमंत्रित करता है।

आचार्य शुक्ल से आज तक की हिन्दी-आलोचना में वही आलोचक नये और पुराने के बीच सेतुबन्ध करते हुए अधिकाधिक ग्राह्य दिखायी देते हैं जिन्होंने अपनी-अपनी दृष्टि के बावजूद समीक्षा में रचना-प्रक्रियात्मक पद्धति को स्वभावतः अपनाया है और काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या या पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान या दोनों के समन्वय से इस पद्धति को यथासम्भव समृद्ध किया है। शायद 'प्रक्रिया' शब्द भी हिन्दी-समीक्षा को शुक्ल जी का दिया हुआ है, जिसे अपनी विराट साहित्यिक समझदारी के अन्तस् में रखकर उन्होंने भावों, कल्पना और स्मृति आदि का सैद्धान्तिक प्रतिपादन भी किया और रचनाओं के कर्म का नव्योद्‌घाटन भी। यदि हम उनके इस सामान्य वाक्य को ही ध्यान से पढ़ें कि—"भावों की प्रक्रिया की समीक्षा से पता चलता है कि उदय से अस्त तक भाव-मण्डल का कुछ भाग तो आश्रय की चेतना के प्रकाशन (कॉनस) में रहता है और कुछ अन्तस्संज्ञा

---

1 रामस्वरूप चतुर्वेदी, नयी समीक्षा के सिद्धान्त और उनका विकास, आलोचना: प्रक्रिया और स्वरूप, सम्पा० आनन्द प्रकाश दीक्षित (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1976), पृ० 122।

के क्षेत्र (सबकांशस रिजन) मे छिपा रहता है"[1]—तो पता चल जायेगा कि किस प्रकार वह रचना-कर्म और उसके प्रयोजन के साथ जुड़े रहते हैं, और जुड़ने के इस क्रम मे अपने समय तक विकसित देशी-विदेशी सिद्धान्तो तथा स्वोद्भूत अवधारणाओ से निरन्तर उपकृत होते हैं। इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी भी इस तथ्य को अच्छी तरह हृदयगम कर चुके थे कि रचना की सही पड़ताल उसकी सिसृक्षात्मक समग्रता के सदर्भ ही मे सर्वाधिक विश्वास्य हो सकती है। इसीलिए उन्होने रचनाकार, वक्तव्य-वस्तु, कारीगरी और लक्ष्यीभूत पाठक—इन चारो के परिज्ञान को किसी पुस्तक की विवेचना के लिए परमावश्यक माना है।[2] आचार्य जी ने सिसृक्षा का स्वरूप-विवेचन करते हुए सकेन्द्रण, सकल्प, विनिवेशन, कल्पना, भाषा, छन्द (यूनिटी), आत्मदान, ज्ञातृसापेक्षता और निस्सगता आदि की व्याख्या भी की है जोकि मूलत रचना-प्रक्रिया के सघटक है।[3] अगर शुक्ल जी और द्विवेदी जी आज भी पुराने नही पड़ते तो इसीलिए नही कि वे रसवादी या मानवतावादी थे, बल्कि इसलिए कि रचना-कर्म की उन्हे अद्भुत सूझबूझ थी और इस सम्यक ईक्षा के कारण रचनाकार और पाठक दोनो को विश्वास से बाँध लेते थे। नीचे, हिन्दी के कुछ सुर्चाचत आलोचको की उक्तियाँ दी जा रही है जिनमे इस प्रक्रिया की सामान्य या विशिष्ट जानकारी को व्यावहारिक या सैद्धान्तिक आलोचना का *औज़ार बनाया गया है*—

- "किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय पहलुओ को ज्यो-का-त्यो चित्रित कर देना अथवा उस आन्दोलन की तात्कालिक प्रतिक्रिया मे कोई रचना प्रस्तुत कर देना, कवि की भावना और कल्पना का अधूरा ही आयास कहा जायेगा।···इस प्रक्रिया मे न तो कवि-कल्पना का पूरा पाचन हो पाता है, न *रचयिता के भावो के साथ उसके सास्कृतिक और साहित्यिक सामर्थ्य* का पूरा योग हो पाता है।···साहित्य वास्तव मे कवि की भाव-सत्ता के साथ उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का समाहार है।"[4]—नन्ददुलारे वाजपेयी।
- "कविता स्वप्न तो नही, किन्तु वह उसकी कुटुम्बिनी अवश्य है और दिवा-स्वप्नो के बहुत निकट आ जाती है। स्वप्न के उदय होने मे कुछ भीतरी

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, काव्य मे लोकमगल और माधुर्य, आचार्य शुक्ल . प्रतिनिधि निबन्ध, *सम्पा० सुधाकर पाण्डेय (नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1979), पृ० 106।*
2. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य-सहचर *(वाराणसी, नैवेद्य निकेतन, 1968)*, पृ० 8-9।
3. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, सिसृक्षा का स्वरूप . आत्मदान की व्याकुलता, 'आलोचना'-31, पृ० 14।
4. नन्ददुलारे वाजपेयी, आधुनिक साहित्य (इलाहाबाद, भारती भण्डार, सवत 2013) पृ० 23।

कारण होते हैं और कुछ वाह्य। साधारण प्रत्यक्ष (पर्सेप्शन) मे वाहरी सामग्री सवेदना (सेंसेशन) के रूप मे आती है किन्तु हमारी पूर्व-स्मृतियाँ आदि मिलाकर उस वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (कॉग्नीशन) और उसे निश्चित आकार-प्रकार देने मे सहायक होती हैं।"[1] —गुलाबराय

- "कला की रचना यान्त्रिक क्रिया अथवा शिल्प-नैपुण्य मात्र न होकर मानसी सृष्टि है—अर्थात् कलाकार की भावना या मानसिक विम्ब की सृष्टि है।" —नगेन्द्र

- "अज्ञेय की कविता आत्मान्वेषण की है और मुक्तिबोध की कविता आत्म-सशोधन की है, एक आत्मा को पहचानने में व्यस्त है और दूसरी इसे बदलने मे सलग्न। · मुक्तिबोध की कविता अधूरी है जो शायद पूरी से बेहतर है। इनकी कुछ कविताओं मे सृजन-प्रक्रिया बाधित होकर कवि-व्यक्तित्व को वनाने के काम तो आ जाती है, लेकिन काव्य-व्यक्तित्व बनने से रह जाता है।"[2] —इन्द्रनाथ मदान

- "ललित निवन्ध अन्तर्मुखी भावदशा की देन है।·· ललित निबन्धकार की सृजन-प्रक्रिया मे अनुभूति और अभिव्यक्ति के क्षण बहुधा साथ-साथ एव समानान्तर चलते है। अन्य गद्यात्मक विधाओं मे मनोतात्विक दूरी होती है। फलस्वरूप ललित निबन्ध की रचना-प्रक्रिया बहुत कुछ वेणुगीतो की रचना-प्रक्रिया से मिलती है।"[3] —रमेशकुन्तल मेघ

- "छायावाद के विपरीत नयी कविता मे जिस प्रकार रूप भाव-ग्रहण करता है, तथ्य सत्य हो जाता है और अन्तत अनुभूति निर्वैयक्तिक हो जाती है उसमें स्वय कविता की 'सरचना' मे भी गहरा परिवर्तन आ जाता है।··· औसत नयी कविता 'क्रिस्टल' या 'स्फटिक' की सघन सरचना के समान है।···स्फाटिक मे सब कुछ सरचना ही है, तत्व जैसी कोई चीज नही क्योंकि चरम-विश्लेषण मे अन्तत कुछ भी अलग से प्राप्त नही होता।"[4] —नामवर सिंह

---

1 गुलाबराय, सिद्धान्त और अध्ययन (दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्ज, 1955), पृ० 104-5।

2 इन्द्रनाथ मदान, मुक्तिबोध मूल्याकन परिचर्चा, 'आलोचना', अक 14, जुलाई-सितम्बर 1970, पृ० 2-3।

3 रमेश कुन्तल मेघ, क्योंकि समय एक शब्द है (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 1975), पृ० 333-34।

4 नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1974), पृ० 26-27।

- "वस्तुत कामायनी की संरचना अर्थ के विभिन्न स्तरों को समान रूप में महत्वपूर्ण धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाती। किसी लेखक को भाषा अपने समाज से मिलती है। उसकी अपनी भूमि और सीमा होती है। शैली लेखक का जीव मनोवैज्ञानिक पहलू है। वह भाषा और शैली में स्थित या कडिशन्ड होता है। यह स्थिति उसके इरादे से अतिक्रमित होती है। इसी के आधार पर लेखक पुनर्रचना करता है और प्रतिश्रुत होता है।"[1]

—बच्चन सिंह

उपर्युक्त उद्धरण भिन्न-भिन्न विचारधाराओं के समीक्षकों के लेखन में से लिए गए हैं लेकिन इनमें जो प्रतिमान उभर कर सामने आते हैं उनका संदर्भ सृजन और समीक्षा की एकात्मकता का है। अन्तर है तो केवल इतना कि कुछ पहले के समीक्षक सिद्धान्त-पक्ष की बात अधिक करते हैं और रचनाओं पर उन्हें कम घटाते हैं; जबकि अधिक आधुनिक लोग उसकी समझदारी का प्रयोग व्यवहार-पक्ष में अधिक करते हैं फिर भी इन सबसे एक बात स्पष्ट होती है कि समीक्षाधीन किसी भी सवाल का सार्थक जवाब रचना की प्रक्रियात्मक जमीन पर खड़े होकर ही हासिल किया जा सकता है; अतः इस जमीन का एक 'ब्लू प्रिंट' समीक्षक के पास अवश्य होना चाहिए। और वही औसत समीक्षक के पास नहीं होता।

यह सर्वविदित है कि हिन्दी आलोचना की स्वस्थ शुरुआत और उसके विकास में अध्यापकों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। लेकिन यह भी सच है कि बहु-सख्यक अध्यापकों ने जब समीक्षा को 'तात्विक' प्रकार के विवेचनों द्वारा प्रक्रिया से काट दिया, तब वह समीक्षक के हाथ से निकलकर रचनाकार के हाथ में चली गई और 'अध्यापकीय' या 'विश्वविद्यालीय' आलोचना का कसकर विरोध किया गया, जो अभी तक जारी है। आरोप यह लगाया जाता है कि इस तरह की आलोचना 'सृजनात्मक' नहीं है और '*कृति की अन्दरूनी शर्तों' पर आधारित भी नहीं। हालांकि अराजकता किसी जड़ वस्तु-स्थिति का हल नहीं होती, लेकिन रचनाकारों की शिकायत भी बहुत वाजिब है। हमने अपने अभिमत-संग्रह में हिन्दी के कुछ समकालीन रचनाकारों से इस शिकायत की वजह पूछी है।* लगभग सभी ने इस संदर्भ में आलोचक की 'रचना में समानान्तर हिस्सेदारी' के बिन्दु को रेखांकित किया है। उनका कहना है कि इसी आधार पर 'रागद्वेषहीन मूल्यांकन, पूर्वाग्रह या प्रतिबद्धता से रहित विषयाभिनिवेश' सम्भव हो सकता है। उनके अनुसार सर्जनात्मक कृति को उसी की अन्दरूनी शर्तों के परिप्रेक्ष्य में परखने या खोलने का मतलब है—

1 रचना-प्रक्रिया की, घनीभूत आत्मीय क्षणों में पैठ।

---

1 बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, 1978), पृ० 187-88।

2 बँधे-बँधाये पूर्वनिश्चित मानो से मुक्त होकर रचना को देखना।
3 रचना को पहचानने की विधि का उतना ही विकसित होना जितनी कि स्वय रचना।
4 'रिव्यू' के स्थान पर सम्यक् ईक्षा करना।
5 रचना को पूरी तरह पढकर बात को समझना।
6 कृति के मूल सवेदन-बिन्दु तक पहुँचना।
7 पूर्वनिर्धारित प्रश्नात्मकता की अपेक्षा-पूर्ति द्वारा दूसरो की बुद्धि के प्रति न्याय न करके उस कृति के प्रति न्याय करना जो, अपने सर्जक को परिभाषित करने की वजह से, अपेक्षा करती है कि सृष्टि से अधिक सृष्टा को समझा जाए और उसके प्रति न्याय किया जाए।
8 भिन्न देश-कालो मे रचित विभिन्न विधाओ की कृतियों की श्रेष्ठता के अन्तर को समझकर, एक की श्रेष्ठता को दूसरी पर लागू न करना, और श्रेष्ठता की कसौटियो को कृतियो के अपने कथ्य और शिल्प के भीतर से उभारना।
9. प्राचीन रस-सिद्धान्त और अलकार शास्त्र के मोहजाल मे नही, कृति की बुनावट के बीच स्वय को स्थापित करना।
10. लेखक ने जिस ससार की रचना की है, उसी के आधार पर कृति के आकलन का विकास करना।
11. कृति के आधार को ग्रहण करते हुए उससे परे झांकना, उसकी सवेदना, भाषायी बनावट और विधायक प्रतीको की समझदारी।
12. रचनाकार, उसके प्रेरणा स्रोतो और उसकी परिस्थितियो के अलावा उसके दृष्टिकोण को ध्यान से ओझल न होने देना, यह समझना कि आज की सौन्दर्यानुभूति भी अधिकाधिक विविध बन रही है।
13 "एक आदर्श आलोचक मे एक आदर्श पाठक" का होना। रचनाकार के उन्मुक्त जीवन-रूपान्तरण, अर्थात् रचना के जीवन के प्रति मुक्तमन आचरण करना, पूर्वाग्रहो को स्थगित रखना, पहले रचना मे पूरी तरह डूबना और फिर सम्पूर्ण डूबने मे से ही सम्पूर्ण उबरना, अन्त मे अपनी सामान्य जीवनानुभूति तथा सचित ज्ञान के आलोक मे तटस्थभाव से देख-दिखा देना।

उपर्युक्त अभिमतो मे रचनाकारो द्वारा आलोचक से मुख्यत. यह अपेक्षा की गयी है कि वह महज़ अकादमिक नजरिया लेकर आलोच्य से मूल्यवादी सुलूक न करे, बल्कि स्वयं को दूसरे नम्बर पर रखकर पहले उसके पास जिज्ञासा एव आशसा के भाव से जाए और फिर उसकी प्रक्रिया से अवगत होकर या उसका सहयात्री बनकर उसकी खूबियो-कमियो या केवल अर्थ दिशाओ का उद्घाटन इस तरह करे कि वह अजनबी प्रतीत न हो। इसके लिए जरूरी है कि किन्ही पूर्व-विवेचनाओ से प्राप्त निष्कर्षो या निकषो ही को आलोचना के दिशा-निर्धारक न होने दिया जाए (क्योकि तब आलोच्य आलोचना का

माधक बन जायेगा जबकि बात इसके बिल्कुल विपरीत होती है) बल्कि आलोच्य में से निष्कर्षों को स्वत स्फूर्त होने दिया जाए।

इस प्रकार रचना-प्रक्रिया की समझदारी पर आधारित समीक्षा की माँग करना वास्तव में एक प्रकार की स्थिर और यांत्रिक अर्थात् अकादमिक समीक्षा की अपर्याप्तता के स्थान पर गतिशील, स्थिति-सापेक्ष, आनम्य और स्वत.स्फूर्त समीक्षा की प्रत्याशा करना है। कोरे पाण्डित्य पर आधारित सिद्धान्ताग्रही या तत्व विवेचिनी आलोचना मे भावकता का क्षरण हो जाता है और चारित्र्यमूलक शील-दृष्टि आवश्यकता से अधिक मुखर हो उठती है। वह एक साँचा बनकर सब रचनाओ पर समान रूप से फिट होना चाहती है; और यही वजह है कि एक ओर तो वह पुनरावृत्त हो-हो कर नवलता से विमुख हो जाती है और दूसरी ओर जो रचनाकार उसके घेरे में नही समा पाते उन्हे वह अवरकोटिक समझ बैठती है। हिन्दी मे तुलसीदास और मैथिलीशरण गुप्त का प्रशस्ति-गान और प्रयोगवाद या नये कवि के प्रति अमित्रभाव की अभिव्यक्ति इस वजह से भी हुई है। प्रक्रिया की समझ रखने वाली आलोचना तुलसी की प्रतिभा को भी श्रेय देगी मगर यह व्याख्या भी करेगी कि किन ऐतिहासिक शक्तियों के कारण और सस्कृति के किस मोड पर तुलसी जैसे रचनाकारो का उदय होता है और पूँजी तथा औद्योगिकता किस मशीन-प्रधान युग में मुक्तिबोध का आविर्भाव। प्रबंध काव्यत्व की विधा को अपनाना क्यों तुलसी की रचनाप्रक्रियात्मक विवशता थी और 'अँधेरे मे' लम्बी कविता का फॉर्म क्यो मुक्तिबोध की रचनाधर्मिता मे अपने-आप अन्तर्विष्ट होता है। तुलसीदास भी वाणी के विनायकत्व से अभिप्रेरित थे और मुक्तिबोध भी। लेकिन वाणी और विनायकत्व की एक ही परिभाषा को लेकर दोनो के साथ न्याय करने वाली आलोचना को रचनाओ की प्रक्रिया और रचनात्मक व्यक्तित्व की पहचान नही हो सकती।

इसी प्रकार साँझा करने वाले आलोचक और अकादमिक आलोचक की भाषायी समझदारी मे भी अन्तर होना स्वाभाविक है। साँझा करने वाला आलोचक जानता है कि भाषा किसी रचना के अस्तित्व की कायिक शर्त मात्र या रचनाकार की बाह्य सम्पदा नही होती कि शब्दों को ईंटो की तरह उठाकर कभी कविता और कभी उपन्यास या नाटक की इमारत खड़ी कर दी जाये, उसके लिए तो वह रचनात्मक प्रकृति का स्वोद्भूत, मुख्य और आन्तरिक संघटक होती है जिसमे शब्द न अच्छे-बुरे होते है और न उनका कोई दूसरा विकल्प होता है। अत अकादमिक आलोचक की तरह न तो वह भाषा को रचना के आभ्यन्तर से काटकर देखता है, न उसकी श्लीलता-अश्लीलता पर चिन्ता व्यक्त करता है, न शब्द-सम्पदा की कमोबेशी की बात करता है, न तत्समों-तद्भवों की, न व्याकरणिक असगतियो की ओर न उपमा-अलकारों की। वह भाषा को कृत्यात्मक सरचना मे रक्तचापित सश्लिष्ट-स्नायुतंत्र की तरह देखता है और आलोचना के 'एक्स-रे' से उनके अर्थ-वास्तव को दिखाता है। इसी क्रम मे वह रचनाकार के व्यक्तित्व, उसके परिवेश और युग की मानसिकता की पहचान कराने का प्रयास भी करता है और अपने विचारो का सैद्धान्तिक उपस्थापन भी। इधर यदि नयी आलोचना की अपनी भाषा मे

एक तरह का सपाटता-विरोधी बदलाव आया है और रचना की अर्थ-निष्पत्ति को समीक्षा-बिम्बों से पकड़ने की प्रवृत्ति ने जोर मारा है तो इसका मुख्य कारण सृजनानुभव के अधिकाधिक निकट जा सकने की कामना है। इसके पीछे यह मान्यता है कि—"समीक्षा केवल साहित्यिक रचना की व्याख्या नहीं है, वह प्रत्येक सृजन और उस मानसिक क्रिया से सम्बन्ध रखती है जिसने किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति पा ली है।...हमें यह ध्यान रखना होगा कि साहित्य जीवन-प्रसूत है और यदि हम समीक्षा के साथ न्याय करना चाहते हैं तो हमें उस पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में उतरना होगा जो स्वयं कृतिकार के लिए आवश्यक होती है।"[1]

जिस तरह वास्तविक जीवन से उपज कर भी प्रत्येक कलाकृति का अपना एक पृथक जीवन होता है; उसी तरह आलोचना कृति-केन्द्रित होकर भी आलोचक की आशंसा-शक्ति, अनुक्रियात्मक सामर्थ्य, जीवन-दृष्टि और अवधारणात्मक चिन्तना के सम्मिलित स्तर पर आलोच्य से भिन्न होती है। इसीलिए नार्थ्रोप फ्राइ ने इस बात पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है कि आलोचक परजीवी (पैरासाइटिक) नहीं होता। वैसे उनका यह निष्कर्ष काफी सन्तुलित है कि "आलोचना के अभिगृहीत (एक्सिअम्स) और अभ्युपगम (पास्चुलेट्स) आलोच्य कला ही में से विकसित होते हैं...फिर भी वह विचार और ज्ञान की ऐसी संरचना है जो आलोच्य कला से किसी-न-किसी मात्रा में स्वतन्त्र अवश्य होती है।"[2] अतः आलोचना की प्रक्रिया को समृद्ध एवं प्रामाणिक बनाने के संदर्भ में ही आलोचक की रचना-प्रक्रियात्मक जानकारी सहायक होती है। इसका मतलब आलोचक की स्वतन्त्रता का हनन नहीं होता।

उपर्युक्त समीक्षात्मक समझदारी कई स्रोतों से हासिल की जाती है। कुछ लोगों की भ्रान्त धारणा है कि रचनाकारों के साक्ष्य के अलावा इसका कोई अन्य विकल्प नहीं होता। रिल्के, ई० एम० फॉस्टर और ब्लूम्स्बरी आदि हमेशा यही मानते रहे कि आलोचना कभी सृजन को समझ नहीं सकती; क्योंकि एक तो उपचेतन प्रधान होने के कारण तमाम साहित्य अनामत्व (एनॉनिमिटी) की ओर झुकाव रखता है और दूसरे, भौतिक जगत में सिर्फ कलाकृतियाँ वे वस्तुएँ हैं जो अपनी भीतरी व्यवस्था द्वारा निर्धारित होती हैं, इसलिए हर चीज को नाम देने, और प्रत्येक व्यवस्था को बाह्य संदर्भ में देखने वाला असर्जक आलोचक किसी रचनाकार और उसके रचना व्यापार तक ठीक ढंग से नहीं पहुँच सकता।[3] वास्तव में ये लोग प्रकारान्तर से कला को कला के लिए मानते हैं और भूल जाते हैं कि रचनाकारों के वक्तव्य भी जाँच-पड़ताल के बिना

1. प्रेम शंकर, समीक्षा और सृजन, आलोचना : प्रक्रिया और स्वरूप, सम्पा० आनन्द प्रकाश दीक्षित (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लि० हाउस 1976) पृ० 23।
2. नार्थ्रोप फ्राइ, अनाटॉमी ऑफ क्रिटिसिज़्म (प्रिंस्टन, यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973) भूमिका
3. मार्क गोल्डमैन, दि रीडर्ज़ आर्ट (पैरिस, माउटन, 1976) पृ० 91-92।

स्वीकार नही किए जा सकते। आलोचक यदि उन्हे सामग्री के तौर पर इस्तेमाल करता है तो पडताल की प्रक्रिया मे से गुजरने के बाद ही। कलात्मक सृजन जीवन की विशाल सृजन-प्रक्रिया का ही अनुषग होता है, वह कोई ऐसी नितान्त बीहड़ और गुह्य व्यवस्था नही है कि जीवन के नियमो से उसे देखा न जा सके। दर्शन, विज्ञान और कई प्रकार के शास्त्र जीवन का निर्माण नही करते मगर जीवन-विषयक हमारी समझदारी को निरन्तर विकसित करते हैं। इसलिए आलोचक सिर्फ रचनाकारो के साक्ष्य ही से रचना-प्रक्रिया की सामग्री न लेकर इन शास्त्रो को भी अपनी जानकारी का स्रोत बनाता है। इसके अतिरिक्त अपने कर्म के निरन्तर अभ्यास और समस्या-चिन्तन तथा बहुत सी कृतियों को पढ़ने के क्रम मे, आलोच्य कलाकृति की रचना प्रक्रिया के विषय में उसकी एक अपनी अन्तर्दृष्टि का उद्भव होता है जो किसी भी बाहरी जानकारी से ज्यादा महत्वपूर्ण होती है।

वास्तव मे सार्थक सृजन और सही आलोचना सदैव एक-दूसरे के उपकारक और पूरक होते हैं। इसमे सन्देह नही कि साहित्यिक विधाओ के ऐतिहासिक क्रम में सृजन को वरीयता एवं प्राथमिकता मिलती है, और यह भी कहा जाता है कि सृजन के अस्तित्व की वजह से आलोचना अस्तित्व मे आती है, आलोचना की वजह से सृजन का होना निर्धारित नही होता। लेकिन सचाई तो यह है कि हर सर्जक मे एक आलोचक और हर आलोचक मे एक सर्जक विद्यमान रहता है। जैसा कि आनर्ल्ड और प्रेमचन्द ने माना है, प्रेरणा एव प्राप्तव्य के बिन्दुओ पर सम्पूर्ण रचनात्मक साहित्य जीवन की आलोचना होती है। इसलिए आलोचना को कृत्यात्मक अनुभव का पुनस्सृजन ही नही, आलोचना की पुनरालोचना भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से *आलोचना और रचना की प्रक्रिया* मे अद्भुत अन्तर्निर्भरता दिखायी देती है। एक ही व्यक्ति में दोनो कर्मो की उपस्थिति को पहचान लेने से बात और भी साफ हो जाती है। हिन्दी ही का उदाहरण ले तो आचार्य शुक्ल, पण्डित द्विवेदी, डा० रामविलास शर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० मदान, डा० नामवर सिंह, डा० बच्चनसिंह, डा० मेघ, नेमिचन्द्र जैन और अनेक प्रतिष्ठा-सम्पन्न समकालीन समीक्षको ने स्वय कभी-न-कभी और किसी-न-किसी विधा मे रचना-कर्म भी किया है। दूसरी ओर भारतेन्दु से लेकर आज तक शायद ही कोई ऐसा स्वनाम-धन्य रचनाकार होगा जिसने अपनी पत्रकारिता, अपनी भूमिकाओं, स्वतन्त्र समीक्षा-पुस्तको या अपने स्फुट लेखन मे आलोचना-प्रवृत्ति का सार्थक परिचय न दिया हो। इस-लिए कभी-कभार अगर महामहिम चेखव जैसे रचनाकार यह शिकायत करते हुए दीख जाये कि—*"आलोचक गुड़-मक्खियो की तरह होते है, जो हल चलाने वाले घोड़ो के* काम में बाधा डालती है"[1]—तो समझ लेना चाहिये कि यह एक व्यग्य है, उन समीक्षको पर जो रचनाकार और उसकी प्रक्रिया की समझदारी के बिना भी दनदनाते हैं। टी० एम० इलियट ने लिखा है—"मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि एक प्रशिक्षित और

---

1. मेक्सिम गोर्की, ऑन लिटरेचर (मास्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्ज, अनिर्दिष्ट) पृ० 280।

निपुण कलाकार द्वारा अपनी रचना में इस्तेमाल की जाने वाली आलोचना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण और सर्वोच्च प्रकार की आलोचना होती है। कुछ सर्जक साहित्यकार इसीलिए दूसरों से उत्तम होते हैं क्योंकि उनकी समीक्षा-शक्ति बेहतर होती है। कलाकार के समीक्षात्मक औजारों को यह कहकर नकारने की आम आदत-सी बन गयी है कि अचेत-मनस्क कलाकार ही महान कलाकार होता है। ऐसा कहने वाले उसकी ध्वजा पर अचेतनत यह अंकित कर जाते हैं कि वह बेतरीके से जैसे-तैसे पार लगता है।"[1]

4.3 आशंसक के लिये उपयोगिता

रचना-प्रक्रिया की जानकारी से आशंसक या सहृदय का भी उपकार होता है, लेकिन यह स्वीकार करने के लिए हमें सामान्य पाठक और प्रबुद्ध आशंसक में अन्तर करना होगा। यह भी समझना होगा कि संस्कृति में परिवर्तन के साथ जहाँ रचनाकारिता के स्वरूप में परिवर्तन होता है वहाँ आशंसन की अपेक्षाओं में भी विशेषज्ञता-परक बदलाव आता है जिसके परिणामस्वरूप आज की हर रचना हर पाठक के लिए आशंस्य नहीं है। सी० डी० लीविस ने इलियट की विश्व-प्रख्यात और सजटिल कविता 'वेस्टलैंड' के संदर्भ में इस प्रश्न को उठाया है। उनका कहना है कि आधुनिक रचना में सार्वभौम प्रकार के सम्प्रेषण का यदि क्षरण हुआ है और उसकी समझदारी यदि विशिष्ट-ज्ञान-प्राप्त पाठक तक सीमित हुई है तो—"इस शिकायत से इनकार नहीं किया जा सकता। लेकिन किसी कविता के सीमित पाठकों का होना भी उस सांस्कृतिक अवस्था का एक लक्षण है जिसने ऐसी कविता को उत्पादित किया है।...इसका मतलब यह हुआ कि हमारे युग में रचितव्य कलाकृति में भी एक तरह की ससीमता होगी ही। इन हालात में शायद शेक्सपियर भी 'सार्वभौम' जीनियस न हो सकते।...लेकिन ऐसी सीमाओं पर कुछ आवश्यकता से अधिक बल दिया जाता है। 'वेस्टलैंड' के लिए जिस पाठकीय 'विशिष्टज्ञान' की बात की जाती है वह आधुनिक कविता के पाठक-समुदाय में पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है।"[2]

तात्पर्य यह है कि नये साहित्य की रचना-प्रक्रिया में अगर संवेदना, अभिव्यक्ति और प्रयोजन आदि के स्तर पर ऐसा अन्तर आया है जो परम्परात्मक साहित्य की तुलना में विशिष्ट पाठकीय चेतना की माँग करता है तो उसके साथ ही ऐसा पाठक-वर्ग भी उपजा है जो वांछित प्रक्रिया की जानकारी के द्वार से रचना में प्रवेश करने की स्वाभाविक योग्यता रखता है। मिसाल के तौर पर मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्मराक्षस' का आशंसन उसके प्रतीक-विधान और बिम्ब-निर्माण को खोल कर ही किया जा सकता है। यह एक आयास-साध्य काम है जो सिर्फ हाव-भाव और कविता के साक्ष्य से नहीं बल्कि आशंसन

---

1 टी०एस० इलियट, सिलेक्टिड एस्सेज (लन्दन, फेबर एण्ड फेबर, 1959) पृ० 18।

2 एफ० आर० लीविस, न्यू बियरिंग्ज इन इंग्लिश पोइट्री (मिडिलसेक्स, पेंगुइन, 1976), पृ० 80-81।

की मुहारत और मुक्तिबोध-साहित्य के अतिरिक्त अध्ययन से प्राप्त पिछले चेतनाचेतन-संचित ज्ञान की सहायता से सम्पन्न होता है। इस कविता के अध्ययन में प्रवृत्त होते ही 'ब्रह्मराक्षस' शब्द पाठकीय जिज्ञासा का विषय बनता है। जिस पाठक के संस्कार में मुक्तिबोध की कहानी 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' होगी और जिसने उनकी 'काव्यात्मन फणिधर' तथा 'अँधेरे में' आदि कविताओं के अनुभव को स्मृति में सजो रखा होगा, उसे समझने में देर नहीं लगती कि निष्क्रिय बौद्धिकता या व्यवहार-निरपेक्ष पाण्डित्यपुंज के प्रति असंतोष का भाव परिवर्तनकामी मुक्तिबोध की रचना-प्रक्रिया का प्रस्थान-बिन्दु है। उसके सामने, इस कविता के माध्यम से मुक्तिबोध का पूरा काव्य-व्यक्तित्व मुखर हो उठता है और वह जान जाता है कि मुक्तिबोध अपनी रचना-प्रक्रिया के संवेदनात्मक चरण पर ही काव्य-प्रयोजन का निर्धारण कर लेते हैं, फिर उस पर कई हवालों से चिन्तन-मनन करते हैं, कल्पना की फन्तासी में पिघलाते हैं और हर हालत में विचार को कर्म का संकल्प देकर तनाव से मुक्त होते हैं। इस तरह मुक्तिबोध की कविता उस पाठक की माँग करती है जो उनकी काव्य-प्रक्रिया की जानकारी रखता हो, यदि नहीं रखता तो उसे रखने के लिए मजबूर करती है। यह बात सभी प्रकार के औसत नये साहित्य पर लागू होती है—जो पहली नज़र पर ही पाठक के सामने अनावृत होना नहीं चाहता। 'मुक्ति-प्रसंग,' 'लालटीन की छन' और 'ताँबे के कीड़े' को यदि 'मधुशाला' और 'निर्मला' की तरह बने-बनाये बहु-संख्यक पाठक या दर्शक नहीं मिलते तो इसकी सबसे बड़ी वजह है कि ये रचनाएँ चाहती हैं कि पाठक अपनी पूरी विशिष्टता के साथ चलकर इन तक पहुँचे और इन्हें पा लेने का दम्भ नहीं, टटोलने का आनन्द हासिल करे।

प्रबुद्ध आशंसक पेशेवर आलोचक तो नहीं होता लेकिन रचनाओं को पड़ी-पड़ी नहीं, उठाकर देखने की परिदृष्टि अवश्य रखता है। उसमें रचनात्मक अनुभव से सम्पृक्ति और असम्पृक्ति, दोनों की क्षमता होती है। सम्पृक्ति मूलप्रावृत्तिक और संस्कारजन्य अधिक होती है जबकि असम्पृक्ति शिक्षा एवं आयास से अर्जित प्रधर्म होता है जिसे अतिशय आत्मनिष्ठता से बचाने के लिए प्रक्रियात्मक जानकारी उपकारक हो सकती है। इससे उसमें सहभोक्ता होने के साथ-साथ प्रेक्षक होने की गुणवत्ता का विकास होता है। दूसरे शब्दों में यह समझदारी उसके सौन्दर्यबोधात्मक अन्तर को बनाये रखती है और सम्यक भावन के लिए अपेक्षित अजनबीकरण की सहज शक्ति प्रदान करती है। ब्रेख्त ने अपने नाटकों के लिए इसी तरह के दर्शकों की कल्पना की है जो नाट्यानुभव को रचा-पचा कर अपनी टिप्पणी-समेत व्याख्यायित भी कर सकते हैं। इसलिए रमेश कुन्तल मेघ जब 'काव्यानुशीलनाभ्यासजन्य' के हवाले से आशंसा को 'अभिरुचि की शिक्षा' मानते हैं तब उसे तादात्म्य स्थापित करने की प्रक्रिया ही के संदर्भ में देखते हैं। "आशंसा में व्यक्ति-स्वभाव, वैयक्तिक रुचि, वैयक्तिक साहचर्यादि के साथ-साथ शिक्षा का भी योग होता है। इस शिक्षा का कार्य मूल्यांकन न होकर अभिरुचि-परिष्कार तथा कलाकृति से तादात्म्य स्थापित करना है।...आशंसा के दो प्रकार हो सकते हैं पहला, सहृदय या आशंसक जिस ढंग से कलाकृति से प्रतिबद्ध होते हैं, दूसरा, आशंसक को जिस ढंग से कलाकृति से

प्रनिबद्ध 'होना चाहिए'। दोनों प्रकारों में क्रमशः अभिरुचि और अभिरुचि समेत शिक्षा का संयोग है। दोनों ही ध्यान-योग के प्रेयस तथा श्रेयस रूप हैं।"[1] मिगृक्षण की जानकारी आशसक को प्रेयस की पहचान और श्रेयस का रास्ता दिखाती है है जो उसे आस्था के संवेग-द्वारसे नही, प्रक्रिया के द्वार से रचना में प्रवेश करने की प्रेरणा देती है।

रचना-प्रक्रियात्मक जानकारी आशसत की अनिवार्य शर्त न होकर उसका एक उपकारक तत्व है। वैसे ही जैसे हरी पत्तियो पर ठहरी हुई ओस से पुलकित होने के लिए यह जानना जरूरी नही होता कि ओस कहाँ से आती है; लेकिन पता चलने पर हम उसे एक व्यापक भीगेपन मे स्थापित करते हैं।

अतिसामान्य श्रेणी का पाठक केवल रसार्द्र या भावोद्वेलित होने के लिए लोकप्रिय प्रकार के कथा-साहित्य या गीत-गजल आदि को पढ़ता है। इससे उसका समय कटता है, मनोरजन होता है और उसे एक ऐसे लोक मे पलायन करने का अवसर मिलता है जहाँ वास्तविक जीवन के अधूरे मनोरथ कुछ देर के लिए काल्पनिक पूरेपन से बहलाने लगते हैं। गम्भीर रचनात्मक साहित्य में, जिसके निगूढार्थ-प्रकाशन के लिए विशिष्ट ज्ञान या आलोचक-दुभाषिये की जरूरत पड़ती है, उसे दिलचस्पी नही होती। दृश्य परिणतियो के अदृश्य व्यापार के प्रति वह विशेष जिज्ञासा नही रखता। उसकी पाठकीय चेतना आस्वाद सीमित होती है और रचना की निर्माण-प्रक्रिया को जानकर प्रबुद्धतर होना उसके स्वभाव मे शामिल नही होता।

5 रचना-प्रक्रियात्मक अध्ययन के उपागम

रचना-प्रक्रिया की अर्थ-व्यजना, सामान्य-स्वरूपता, सश्लिष्ट प्रकृति और उसके अभिज्ञान की उपयोगिता से परिचित होने के उपरान्त जब हम इस प्रश्न का सामना करते हैं कि उसका अध्ययन किस प्रकार किया जा सकता है तब हमारे समक्ष दो रास्ते विकल्प-स्वरूप खुलते है। सुविधा के लिए एक को सैद्धान्तिक उपागम और दूसरे को व्यावहारिक उपागम कहा जा सकता है। उपागम का चयन अध्येता के प्रयोजन पर निर्भर करता है।

5.1 सैद्धान्तिक उपागम

सैद्धान्तिक उपागम मे कलाकार से शुरू होकर कलाकृति तक अर्थात् रचनात्मक अनुभूति से सम्प्रेष्य की ओर गमन किया जाता है। जब अध्येता का प्रयोजन किसी एक रचनाकार को समझने की बजाए सभी रचनाओ और रचनाकारो की रचना-प्रक्रिया का सामान्यीकृत व्याख्यान करना होता है अर्थात् जब वह किसी सामान्य सैद्धान्तिकी को

---

1. रमेश कुन्तल मेघ, अथातो सौन्दर्य-जिज्ञासा (दिल्ली, मेकमिलन कम्पनी, 1977), पृ० 146-47।

प्रस्तावित करना चाहता है तब विवेचन का यही रास्ता अपनाता है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यशास्त्रीय रचना-प्रक्रियात्मक उत्पत्तियो के केन्द्र मे सर्वत्र रचनाकार ही दिखायी देता है। रचना-प्रक्रिया का सर्वाधिक विश्लेषण मनोविज्ञानियों ने किया है लेकिन उन पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि वे रचनाकार की मानसिकता में आवश्यकता से अधिक उलझकर रचना को लगभग विस्मृत कर देते हैं। इसके विपरीत मनोविज्ञानियो का कहना है कि एक तो सर्जनात्मकता की प्रव्यक्ति सिर्फ कलाकृतियो के रूप मे नहीं, किसी भी नये विचार या उत्पादन की शक्ल मे हो सकती है और दूसरे जिसे हम कलाकृति कहते हैं वह वस्तुत किसी कर्ता के कृत्य-विशेष ही की परिणति होती है, अत मुख्य बात कलाकार की रचना-यात्रा की प्रकार्यशील अवस्थाओ के अध्ययन में है—वे आधारभूत अवस्थाएँ जिनमें से लगभग हर कलाकार गुजरता है। वैसे भी दुनिया भर की अनेक कलाओं की अनेक विधाओं मे रचित असंख्यातीत कलाकृतियो को अध्ययन का प्रस्थान-बिन्दु बनाकर रचना-प्रक्रिया की सामान्य प्रत्यवसित व्याख्या करना असम्भव कार्य हो जाता है। इसलिए सैद्धान्तिक उपागम मे हमेशा कार्य के कारण-द्वार से परिणाम की समझदारी प्राप्त की जाती है, कर्तृत्व के माध्यम से कृतित्व को उद्घाटित किया जाता है। इसमें कर्तृत्व की व्यक्ति-स्तरीय बारीक भिन्नताओ को या तो महत्वहीन समझ कर छोड़ दिया जाता है या फिर कुछ समानोपलब्ध भिन्नताओं को एक उपवर्ग में रखकर उनका निर्विशेषीकरण कर दिया जाता है। इस उपागम से प्राप्त निष्कर्ष ऐसे होते हैं जो न्यूनाधिक मात्रा मे सार्वत्रिक सहायता के सदर्भ बन सकते है।

5 2 व्यावहारिक उपागम

जब अध्येता का प्रयोजन रचना की प्रक्रिया का सिद्धान्त-निरूपण नहीं बल्कि आलोचक या प्रबुद्ध आशमक के रूप में उसको किसी विशेष रचना के सदर्भ ही मे उद्घाटित करना होता है तब वह व्यावहारिक उपागम को अपनाकर कलाकृति के रास्ते से कलाकार की मानसिकता तक पहुँचता है। हालांकि रचना-प्रक्रिया की सैद्धान्तिक जानकारी भी उसके ज्ञान-भण्डार मे सचित हो सकती है, फिर भी वह उसका इस्तेमाल कृति की व्याख्या के अप्रस्तुत औजार के तौर पर ही अधिक करता है। इस उपागम मे रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण तथ्यों का विवेचन अध्ययनाधीन रचना को केन्द्र मे रख कर किया जाता है। एक ही रचनाकार की किसी एक रचना या एकाधिक रचनाओ पर आधारित उसके सम्पूर्ण कृतित्व की प्रक्रिया का विश्लेषण, या किन्हीं दो रचनाओ की रचना-प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन प्राय इस व्यावहारिक उपागम द्वारा अर्थात् कृतियो के माध्यम से किया जाता है। कृति के माध्यम का मतलब शब्द और अर्थ का माध्यम है जिसमे अनिर्वचनीयता, अतिशयोक्ति और अर्थ-भ्रान्तियो का महत्वपूर्ण स्थान होता है। अध्येता को इस उलझे हुए अभिव्यक्तिक प्रक्रम को सुलझा कर ही रचनाकार के आत्म तक पहुँचना होता है क्योंकि कृति का कथ्य-अनेक विवादास्पद व्याख्याओ के बावजूद, मूलत. रचनाकार प्रतिबिम्बित आत्म-कथ्य ही कहा जा सकता है। अत. कृति

के सभार मे रचनाकार के आत्म-संसार तक पहुँचने के लिए कृति के कूटों को—अर्थात् मिथकों, भाषायी सकेतों, चिह्नों, बिम्बों; प्रतीकों और रूपकों इत्यादि को खोलना होता है। यही वे रूपान्तरक हैं जो रचनाकार के अनुभव-लोक मे बारीकी से झाकने का अवसर प्रदान करते हैं। ये प्राय बहुकालिक न होकर समकालिक होते हैं और इनकी समुचित पहचान द्वारा रचनाकार के युगीन सदर्भों, तनाव के बिन्दुओं, दार्शनिक सिद्धान्तों, सदेशों और आशयों को समझते हुए उसके प्रारम्भिक ज्ञान-सवेदनों तक पहुँचा जा सकता है।

चूँकि कृतियाँ पारदर्शियाँ न होकर रूपान्तररितियाँ होती हैं, इसलिए कृति की ओर से रचना-प्रक्रिया की व्याख्या करना आसान कर्म नही होता। ऐसा करते समय हमे बार-बार प्राक्कल्पनाओं और प्रभावों का सहारा लेना पड़ता है जिनकी तर्कसम्मत सम्पुष्टि के बिना हमारे निष्कर्ष कपोल-कल्पित और निराधार सिद्ध हो सकते हैं। ज्यादातर आलोचक इस आशंका से बचने के लिए कृतिकार के जीवन की छोटी-बड़ी घटनाओं का हवाला देकर अपनी तथाकथित 'खोज' का ढिंढोरा पीटते हुए दिखायी देते हैं। वे भूल जाते हैं कि ये छोटी-बडी घटनाएँ एकल रूप में महत्वपूर्ण न होकर रचनाकार के जागतिक द्वन्द्व की समग्रता सम्मिलित तौर पर निर्धारण करती हैं। मिसाल के तौर पर महादेवी के काव्य मे 'दीपक', 'बादल' और 'रात' आदि के बिम्बों की पुनरावृत्ति ने उनके आलोचकों को, रचना-प्रक्रियात्मक सवेदना की दृष्टि से, दो ध्रुवान्तों पर खड़ा कर दिया है। एक वर्ग ने यदि उन्हें मीरा से भी बडी साधिका मानकर उनके सहज मानवी होने के अधिकार की अवहेलना की है तो दूसरे वर्ग ने फ्रायड की सारी पोथियों की गवाही से उनकी रचनाओं को नर-सम्पर्कहीनता की अभावात्मक मन स्थिति की उपज करार दिया है।

दोनों बातें बहुत बेढंगी हैं और रचना की प्रक्रिया से दूर का भी वास्ता नही रखती। महादेवी न 'आधुनिक मीरा' हैं और न काम-कुण्ठाओं से पलायन करने वाली कवयित्री, बल्कि उनका सम्पूर्ण काव्य अपने आस-पास की वस्तुस्थिति को काम्यावस्था मे देखने की गहरी सामाजिक छटपटाहट का परिणाम है—अँधेरे और दीपक की लडाई जिसमे दीपक के प्रति उनका समर्थन-भाव इतना तीव्र है कि उनका समग्र काव्य-व्यक्तित्व ही दीपक-मय बन जाता है। हम उनके व्यक्तिगत जीवन को काव्य मे प्रतिबिम्बित होता हुआ दिखाकर फ्रायड को तो याद कर लेते हैं, मगर उस महादेवी को भूल जाते हैं जो जीवन मे व्याप्त दु ख से विगलित होकर गाँव-गाँव परिवर्तन-कामना से घूमती रही है। वह अपने दीपक को इसलिए अकम्प जलता हुआ और अचचल घुलता हुआ देखना चाहती हैं *क्योंकि—"गहरा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी। आज पुजारी बने ज्योति का* यह लघु प्रहरी। जब तक लौटे दिन की हलचल। तब तक यह जागेगा प्रतिपल। रेखाओं में भर आभा-जल। दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो।" अब अगर हम तलवार उठाने को ही सामाजिक परिवर्तन-कामना की निशानी मान बैठें तो बात दूसरी है, वरना इन पंक्तियों में जिस सामाजिक चेतना की अनुस्यूति महसूस की जा सकती है

वह सीधे प्रगतिवादी तेवर की कविता में भी, काव्यात्मक सौन्दर्यबोध को नष्ट किए बिना देखने को उपलब्ध नहीं हो सकती। कहने का मतलब यह है कि जिस दिन रचना की प्रक्रिया की सही समझदारी के आलोक में तथाकथित 'छायावादी' कृतियों की प्रक्रिया का अध्ययन किया जायेगा। उस दिन हम इस काव्यधारा और इसके कवियों को बैठकखाने से बाहर निकाल कर वास्तविक परिप्रेक्ष्य में देख सकेंगे और यह भी पहचान सकेंगे कि रोमानी भाव-बोध पर भी रचना-प्रक्रिया के वही नियम लागू होते हैं जो समकालीन विसंगति-बोध के सर्जनात्मक साहित्य पर।

प्रस्तुत अध्ययन में सैद्धान्तिक उपागम को अपनाया गया है। यह कहा जा चुका है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से रचना-प्रक्रिया के अध्ययन का मतलब यह है कि सामान्यतः रचनाकार अपने रचना कर्म को अथ से इति तक कैसे पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में, हमें यह देखना है कि उसकी रचना-यात्रा के क्रमिक सोपान या चरण क्या हो सकते हैं। हम इन्हें रचना-प्रक्रिया की अवस्थाएँ (स्टेजिज) कहना अधिक समीचीन समझते हैं। मनोविज्ञान ने इन अवस्थाओं की खोज पूरी सिसृक्षा के सदर्भ में की है, जिनका सम्बन्ध उसके साहित्य-कलात्मक या किसी भी अन्यक्षेत्रीय आयाम से हो सकता है। साहित्यशास्त्रियों, कला-विवेचकों या सौंदर्यवादियों और विभिन्न रचनाकारों ने भी इन अवस्थाओं का यथा-प्रसग उल्लेख किया है। वास्तविक समझदारी इन दोनों के मिलान में प्राप्त की जा सकती है। अतः किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले यह देखना है कि सिसृक्षण की मनोविज्ञान-सम्मत अथवा अन्यत्र प्रतिपादित अवस्थाएँ क्या हैं।

अध्याय—दो

रचना-प्रक्रिया की मनोविज्ञान सम्मत अवस्थाएँ

यह मानकर कि सर्जनात्मक कृतियाँ किसी सर्जनशील प्रक्रिया की परिणतियाँ होती है और वह प्रक्रिया मूलत समस्या-स्थापन से समस्या-समाधान की ओर जाती है, विभिन्न मनोवैज्ञानिको ने एकल अथवा सामूहिक प्रयासो द्वारा रचना-प्रक्रिया की विकासमान अवस्थाओ का यत्र-तत्र निर्धारण किया है। इन अवस्थाओं के लिए सोपानो, चरणों, दशाओ, पहलुओ, आयामो और स्तरो आदि शब्दों का उपयोग भी उपलब्ध होता है। रचना-प्रक्रिया इन सभी अवस्थाओं का कुल जोड भी है और इनमे किसी एक के पृथक रूप मे भिन्न भी। इनकी तुलना यदि स्वय सर्जक व्यक्तियों के विपुल मात्रा मे उपलब्ध स्वकर्म-विषयक कथनों, आत्म-विश्लेषणों अथवा वृत्तान्तो से की जाए तो दोनो से, अपनी-अपनी शब्दावली के बावजूद, आधारभूत साम्य तथा संघटकीय सादृश्य की प्रतीति होती है। इन अवस्थाओं की संख्या, क्रमिकता, शीर्षकता, बलाधिक्ता और व्याख्या मे अन्तर हो सकता है—और यह भी कहा जा सकता है कि अवस्थाओं की अपेक्षा ये अभिमुखताएँ अधिक हैं—लेकिन इनका उद्देश्य सिसृक्षु की मानसिक यात्रा को उद्घाटित करना है जिसके लिए कई मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ अपनायी गई हैं।

एक पद्धति सर्वेक्षणात्मक है जिसमे बहुत से सर्वक्षेत्रीय सिसृक्षुओं की आत्म-विश्लेषणात्मक या आत्मकथात्मक सामग्री के संकलन को मनोविज्ञान की नजर से परखते हुए औसत निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। दूसरी पद्धति कारकीय विश्लेषण की है जिसमे रचना-प्रक्रिया को संज्ञानात्मक तथा अभिप्रेरणात्मक उप-प्रक्रियाओ का संश्लिष्ट रूप समझकर प्रत्यक्षण, स्मरण, विचारण, कल्पन और निर्णयन आदि की विशेषताओं पर बल दिया जाता है। तीसरी पद्धति व्यक्ति-विश्लेषणात्मक है जिसमे किसी व्यक्ति को प्रदत्त परिस्थितियों मे सृजन-कार्य के लिए कहा जाता है या किसी एक सिसृक्षु के व्यक्तित्व का आद्योपान्त बारीकी से अध्ययन किया जाता है और फिर व्यक्ति-विभिन्नता के आधार पर उसकी रचना-प्रक्रिया के अवस्थात्मक वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया जाता है। चौथी

पद्धति अत्यन्त प्रायोगिक है और इसे विकसित करने वाली मनोविज्ञान-शाखा को 'साइनेक्टिक्स' कहा जाता है जो व्यक्ति के मिसृक्षा-तत्र को, विवेचनार्थ रुकी हुई प्रक्रिया न मानकर, बहुत से अध्ययन-समूहों द्वारा, उसे उसकी गतिशीलता में पकड़ने और फिर प्राप्त निष्कर्षों को उद्योग-धधो से लेकर कला-निर्माण तक के उपयोग में लाना चाहती है। इनके अलावा 'साइबरनेटिक्स' या सतान्त्रिकी की मस्तिष्क-विश्लेषण-प्रधान प्रविधि से भी इस प्रक्रिया की समस्या को सुलझाने के प्रयास किए गए है और अब तो प्रायोगिक मनोविज्ञान समस्या-समाधान की उद्दीप्ति के लिए कम्प्यूटरों की मदद भी लेने लगा है। इस प्रकार मनोविज्ञान ने रचना की प्रक्रिया को अवस्थाओं में समझने और उन्हें उत्पादनार्थ व्यवहृत करने के अनेक रास्ते अपनाये है। उन सबका विस्तृत विवेचन और सीमांकन यहाँ अभीप्ट नहीं है। सिर्फ यह देखना है कि कुल मिलाकर अधिकाधिक सह-मति किन अवस्थाओ को लेकर है, जिनकी उपयोगिता साहित्यिक सर्जना के संदर्भ में भी प्रासगिक हो सकती है।

1. जी० वालस द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ[1]

बहुत पहले मनोवैज्ञानिक जी० वालस ने कहा था कि चिन्तन-प्रक्रिया के चेतन-स्तरीय या प्रयत्नज आयाम को महत्वांकित करने के लिए उन मनोवैज्ञानिक प्रकार्यों को समझना ज़रूरी है जो परस्पर-मिश्रित रहने के कारण अलगाये नहीं जा सकते। ऐसे मे हम यही कर सकते है कि विचार की किसी भी उपलब्धि को—चाहे वह वैज्ञानिक अन्वेषण हो, नया दार्शनिक सामान्यीकरण हो या काव्यात्मक अभिव्यक्ति—एक नैरन्तरिक प्रक्रिया मानकर मोटे तौर पर उसे आदि, मध्य और अन्त की अवस्थाओं में बाँट दे। इसलिए उन्होंने रचना-प्रक्रिया की चार अवस्थाएँ निर्धारित की, जिनमें से पहली तीन का सकेत उन्हे जर्मन भौतिकशास्त्री हेल्महाल्ट्ज़ से मिला था। आज ये अवस्थाएँ पुरानी घोषित की जा चुकी है मगर यह भी सच है कि अभी तक इन्हीं को व्याख्यान्तरतः उल्लेखनीय एव विचारणीय समझा जाता है। वालस के शब्दों में—"अगर विचार की उपलब्धि का मतलब किसी प्रदत्त समस्या के समाधान की बजाए किसी रचना के सौन्दर्य की अनुभूति है, तो भी तैयारी (प्रैपेरेशन), उद्भवन (इन्क्यूबेशन), प्रदीप्ति (इल्यूमिनेशन) और सत्यापन (वेरिफिकेशन ऑफ रिजल्ट) की इन चार अवस्थाओ को एक-दूसरी से सामन्यत: अलगाया जा सकता।"[2] चूँकि अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इन्हीं या इनसे

---

1. जी० वालस, दि आर्ट ऑफ थॉट (लन्दन, हार्कोर्ट ब्रेस एण्ड जोनाथन केप, 1926) पृ० 79-126।
2. वही, पृ० 80। सी० पेट्रिक ने 'वट इज़ क्रिएटिव थिंकिंग (न्यूयार्क, फिलॉसिकल लाइब्रेरी, 1955) मे भी हूबहू यही अवस्थाएँ गिनायी हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में कविता, चित्रकला और वैज्ञानिक अन्वेषण—तीनों को समेटा है।

मिलती-जुलती अवस्थाओं को संख्या अथवा रूप के भेद से प्रस्तुत किया है, इसलिए इनका स्पष्टीकरण एवशाय यथास्थान किया जायेगा।

2. हचिसन द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ

हचिन्सन ने अपनी पुस्तक 'हाउ टु थिंक क्रिएटिविली' में रचनात्मकता की प्रक्रिया को अन्तर्दृष्टिपूर्ण समस्या-समाधानात्मक व्यवहार कहा है और उसकी चार अवस्थाएँ बतायी हैं—(1) उपक्रम या तयारी की अवस्था (2) आशाभंग (फ्रस्ट्रेशन) की अवस्था, (3) अन्तर्दृष्टि के क्षण की अवस्था (मोमेंट ऑफ इनसाइट), और (4) सत्यापन की अवस्था। स्पष्ट है कि उनका अवस्था-निर्धारण अपने पूर्ववर्ती वालस से प्रभावित है। उन्होंने पहली और चौथी अवस्था के नाम भी वही रहने दिए हैं मगर तीसरी को 'प्रदीप्ति' न कहकर 'अन्तर्दृष्टि का क्षण' और दूसरी को 'उद्भवन' की बजाए 'आशा-भंग' की अवस्था कहा है। कारण यह है कि वालस का प्रयोजन सर्जन-प्रक्रिया को अधिकाधिक प्रशिक्षणीय एवं आयाम-साध्य बनाना था, जबकि हचिन्सन ने उसके साहित्यकलात्मक अर्थात् अधिक सजटिल संदर्भ पर ध्यान केन्द्रित किया है और रसेल, माहम तथा हक्सले जैसे प्रसिद्ध लेखकों के आत्मकथनों के अनेक हवालों तथा प्रश्नोत्तरियों के माध्यम से इन अवस्थाओं के अन्तस्सम्बन्ध का प्रमाणीकरण किया है अर्थात् यथावाछनीयता के स्थान पर यथानथ्यता को उद्घाटित करना चाहा है। वैसे दोनों के शीर्षकों में कोई मौलिक अर्थ-भेद नहीं है और बाद के अधिक मनोवैज्ञानिकों ने वालस के नामकरण का समर्थन किया है।

3 टारेंस द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ

ई० पाल टारेंस ने इस प्रक्रिया को सामान्य व्यक्ति-स्वभाव के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार जीवन में अक्सर यही होता है कि किसी अधूरेपन या असामंजस्य की तीव्र अनुभूति जब हमें घेरती है तब हम अकुलाकर तज्जन्य तनाव से मुक्ति चाहते हैं। चूँकि वह महज साधारण या घिसे-पिटे तरीकों से हासिल नहीं होती अत. हम सामान्य को त्याग कर विशिष्ट प्रकार के समाधानों, अन्वेषणों और अनुमानों की ओर उन्मुख होते हैं। जब तक वे समाधान अपने ढग से सत्यापित नहीं होते तब तक हमारी बेचैनी बनी रहती है। लेकिन अपनी खोज या तलाश को किसी दूसरे के समक्ष व्यक्त करते ही हम तनाव-मुक्त हो जाते हैं। इसलिए उनकी रचना-प्रक्रिया सम्बन्धी प्रसिद्ध परिभाषा में चार अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है—(1) समस्या के प्रति संवेदनशील होना, (2) मुश्किल को पहचानना, (3) समाधान को तलाशना, और (4) परिणाम को सम्प्रेषित करना। रेयूटेर और रेयूटेर द्वारा उठाए गए इस आक्षेप के जवाब में—कि ये अवस्थाएँ विज्ञान-केन्द्रित हैं और साहित्य तथा संगीत आदि की उपेक्षा करती हैं—टारेंस ने लिखा है कि "मेरे शोध-सहायकों ने कलाकारों, संगीतज्ञों और सर्जक साहित्यकारों को भी अपने अध्ययन में शामिल किया है।'''जब कभी मैंने कलाकारों और लेखकों से दरियाफ्त

किया है कि रचना की प्रक्रिया के दौरान उन पर क्या गुज़रती है या वे अपने छात्रों को किस तरह सर्जनात्मक व्यवहार की दिशा दिखाते हैं, तो मेरी परिभाषा उनकी सिसृक्षा पर भी उतनी ही सटीक प्रतीत होती है जितनी कि सर्जक वैज्ञानिकों पर।"[1] निस्सदेह टॉरेंस-निर्धारित अवस्थाएँ रचना-प्रक्रिया की प्रकृति को केन्द्र में रखती हैं और इसलिए अधिक स्वत स्पष्ट भी हैं; मगर वालस और हचिन्सन भी प्रकारान्तर से इन्हीं दिशाओं की ओर संकेत करते हैं।

4 नान्सी पोर्टर द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ

नान्सी पोर्टर ने मानवीय सिसृक्षात्मक प्रकार्य का संरचनात्मक विश्लेषण करते हुए उसकी पाँच अवस्थाओं का निर्धारण किया है--(1) समस्या का चयन, (2) समाधान तलाशने का निर्णय, (3) सूचना का सकलन एवं क्रमबद्धन, (4) सर्जनात्मक विचार का लिपिबद्धन, और (5) इस विचार का यथार्थ में रूपान्तरण। साहित्य-सृजन जैसी मजटिल कार्यविधियों को उन्होंने आगे कई प्रकार की उपावस्थाओं में विभाजित किया है जिनकी संख्या लगभग बारह है लेकिन वे मूलत: इन्हीं अवस्थाओं के सूक्ष्म गुणधर्म हैं जिनमें कल्पना, स्मृति, अभिव्यक्ति और सौन्दर्यबोध सम्बन्धी वैशिष्ट्य पर बल दिया गया है।[2]

5. रोलो मे द्वारा निर्धारित अवधारणाएँ

रोलो मे के अनुसार रचना-प्रक्रिया को आत्म और वस्तुजगत, या आत्मनिष्ठ तथा वस्तुनिष्ठ ध्रुवों की टकराहट के रूप में समझा जाना चाहिए। इसलिए उन्होंने टकराहट ही को अवस्थाओं में बाँटकर बताया है कि इसकी प्रक्रिया के दौरान सबसे पहले व्यक्ति की किसी विचार या आन्तरिक सदर्शन के साथ टकराहट होती है जो प्रयत्नज और अप्रयत्नज दोनों तरह की हो सकती है। फिर उस टकराहट के आत्मसात्करण की अवस्था आती है, उसके बाद टकराहट की तीव्रता निर्धारित होती है और अन्तत उस टकराहट को बाह्य जगत के साथ अन्तरसम्बन्धित रूप में देखा जाता है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने रचना-प्रक्रिया को रूप में अभिव्यक्त होने वाला भावावेग कहा है जिसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं--(1) प्रारम्भिक चरण, (2) बिम्ब-सृजन, और (3) निर्णयन।[3]

---

1 ई० पाल० टारेंस, साइंटिफिक व्यू ऑफ क्रिएटिविटी एण्ड फैक्टर्स एफेक्टिंग इट्स ग्रोथ, क्रिएटिविटी एण्ड लर्निंग, सम्पा० जेरोम कागेन (बोस्टन, हटन मिफलिन, 1967), पृ० 75।

2. नान्सी पोर्टर, क्रिएटिविटी · ए प्रॉसेस, साइकॉलॉजिकल एब्स्ट्रेक्ट्स (वाशिंगटन, ए० पी० ए) वाल्यूम 63, अप्रैल 1980, पृ० 866।

3. रोलो मे, दि करेज टु क्रिएट (पूर्वोद्धृत), पृ० 40, 139।

बात वही है, सिर्फ 'टकराहट' का स्थान 'भावावेग' ने ले लिया है और संदर्भ साहित्य-कलात्मक कर दिया गया है।

6. अकील अहमद द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ

भारतीय मनोविज्ञान-अध्येता अकील अहमद ने अपने एक लेख में समस्या, तलाश और समाधान की तीन सर्वत्रोपलब्ध सर्जनात्मक अवस्थाओं के संदर्भ में स्पष्ट किया है[1] कि यदि इन्हीं को संज्ञानात्मक स्तर पर देखा जाए तो इनका क्रम इस तरह बनेगा—(1) प्रत्यक्षण—अर्थात् समस्या का साक्षात्कार, (2) स्मरण—अर्थात् स्मृति में सजोए गए पूर्वानुभवों के साथ उसका सम्बन्ध-निर्धारण, (3) कल्पन—अर्थात् विभिन्न प्राक्कल्पनाओं द्वारा उसे नए संदर्भ में देखना, (4) विचारण—अर्थात् उस पर युक्तियुक्त विचार करना और अन्तिम समाधान के निकट पहुँचना, और (5) निर्णयन—अर्थात् अन्तिम समाधान का निर्णय लेना, उसे सत्यापित करना और भावी अध्ययन के लिए प्रस्तुत करना।

7 ऑस्बॉर्न द्वारा निर्धारित अवस्थाएँ

मानवीय सर्जनात्मक व्यवहार के संवर्धन में 'ब्रेन-स्टार्मिंग' अथवा 'स्थगित निर्णय' (डैफर्ड जजमेंट) की शिक्षा-व्यवसायोपयोगी विचारोत्तेजक गोष्ठी-प्रविधि के प्रस्तोता एलेक्स आस्बॉर्न ने एक ओर तो विचारों के निर्माण की प्रक्रिया को अवरुद्धि से बचाने के लिए सर्जक को सुझाव दिया है कि वह अपनी आलोचनात्मक अथवा मूल्योत्पादिका क्षमता को रचना-कर्म के प्रारम्भिक चरण पर स्थगित रखे; और दूसरी ओर यह विवशता भी ज़ाहिर की है कि जब हम भौतिक तथ्यों को चित्यात्मक तथ्यों से अधिक सुविश्लेष्य समझने के बावजूद अभी तक पूरी तरह नहीं जानते कि बच्चे कैसे पैदा होते हैं तब वैचारिक प्रक्रिया के विषय में भी "ईमानदारी से अधिकाधिक यही कहा जा सकता है कि सामान्यतः उसमें ये अथवा इनमें से कुछ अवस्थाएँ अन्तर्विष्ट होती हैं।"[2] और इसके बाद उन्होंने सात अवस्थाएँ गिनायी हैं—(1) दिग्विन्यास (ओरिएंटेशन)—अर्थात् समस्या और उसके दिशा-क्षेत्र का निर्धारण, (2) प्रक्रम (प्रेपेरेशन)—अर्थात् संगत-सामग्री का संकलन, (3) विश्लेषण (अनालिसिस)—प्रासंगिक सामग्री का विभाजन या विभंजन; (4) विचारण (आइडिएशन)—विभिन्न विचारों के रूप में विकल्पों का एकत्रण, (5) उद्भवन (इन्क्यूबेशन)—प्रदीप्ति लाने के लिए शिथिलता अर्थात् अवचेत का मुखरित होना; (6) संश्लेषण—टुकड़ों को या विरोधी तत्वों को समग्रता में जोड़ना;

---

1 अकील अहमद, चेंजिंग नोशन्स ऑफ क्रिएटिविटी, 'सोसाइटी एण्ड माइंड्स' (बम्बई, नेहरू सेंटर) जुलाई-सितम्बर, 1979, पृ० 32।

2 एलेक्स० एफ० ऑस्बॉर्न, दि एप्लाइड इमेजिनेशन (इलाहाबाद, सेंट पाल, 1967), पृ० 92।

और (7) मूल्यांकन (इवेल्युएशन)—अर्थात् परिणाम को आँकना या सृष्य-पदार्थ को आत्मतोष एवं पर-स्वीकृति के हेतु जाँच लेना। इन अवस्थाओं में 'दिग्विन्यास' को—जिसे ऑस्बॉर्न रचना-कर्म में प्रवृत्त होने के लिए जरूरी मनोदशा या खुलेपन का 'मूड' कहते हैं—और 'प्रक्रम' को; तथा 'विचारण' और 'सश्लेषण' को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखकर वस्तुतः अवस्थाओं की संख्या पाँच तक सीमित की जा सकती है।

8. 'साइनेक्टिक्स' का अवस्था-निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान

विचारोत्तेजक गोष्ठियों या समूह-परिचर्चाओं की एक अन्य सर्जना-संवर्धक प्रविधि को मनोविज्ञान में 'साइनेक्टिक्स' कहा जाता है जिसके प्रमुख प्रवक्ता विलियम जे० जे० गॉर्डन है। सर्जन की प्रक्रिया को सुलझाने में गॉर्डन की इस सैद्धान्तिकी को अनन्य महत्व दिया जाता है। इसकी दो विशिष्टताएँ हैं—एक तो रचनाकारों द्वारा प्रचारित इस औसत मान्यता का खण्डन कि "रचना-प्रक्रिया के बीच प्रक्रिया का विश्लेषण सम्भव नहीं, बाद का विश्लेषण कुछ हद तक ठीक हो सकता है"[1]—और दूसरे, सन् 44 से सन् 60 तक की लम्बी अवधि में अनेक 'साइनेक्टिक ग्रुप्स' द्वारा प्रदत्त प्रामाणिक सूचनाओं के आधार पर सिसृक्षण को सामूहिक संदर्भ में देखकर उसका अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ विवेचन प्रस्तुत करना। साइनेक्टिक्स के शास्त्र का विकास ही इस प्राक्कल्पना के तहत किया गया है कि सिसृक्षण एक प्रक्रिया होने के नाते सदैव गतिशील है और इसे इसकी गत्यात्मकता के दौरान ही समझा जा सकता है।

'साइनेक्टिक्स' एक यूनानी शब्द है जिसका अर्थ है—वैविध्ययुक्त एवं प्रतीयमानत. अप्रासंगिक तत्वों का संयोजन। इसमें विभिन्न-क्षेत्रीय सिसृक्षुओं को एक ही समस्या-स्थापन और समस्या-समाधानात्मक समूह में रखकर, मनुष्य की सर्जनात्मक कायिकी के चेतन-पूर्व मनोवैज्ञानिक रचनातन्त्र का अध्ययन किया जाता है ताकि उसका व्यावहारिक उपयोग भी किया जा सके। प्रारम्भिक साइनेक्टिक प्रयासों में एक ऐसे व्यक्ति को चुना गया जो रचना-कर्म में लीन रहकर, अपनी ही शब्दावली में, यह भी बयान करता रहे कि समस्या की अनुभूति से लेकर समस्या के समाधान तक वह किन-किन मानसिक अवस्थाओं में से गुजर रहा है। बहुत छान-बीन के उपरान्त चार अवस्थाओं[2] को रेखांकित किया गया—(1) असम्पृक्ति और अन्तर्लिप्ति की अवस्था—इसका पहला भाग असम्पृक्ति (डिटैचमेंट) है जिसमें अन्वेषक सिसृक्षु को यह अनुभूति होती है कि उसे समस्या से 'हटकर' उस पर एक यथार्थमयी दृष्टि से सोचना है, दूसरा

---

1. हरिवंशराय बच्चन, तौर पर कैसे रुकूँ मैं, साहित्यिक साक्षात्कार, रणवीर रांग्रा, पृ० 125।
2. विलियम जे० जे० गार्डन, साइनेक्टिक्स (न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो, 1961), पृ० 18।

भाग अन्तर्लिप्ति या अन्तर्वेशन (इन्वाल्वमेंट) का है जिसमें वह समस्या के निकट जाकर यह सोचता है कि यदि वह स्वय उस प्रदत्त स्थिति का सामना करता तो क्या होता—अर्थात् समस्या के साथ उसकी सम्पृक्ति अनिवार्य हो जाती है। (2) आस्थगन (डेफर्मेंट) की अवस्था—इस चरण पर यह बोध होता है कि समस्या-समाधान के अकालिक या कच्चे प्रयासो की मदद से अनुधारित प्रकार का चिन्तन बहुत कठिन काम है, हालाकि वह उतना ही जरूरी भी है। अत कुछ देर के लिए उसे आस्थागित कर दिया जाता है। (3) अनुमानित चिन्तन (स्पेकुलेशन) की अवस्था—यह मनोन्मुक्ति की पुनरावर्त्ती योग्यता है जिसमे विकल्पो पर विचार किया जाता है और उसी मे से निष्कर्षात्मक विकल्प विस्मृत होता है। (4) चौथी अवस्था है विषय की स्वायत्तता (आटानॉमी ऑफ सब्जेक्ट)—समाधानपरक विचार या कृति के प्रति सिसृक्षु का यह अनुभव करना कि जैसे उसकी अपनी रचना ही उससे स्वतन्त्र और स्वायत्त है।

'साइनेक्टिक्स' के निर्माताओ ने अनेक रचना-धर्मियो से सम्पर्क करने और साहित्य, कलाओ, विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन तथा जीवनीपरक लेखन मे उपलब्ध सामग्री के विश्लेषणात्मक अध्ययन के उपरान्त इस तथ्य को तो सम्पुष्ट किया कि उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ सार्वत्रिक सर्जन-व्यापार के मूल मे उपस्थित होती हैं; लेकिन सर्जना-सवर्धन के सक्रियात्मक औजारो (ऑपरेशनल टूल्ज) के तौर पर इन्हे अत्यन्त अव्यावहारिक, अमूर्त तथा अविश्वसनीय महसूस किया। अत. सन् 1945 मे परिभाषित इन अवस्थाओ की मदद से सन् 53 और 59 के बीच सक्रियात्मक रचनातन्त्र की अवधारणा को विकसित किया गया। कुशल समूह-नेताओ (ग्रुप लीडर्ज) के नेतृत्व मे अनेक साइनेक्टिक समूहो की कार्यविधियो और निष्कृतियो पर आधारित 'साइनेक्टिक प्रॉसेस' या सृजनशास्त्र की इस अवधारणा मे दो प्रक्रियात्मक तथ्य अन्तर्विष्ट है—पहला है अपरिचित (स्ट्रेंज) को परिचित (फेमिलियर) बनाना, और दूसरा है परिचित को अपरिचित बनाना जो सिसृक्षण मे, पहले की अपेक्षा, अधिक महत्वपूर्ण होता है। 'साइनेक्टिक्स' के अनुसार इन क्रियाओ द्वारा उपर्युक्त अवस्थाओ का आह्वान किया जा सकता है।

8.1 अपरिचित को परिचित बनाने का क्या अर्थ है? इसका सीधा-साधा मतलब है समस्या-स्थापन और समाधान की अवस्थिति मे सबसे पहले समस्या को ठीक प्रकार से समझना ताकि वह अजनबी प्रतीत न हो। साइनेक्टिक्स के अनुसार मानवीय स्वभाव प्रधानत रूढ़िवादी होता है और कोई भी नयी अवधारणा उसके द्वारा सहजता से ग्रहण नही की जाती, इसलिए वह अपरिचित या नये को एक स्वीकार्य वर्ग मे ही मान्यता प्रदान करता है अर्थात अपनी समझदारी के क्षेत्र में रखकर परिचित बनाता है। मिसाल के तौर पर कोई लेखक यदि इतिहास के किसी विशेष कालांश या व्यक्ति को लेकर उपन्यास लिखना चाहता है तो उसे इतिहास-पुष्ट घटनाओं और विभिन्न समाज-राजनैतिक परिस्थितियो की जानकारी होनी चाहिए। इससे वह 'परिचित' की पकड तो हासिल कर लेगा लेकिन स्वय मे यह अवस्था नवलोत्पादिनी नही होगी क्योंकि

इतिहास को वह बदल नहीं सकता। और यदि वह ऐतिहासिक विश्लेषणों ही में उलझा रहता है तो यह उसके पूर्व-ज्ञान का इस्तेमाल मात्र है जो सिसृक्षा की दृष्टि से तब तक महत्वपूर्ण नहीं हो सकता जब तक वह उसकी नूतन प्रासंगिकता को उद्घाटित नहीं करता। गॉर्डन के शब्दों में—"अपरिचित को परिचित बनाने की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि इसमें विश्लेषण और विस्तार साधन न रहकर साध्य बन जाता है और हमें कहीं नहीं पहुँचाता। अधिकांश समस्याएँ नयी नहीं होतीं। चुनौती तो समस्या को आधारभूतत नया समाधान देने में होती है।"[1] और ज्योंही ऐसा किया जाता है त्योंही वह 'अपरिचित' जिसे पहले 'परिचित' बनाया गया था, फिर से 'अपरिचित' बनाया जाने लगता है।

8.2. साइनेक्टिक्स की दूसरी क्रिया, अर्थात परिचित को अपरिचित बनाना या समस्या पर नये ढंग से विचार करना, रचना-प्रक्रिया के लिए अतीव महत्वपूर्ण समझी जाती है। "यह घिसी-पिटी दुनिया, लोगों, विचारों, अनुभूतियों और वस्तुओं को नयी नजर से देखने का चेतन प्रयास है। रोजमर्रा की जिन्दगी में वस्तुओं को हमेशा 'सीधा सिरा ऊपर' की भावना से देखा जाता है; लेकिन एक बच्चा जब झुककर अपनी टाँगों के बीच से विश्व को देखता है तब वह 'परिचित' को 'अपरिचित' बनाता है। मूर्तिकार और कलाकार भी अपने प्रभावों को अभिव्यक्त करते समय यही करता है।"[2] साइनेक्टिक्स ने परिचित को अपरिचित बनाने के चार रचनातांत्रिक तरीकों पर बल दिया है और चारों की प्रकृति रूपकात्मक (मेटाफॉरिकल) है।

पहले तरीके को **वैयक्तिक सादृश्य** (पर्सनल एनालॉजी) कहा जाता है। प्रत्येक सिसृक्षु अपनी समस्या के साथ निजी पहचान स्थापित करते समय चेतन या अचेतन के स्तर पर यही करता है। साहित्यकार पात्रों की सृष्टि के दौरान स्वयं को उनके स्थान पर रखकर देखता है, रसायनशास्त्री स्वयं 'मॉलिक्यूल' बन जाता है, प्राणिशास्त्री पौधों के साथ और तकनीकी अन्वेषक कल-पुर्जों के साथ आत्मसात्करण करता है। दूसरा तरीका **प्रत्यक्ष सादृश्य** (डायरेक्ट एनालॉजी) का है जिसमें एक क्षेत्र की समस्याओं का हल सीधे दूसरे क्षेत्र से मिल सकता है अर्थात इसमें समानान्तर तथ्यों, ज्ञान या तकनीक की तुलना की जाती है। वास्तव में इसका अर्थ है सब प्रकार की रचना के मूल में अनुकृति या वैविध्यपूर्ण जीवन में प्रत्याशित प्रभावों की विद्यमानता। कोई कवि यदि असमंजस-ग्रस्त व्यक्ति को भँवर में फँसी हुई नौका कहता है तो इसी सादृश्य से काम लेता है, और ग्राहम बेल यदि मनुष्य के कान की बनावट को देखकर टेलिफोन के आविष्कार में लीन होते रहे हैं तो उनके कर्म में भी प्रत्यक्ष सादृश्य की भूमिका थी। तीसरा तरीका **प्रतीकात्मक सादृश्य**(सिम्बालिक एनॉलाजी)का है जिसमें समस्या का वर्णन विशेषणों तथा निर्वैयक्तिक

---

1. वही, पृ० 34।
2. वही, पृ० 34-35।

बिम्बों में किया जाता है। साहित्य-कलात्मक सिसृक्षण तो इस पर आश्रित है ही, विज्ञान तक में कवित्वमय अनुकार्यों की शक्ल में इस सादृश्य के प्रभावशाली उपयोग के उदाहरण मिलते हैं। यह सादृश्य तात्कालिक होता है। "साहचर्यात्मक चिन्तन के किसी भी क्षण में यह पूर्णता के साथ उभर सकता है। यह एक जेस्टाल्ट अनुकार्य है जिसमें शारीरिक, तन्त्रिकात्मक और मानसिक कार्य-रीतियाँ एक सम्पीड़ित बिम्ब में समाकलित हो उठती हैं।"[1] चौथा तरीका **फंतासी सादृश्य** (फैंटेसी एनालॉजी) कहलाता है। वैसे तो इसका स्पष्ट संकेत फ्रायड ने इच्छा-पूर्ति के सिद्धान्त में इस मान्यता के तहत किया था कि सर्जक साहित्यकार या कलाकार अपनी वैयक्तिक अभिप्रेरणाओं को फंतासी या कल्पनात्मक निर्मिति के रूप में परितुष्ट करता है और इस तरह तमाम कलात्मक व्यापार फंतासी-व्यापार है, लेकिन आधुनिक व्याख्याएँ इसे इच्छा-पूर्ति के स्थान पर 'निर्वैयक्तीकरण' मानती है, जिसके बिना कलात्मक अनुभूति का सामान्यीकृत और बाह्य रूपांतरण सम्भव नहीं होता। 'साइनेक्टिक्स' फ्रायडियन अवधारणा को सार्वत्रिक रचना-कर्म तक खींचता है। उसके अनुसार एक तरह का चेतन-स्तरीय आत्मगोपन उपर्युक्त सभी सादृश्य-विधियों में कार्यशील रहता है, लेकिन फंतासी-सादृश्य में उसकी अभिव्यक्ति सर्वोत्कृष्ट होती है। यह मुक्त कल्पना का सादृश्य है जो रचयिता और अन्वेषक या आविष्कारक, दोनों को अपने-अपने कर्म के लिए अपेक्षित स्वच्छन्दता प्रदान करता है।

8 3 'साइनेक्टिक्स' की कुछ अन्य स्थापनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। पहली तो यह कि इस शास्त्र को विशुद्ध स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की अवधारणा स्वीकार्य नहीं है। यह दार्शनिक बोसांके के साथ सहमत है कि रचना-प्रक्रिया एक द्विमुखी कार्य है जिसमें रचनाकार की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं और रूपान्तरक माध्यमों अर्थात् शब्दों, रंगों और रसायनों इत्यादि में सन्तुलन स्थापित किया जाता है। स्वयं प्रकाश्य ज्ञान वस्तुत: रचनाकार का भीतरी निर्णय है जो सदैव समाधानाधीन समस्या से सम्बद्ध होता है और इसके संकेतन के साथ जो सुखद अनुभूति जुड़ी रहती है उसकी प्रतीक्षा प्रशिक्षण का विषय हो सकती है।

दूसरी स्थापना यह है कि रचना-व्यापार सदैव सप्रयोजन होता है और जिसे हम सौन्दर्यबोधात्मक आनन्दानुभूति कहते हैं वह वास्तव में उस तीव्र प्रयोजन की पूर्ति ही का एक लक्षण है। यह ठीक है कि समस्त सर्जनात्मक कायिकी में एक क्रीड़ा-भाव होता है जो सर्जक की अतिरिक्त ऊर्जा और स्वतन्त्रता का प्रतीक है और जिसके वशीभूत इस कायिकी की प्रक्रिया अपने-आप में ही परितोषक प्रतीत होती है; लेकिन कलाकृति या वैज्ञानिक अन्वेषण की सामाजिक स्वीकृति का विचार उसकी बृहत्तर प्रयोजनशीलता का सूचक होता है।

तीसरी स्थापना यह है कि रचना-व्यापार में रूपक (मेटाफर) की अपार भूमिका

---

1. वही, पृ० 44-45।

होती है। वास्तव मे अति-सामान्यता से बचाव और नवलता के सूत्रपात की प्रमुख वजह इस प्रक्रिया की रूपकमयी प्रकृति है। इसलिए "यह जरूरी है कि अलकारमय तथा तथ्यानुवर्त्ती रूपक को उस रूपक से अलगा कर देखा जाए जो प्रजनक (जेनरेटिव), उत्प्रेरक तथा तथ्य-पूर्ववर्ती होता है और जिससे तलाश की प्रक्रिया मे प्रारम्भिक 'छलांग' प्राप्त होती है।···रूपक एक अभिव्यक्त या निहित तुलना है जो सार्थक बौद्धिक प्रदीप्ति और सावेगिक उत्तेजकता को एक साथ उत्पन्न करती है। सादृश्य और उपमा इसके सर्वाधिक सुपरिचित रूप हैं; वाक्य-विन्यास मे 'जैसे' या 'समान' के बोध द्वारा दोनो ही स्पष्ट तुलनात्मक सदर्भ में हमे अन्तर्दृष्टि प्रदान करते है। सादृश्य तर्क-सम्मत और वैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योकि वह सम्बन्धो या प्रकार्यों की एकरूपता को ध्यान मे रखता है। उपमा, तुलना का अधिक काव्यात्मक तरीका है जिसमे एकरूपता पर उतना बल नही दिया जाता जितना कि उस उत्तेजना पर जो किन्ही दो सापेक्षत: असमान मगर गुण धर्मिता मे समान वस्तुओ द्वारा पैदा की जाती है।"[1]

कुल मिलाकर 'साइनेक्टिक्स' मे रचना-प्रक्रिया के नौ चरण है जिनकी मदद से उसको सीखा-सिखाया जा सकता है। ये चरण हैं—समस्या का प्रदत्त स्वरूप, अपरिचित को परिचित बनाना, समस्या का गृहीत स्वरूप, सक्रियात्मक रचनातत्र को समझना, परिचित को अपरिचित बनाना, मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ, मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं का समस्या के साथ एकीकरण, दृष्टिकोण, और समाधान या शोध-लक्ष्य। उद्योग और व्यवसाय के क्षेत्र मे ये चरण अर्थवान हो सकते है। साहित्य-कलाओ मे इनकी अर्थवत्ता बहुत सदिग्ध है, मगर आनुषगिक रूप मे इनसे लाभान्वित हुआ जा सकता है।

9. मनोवैज्ञानिक अवस्था-निर्धारण का सार

अवस्था-निर्धारण के उपर्युक्त प्रयासों से स्पष्ट है कि आनुभविक अध्ययन, मनोविश्लेषण, व्यक्तित्व-विवेचन और मनोमिति के उपागमो से विचार करने वाले मनोविज्ञानी सर्जन की प्रक्रिया को मानसिक अवस्थाओ के रूप मे ग्रहण करते हैं, जब कि सिसृक्षा-सवृद्धि के प्रयोक्ता इन्ही अवस्थाओ को सर्व-प्राप्तव्य प्रकार्य-विधियो मे बदल कर देखते है। सभी के मूल सदर्भ अवस्था-विकासात्मक है और यदि विश्वकोशीय[2] हवाले से इन्हें समावेशी निष्कर्ष देने का प्रयास करे तो सर्वक्षेत्रीय सर्जन-व्यापार की पाँच मनोविज्ञान-सम्मत अवस्थाएँ उभर कर सामने आती हैं।

9.1 उपक्रम-काल

पहली अवस्था को उपक्रम या तैयारी का काल कहा जाता है। इसमे अन्त:

---

1. वही, पृ० 105-6।
2. इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ दि सोश्यल साइंसिज़, 1968—पृ० 437।

प्रेरणा से गृहीत समस्या और समाधानोन्मुख होने के लिए उपयुक्त विशेषज्ञता, दोनों का समावेश रहता है। "तैयारी का अर्थ है समस्या से सम्बन्धित जो कुछ भी ज्ञान उपलब्ध है उसे पढ़ना और उस पर विचार करना। फ्लाइगलर (करिकुलम प्लानिंग फॉर दि गिफ्टिड'-1961) के अनुसार तैयारी की अवस्था के तीन रूप होते हैं—पहला, किसी विषय का अच्छा ज्ञान होना, दूसरा कुछ खोज करने की आवश्यकता का अनुभव करना, और तीसरा उस आवश्यकता के आधार पर किसी समस्या का हल सोजना। व्यक्ति की जैसी रुचि होती है, उसके अनुसार वह समस्या का चयन करता है। दूसरे की सुझायी समस्या पर कार्य करना कठिन होता है। कारण यह है कि ऐसी समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति की अन्त.प्रेरणा से नही रहता।"[1] इस प्रारम्भिक चरण पर सिसृक्षु उस कौशल्य का अभिग्रहण करता है जिसके अभाव मे अनुभव को विकसित नही किया जा सकता। इसी के बल पर समस्या को अनेक सदर्भो मे उठाने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। लेकिन कुछ लोगो का मत है कि सिसृक्षण की प्रक्रिया किसी अतिसचेत समस्या-स्थापन से नही, बल्कि स्वत स्थापित समस्या की पहचान से शुरु होती है; उपक्रम के इस चरण पर सिर्फ प्रत्यक्षत- अपेक्षित तकनीको का अर्जन किया जाता है क्योंकि सोद्देश्य ज्ञान तभी हासिल होता है जब समस्या पहले से उपस्थित की जा चुकी हो।

साहित्यिक दृष्टान्त से बात को स्पष्ट करें तो इसका मतलब है कि 'रामचरित मानस' की रचना प्रक्रिया में तुलसीदास को पुरुषोत्तम की काव्य-समस्या के लिए विशेष उपक्रम नही करना पड़ा था; वह तो लम्बे समय से उनके परिवेश-गत अनुभव व्यापार का हिस्सा बनकर अनायास ही उपस्थित हो चुकी थी और दायित्वपूर्ण रचना-कर्म का सकल्प बन कर उनके असामान्यत. सवेदन-सक्षम सिसृक्षु-व्यक्तित्व को स्वभावत: अन्त प्रेरित कर चुकी थी। उपक्रम की अवस्था मे उन्होने 'नानापुराणनिगमागम' (रचना-प्रक्रिया के अर्जित स्रोत) तथा उनके मिथकीय सदर्भो के अवगाहन से एक ओर अपनी ऐतिहासिक चेतना को समृद्ध किया था और दूसरी ओर उसके 'भाषानिबधम्' (रूप-विधान) की योजना बनायी थी। बहरहाल यह उपक्रम-काल प्रत्यक्षित अनुभव के समस्यान्तरण और ज्ञान एव कौशल्य द्वारा अभिव्यक्ति की ओर अग्रेषित करने की अवस्था ही का नाम है। साहित्य के क्षेत्र मे अक्सर इस भ्रान्त धारणा को पाल लिया जाता है कि रचना अकस्मात स्फूर्त होती है और किसी प्रकार की तैयारी की अपेक्षा नही रखती। यह धारणा केवल काव्य-विधाओ और 'क्रौंचवध' जैसी मिसालो को ध्यान मे रख कर प्रचारित की जाती है ताकि सस्कारी प्रतिभा को व्युत्पत्ति और अभ्यास से प्राप्त तैयारी की तुलना मे प्रवरकोटिक सिद्ध किया जा सके। मनोविज्ञान भी सिसृक्षण मे आकस्मिकता के तत्व को अस्वीकार नही करता, मगर उसके पीछे

सुरेन्द्रनाथ त्रिपाठी, प्रतिभा और सर्जनात्मकता (नयी दिल्ली, मेकमिलन, 1980) पृ० 87।

अचेतनस्तरीय उपक्रम की भूमिका को महत्वांकित भी करता है।

9 2. सांद्रण-काल

सान्द्रण का अर्थ है एकाग्र अवधान की अवस्था जिसमें, उपक्रमोपरान्त, समस्या या अनुभव पर पूरे मनोयोग से सकेन्द्रण किया जाता है। ऑस्बॉर्न इसे प्रचुर विचारण की अवस्था कहते हैं और सर्जनात्मक समस्या-समाधान की प्रक्रिया का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मगर सर्वाधिक उपेक्षित चरण मानते हैं। सिसृक्षुओं की खण्डित-मनस्कता की चर्चाएँ इसी अवस्था को लेकर की जाती है क्योंकि इसमें साहचर्यात्मक-चिन्तन अनेक विचार-दिशाओ मे प्रवाहित होता है और विचारो का मात्रात्मक वैविध्य ही अन्ततोगत्वा समाधान के गुणात्मक वैशिष्ट्य का कारण बनता है। विचाराधीन विषय पर बारीकी से ध्यान जाते ही कल्पना के घोडे अनेक दिशाओ मे भागने लगते हैं और नवलोन्मेष के कितने ही द्वार खुलने लगते हैं। साहित्य-कलात्मक सिसृक्षण में किसी गीत की प्रथम पंक्ति या किसी वृहत्तर रचना का केन्द्रीय कथ्य—जिसके गिर्द रचनात्मक विचारो को बुना जाता है—सांद्रण-काल ही की उपज होता है। विचारों का सघटन और विघटन भी यही पर तय होता है। सांद्रण से रचनात्मक बोध मे तीव्रता आती है और विचार-साहचर्य फलदायक प्रतीत होने लगता है जिससे सिसृक्षण मे नैरन्तर्य बना रहता है। यही वजह है कि इस प्रक्रिया की अधिकाश त्रुटियो के लिए सान्द्रण की कमी को जिम्मेवार ठहराया जाता है। यह वास्तव मे समाधि की अवस्था है जिसमे स्मरण और ध्यान का अद्भुत योग रहता है। अधिकाश मनोवैज्ञानिक और गणितज्ञो ने इसकी तुलना ताश या शतरज के खेल से की है जिसमें खिलाडी समय के तीनो आयामो मे एकसाथ उपस्थित रहता है। यह समस्या, अनुभूति या भावो के सामान्यीकरण अथवा निर्वैयक्तिकरण के लिए नितान्त जरूरी अवस्था है।

9 3. विनिवर्तन-काल

विनिवर्तन (विदड्राल) या वापसी की इस तीसरी अवस्था को उद्भवन या 'इन्क्यूबेशन' का चरण भी कहा जाता है। भरसक सान्द्रण के बावजूद रचना की प्रक्रिया मे एक ऐसा मोड़ आता है जब समस्या-समाधान का प्रयास अवरुद्ध होने लगता है, उस वक्त सिसृक्षु को आशा-भग, तनाव तथा अकुलाहट का इतना गहरा अनुभव होता है कि वह मूल समस्या विनिवर्तन के लिए मजबूर हो जाता है। अत. कुछ समय के लिए वह अपने सारे व्यापार को मानसिकत: आस्थगित करता हुआ, एक प्रकार का पश्च-गमन करता है या 'क्षेत्र से बाहर' चला जाता है। कहने को तो वह स्वय को इधर-उधर के कार्यों या मनोरजनो या हल्के किस्म के साहित्याध्ययन मे उलझा देता है, लेकिन वास्तव मे अचेतन के स्तर पर एक अन्तर्विकास यहाँ भी होता रहता है। अत उसका 'बाहर चला जाना' पूरी तरह सम्भव नही होता। क्योंकि इसका प्रयोजन नयी ताजगी के साथ फिर से 'भीतर चले आना' होता है। प्रकारान्तर से विनिवर्तन का अर्थ है

समस्या को अचेतन या उपचेतन के हवाले छोड़ देना। वैज्ञानिक अन्वेषण मे यह स्थिति प्राय उस समय उपस्थित होती है जब सा्द्रण-कालीन विचार-विकल्पों को संश्लेषण नही मिल पाता, और साहित्यिक सर्जना में प्राय उस समय जबकि अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता सताने लगती है, भावों को उपयुक्त बिम्ब-रूपान्तरण नही मिलता। फ्रायड, फारेस्ट विलियम्स और कोइस्लर आदि अनेक मनोवैज्ञानिकों ने इसीलिए सिसृक्षण मे अचेतन की भूमिका पर बहुत बल दिया है। क्यूबे ने इसे पूर्वचेतन की अवस्था कहा है। इसे सर्जन-व्यापार की भूगर्भगत अवस्था भी माना जाता है जिसमे अर्द्धनिद्रा और स्वप्न-शीलता का भी अपना महत्व होता है। सब मिलाकर, सिसृक्षण का यह चरण विनिवर्तन-काल कहा जा सकता है जहाँ सचेत आयास बहुत गौण अथवा बिल्कुल नही होता।

9 4 अन्तर्दृष्टि-काल

विनिवर्तन का पर्यवसान अन्तर्दृष्टि (इनसाइट) की प्राप्ति मे होता है जिसे 'प्रदीप्ति' की संक्षिप्तावस्था भी कहा जाता है। यहाँ समस्या का पूरा रहस्य उद्घाटित हो उठता है और सिसृक्षण की प्रक्रिया निर्बंधत अग्रसर होती है। सिसृक्षु को लगता है कि उसकी तलाश सार्थक हो उठी है और वह उल्लास, हर्षोद्रेक तथा दीप्ति से भर जाता है। चूंकि समाधान 'उछल कर' या स्फूरित होकर उसके सामने उपस्थित होता है, इस लिए इस अवस्था की जड़ें भी अचेतन मे मानी जाती हैं। वास्तव में मनोविज्ञान ने प्रदीप्ति की इस अवस्था को कार्य-कारण की पद्धति से उतना विश्लेषित नही किया है जितना यह बताया है कि इसे उत्प्रेरित कैसे किया जा सकता है। अत इसकी कोई निश्चित सैद्धान्तिकी विकसित नही की जा सकी है। फिर भी कुछ व्याख्याएँ अवश्य उपलब्ध हैं। डनलप स्मिथ[1] के अनुसार यह अन्तर्दृष्टि तनाव के आकस्मिक विमोचन से प्राप्त होती है और ऑस्बॉर्न[2] भी इस विचार का समर्थन करते हैं, लेकिन वह भीतरी तनाव को भी अचेतन मे किये गए आयास की संज्ञा देते हैं। उनके विचार में प्रदीप्ति को इस ढग से भी समझा जा सकता है कि यह अभिप्रेरण या सावेगिक अन्तःप्रेरण को पुनरुज्जीवित करने की अवस्था है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि हमारी साहचर्य-शक्ति अपनी पूर्ण स्वच्छन्दता ही मे सर्वोत्तम होती है; इसलिए किसी खाली क्षण मे वह हमारे मन के गुप्त कोनो मे धावन करती हुई उन रहस्मात्मक सूत्रो को पकड लेती है जो विचार-निर्माण मे सहायक होते है।

ग्राहम वालस लिखते हैं—"अगर हम प्रदीप्ति की अवस्था का एक तात्कालिक 'कौंध' मात्र मानते हैं तो स्वाभाविक है कि हम इच्छा-शक्ति द्वारा उसे प्रभावित नही कर सकते, क्योंकि हमारी इच्छाशक्ति का असर उन्ही मानसिक घटनाओं पर हो सकता है जो कुछ देर तक जारी रहती हैं। इसके विपरीत, यह अन्तिम 'कौंध' या 'समाधान' साहचर्य की उस सफल शृंखला का परमोत्कर्ष है जो काफी समय तक जारी रह चुकी

1,2. ए० एफ० ऑस्बॉर्न, दि एप्लाइड इमेजिनेशन (पूर्वोद्धृत) पृ० 127।

होती है और शायद उसके पहले भी बहुत सी असफल एवं अस्थायी श्रृंखलाएँ वर्तमान रही होंगी जिनकी अवधि कुछ क्षणों से लेकर कई घण्टों तक की हो सकती है।'''साक्ष्य इस पक्ष में जाता है कि साहचर्य की असफल श्रृंखलाएँ जिनकी वजह से सफल 'कौंध' का आविर्भाव हो सकता है, और अन्तिम सफल श्रृंखला—दोनों ही या तो अचेतन का व्यापार होती है या फिर उस परिधि (पेरिफेरि) अथवा चेतन के उपान्त (फ्रिंज) में घटित होती है जिसने हमारी केन्द्रीय चेतनता (फोकल कांशेसनेस) को वैसे ही घेर रखा होता है जैसे सूर्य के प्रभा-वलय (कारोना) ने ज्योति की चक्रिका (डिस्क) को। यह 'उपान्तक चेतना' तात्कालिक कौंध तक भी रह सकती है, कौंध की सहवर्तिनी भी, और कई हालात में उसके बाद भी जारी रह सकती है। लेकिन जिस प्रकार सूर्य के प्रभा-वलय को तब तक देख पाना मुश्किल होता है जब तक कि ज्योति-चक्रिका पूर्ण-ग्रहण द्वारा ढक नहीं जाती, उसी प्रकार पूर्ण 'प्रदीप्ति' के प्रसंग में 'उपान्तक चेतना' को पहचान सकना या 'प्रदीप्ति' के उपरान्त उसे याद रख सकना भी बहुत कठिन होता है।"[1] अतः 'प्रदीप्ति' या अन्तर्दृष्टि की अवस्था में कौंध के क्षण को वालस ने 'प्रज्ञापन' (इंटिमेशन) कहना अधिक पसन्द किया है।

9.5 सत्यापन-काल

मनोविज्ञान में सर्जन-प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था सत्यापन या 'वेरिफिकेशन' मानी जाती है। यह अनुभव-जात अन्तर्दृष्टि से प्राप्त समाधान या परिणाम को सम्प्रेषित करने की अवस्था है जिसमें मूल्यांकन, प्रमाणीकरण, विस्तारण और कार्यान्वयन (रियलाइज़ेशन) का व्यापार भी शामिल रहता है। इसमें सर्वाधिक महत्व समाधान को समस्या, आवश्यकता और प्रयोजन के सन्दर्भ में आँकने को दिया जाता है। सभी मनोवैज्ञानिक इस अवस्था को किसी भी सर्जनात्मक प्रायोजना (प्रॉजेक्ट) का निहायत जरूरी और निर्णायक चरण मानते हैं क्योंकि एक तो यहीं पर पूरी प्रक्रिया का स्पष्ट आकारबद्ध प्रमाण मिलता है और दूसरे इसी अवस्था की परिपक्वता पर सृष्ट विचारों, पदार्थों या कृतियों की समाज-सांस्कृतिक स्वीकृति का दारोमदार रहता है। सत्यापन-काल में संशोधन या पुनर्लेखन भी किया जाता है। चूंकि वैज्ञानिक 'सत्य' और साहित्य-कलात्मक 'सत्य' में संवेदनात्मक एवं प्रयोजनात्मक अन्तर होता है इसलिए दोनों की सत्यापन-विधियाँ भी अपनी-अपनी होती हैं। इसके अलावा, सत्यापन-काल को रचना-प्रक्रिया की अन्तिम अवस्था कहने का मतलब यह नहीं है कि अन्य अवस्थाओं में जांच-पड़ताल की कोई भूमिका नहीं होती। वह तो एक तरह का विवेक है जो पूरे सिसृक्षण में किसी-न-किसी स्तर पर दिशा-निर्देश देता है, लेकिन इस अवस्था पर वह प्रक्रिया-गत उतना नहीं रहता जितना कि परिणाम-गत। दूसरे शब्दों में कहें तो यहाँ वह उत्पादनोन्मुखी होने

1. जी० वालस, दि आर्ट ऑफ थॉट, क्रिएटिविटी, सम्पा० पी० ई० वर्नन (मिडलसेक्स, पेंगुइन, (1975), पृ० 96-97।

की बजाए वितरणोन्मुखी हो जाता है—अपने-आप को सामाजिक या पाठक या उपभोक्ता की नज़र से देखता है। मनोवैज्ञानिक एरिक फ्रॉम्म ने तो सम्पूर्ण मानवीय सिसृक्षात्मक व्यवहार को दो चरणों—जन्मदायिनी मातृ-गुणात्मक अवस्था और पुसत्व-पूर्ण आभिव्यक्तिक अवस्था—में बाँटते हुए, दूसरे चरण को प्रकारान्तर से पूरा सत्यापन-काल ही माना है "जिसमें सिसृक्षु अनिवार्यतः अपने सृष्ट पदार्थ को सान पर चढाता और चमकाता है ताकि उसे सामाजिक निर्णय के लिए तैयार किया जा सके—अप्रासंगिकताएँ और अनावश्यकताएँ दूर कर दी जाती हैं और वस्तु-तत्व को अधिक सशक्तता से अभिव्यक्त किया जाता है।"[1] हम देख चुके हैं कि विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने 'सत्यापन' के अतिरिक्त इस अवस्था को अनेक प्रकार की सज्ञाएँ दी हैं—जैसे 'परीक्षण', 'समापन', 'निष्कर्ष-सम्प्रेषण', 'मूल्यांकन', 'यथार्थान्तरण', 'विषय की स्वायत्तता', 'निर्णयन' इत्यादि—लेकिन सबका सार यह है कि सत्यापन-काल सिसृक्षण की सर्वाधिक वस्तुनिष्ठ और आत्मालोचन-परक अवस्था है जहाँ पहुँचकर समस्या का समाधान में अथवा अनुभूति का सम्प्रेषण में पूर्ण तथा वाछनीय पर्यवसान हो जाता है और कोई अन्वेषण या कलाकृति का भौतिक रूप प्रकाश में आता है।

10. मनोविज्ञान-सम्मत अवस्था-निर्धारण की सामर्थ्य और सीमा

मनोविज्ञान-सम्मत अवस्था-निर्धारण ने रचना की प्रक्रिया को अलौकिकता, रहस्यात्मकता और अव्याख्येयता से मुक्त करके हमें एक वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की है जिससे अनेक गुत्थियाँ सुलझी हैं और बहुत-सी अमूर्त्तताओं को कार्य-कारण के परिवृत्त में पकड सकने की सम्भावनाएँ बढी हैं। प्रत्येक प्रकार के रचना-व्यापार को समस्या-स्थापन और समस्या-समाधान की मूल कायिकी के रूप में समझने का जो प्रादर्श मनोविज्ञान ने प्रस्तुत किया है वह साहित्यिक सर्जना के सदर्भ में भी निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है, लेकिन यह अवस्था-निर्धारण इस समस्या का अन्तिम हल नहीं है। इसकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि इसमें सब तरह की सर्जनात्मकता को—चाहे वह वैज्ञानिक अन्वेषण से सम्बन्ध रखती हो या चित्रकारिता से या साहित्य-निर्माण से या उद्योग-धधों में ग्राहक-सख्या बढाने से—अन्तर्विष्ट करने का प्रयास किया गया है जो व्यापक होकर भी गहन नहीं है। इससे विभिन्न-क्षेत्रीय सर्जन-व्यापार का स्तरीय अन्तर स्पष्ट नहीं होता। अधिकाश मनोवैज्ञानिक जब 'उपक्रम-काल' और 'सत्यापन-काल' की बात करते हैं तब उनका ध्यान प्राय वैज्ञानिक अन्वेषण या तकनीकी उत्पादन पर केन्द्रित होता है जबकि 'विनिवर्तन-काल' और 'अन्तर्दृष्टि-काल' की चर्चा करते समय वे साहित्य या कलाओं की ओर मुड़

1. एरिक फ्रॉम्म, दि क्रिएटिव एटिच्यूड, क्रिएटिविटी एण्ड इट्स कल्टिवेशन, सम्पा० एच० एण्डर्सन (लन्दन, हार्पर एण्ड रो, 1959), पृ० 22।

जाते हैं। इस प्रकार एक तो उनका विवेचन सुविधानुसारी हो जाता है और दूसरे यह सकेत भी मिलता है कि साहित्य-कलात्मक रचना-कर्म अभी तक पूरी तरह उनकी पकड में नही आ सका है।

दूसरी सीमा यह है कि मनोविज्ञान सृष्ट कृतियों को बुरी तरह नजर-अंदाज करता है। अभी तक वह नही बता सका कि गेटे के 'फाउस्ट' या आइंस्टीन के 'सापेक्षता-सिद्धान्त' या ग्राहम बेल के 'टेलिफोन-निर्माण' की रचना-प्रक्रिया का आदि से अन्त तक स्वरूप क्या है। वह कृतियों की अपेक्षा कृतिकारो और उनके वक्तव्यों पर अधिक निर्भर करता है।

तीसरी सीमा आत्यन्तिक आत्मनिर्भरता की है। साहित्य और कलाओं की सर्जनात्मकता का उच्चतर और पेचीदा रूप मानने के बावजूद मनोविज्ञान उनके अपने शास्त्रो से कोई मदद नही लेता। परिणामत रचना-प्रक्रिया का सौन्दर्यबोधात्मक या भाव-प्रधान आयाम उससे पूरी तरह विश्लेषित एव महत्वाकित नही हो पाता और इसकी समाज-सास्कृतिक पृष्ठभूमि भी उसकी परिधि से बाहर रह जाती है। लगभग तीस वर्ष पहले मनोवैज्ञानिक रॉबर्ट थॉमसन ने चेतावनी दी थी कि "मनोवैज्ञानिक को इस तथ्य पर बल देना होगा कि उसका विज्ञान विचारण की प्रक्रिया का एक सीमा से आगे विवरण नही दे सकता, दूसरे विशेषज्ञ भी है जिनमे से हर कोई, अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार इस प्रक्रिया की समझदारी को बढाने मे योगदान कर सकता है।"[1] लेकिन बाद के मनो-वैज्ञानिको ने इस चेतावनी को तो क्या सुनना था, बेचारे थॉमसन महोदय को भी उपेक्षा की भेंट चढा दिया।

चौथी सीमा दृष्टिकोण या प्रयोजन से सम्बन्ध रखती है। आधुनिक अनुप्रयुक्त मनोविज्ञान अवस्थाओ का प्रतिपादन इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर करता है कि वैसे तो प्रत्येक मनुष्य मूलत सर्जनशील है, लेकिन इस प्रक्रिया की जानकारी एव शिक्षा देकर उसे ज्यादा सर्जनशील बनाया जा सकता है। शिक्षा-सस्थाओ एवं उद्योग-धधो में किए गए महत्वपूर्ण प्रयोगो, कारखानों मे 'सिसृक्षा-अधिकारियों' (क्रिएटिविटी ऑफीसर्ज) की नियुक्तियों और कुछ विदेशी विश्वविद्यालयों में खोले गए 'सर्जना विभागो' से इस प्रयोजन की गम्भीरता और सार्थकता का पता भी चलता है। ऑस्बॉर्न ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक के अधिकाश अध्यायो का वर्गीकरण सर्जनात्मकता की अवस्थाओ के आधार पर करते हुए अन्त में लिखा है — "हाल ही मे यह व्यापक रूप से समझा जा सका है कि सिसृक्षा शिक्ष-णीय है; कि कल्पना लगभग हर किस्म की समस्या के हल की कुजी हो सकती है। वास्तव मे अगर हम सकल्प कर लें तो हममे से तकरीबन हर आदमी अधिक सिसृक्षाशील बन सकता है; और शायद यही महत्वपूर्ण बात विश्व के लिए आशा का सदेश हो। अधिक सिसृक्षाशील बनकर हम बेहतर जीवन-यापन कर सकते हैं, एक-दूसरे की भलाई और सेवा मे जुट सकते हैं, जीवन-स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं, और यहाँ तक कि सारी

---

1. राबर्ट थाम्सन, दि साइकॉलॉजी आफ थिंकिंग (पूर्वोद्धृत), पृ० 27-28।

दुनिया मे स्थायी शान्ति लाने का तरीका ढूंढ सकते हैं।"[1] ये शब्द मूल्याभिनिवेशी और काव्यात्मक प्रकार के है; लेकिन अगर सिसृक्षा-सिक्षण का उद्देश्य यही है तो मनोविज्ञान सर्जना को मूल्याभिनिवेश की प्रक्रिया मानने से क्यो कतराता है? और अगर सिसृक्षा-शिक्षण से आज तक कुछ अच्छे विद्यार्थी या उद्योग-कर्मी ही प्रकाश मे आ सके हैं तो साहित्यिक सर्जना के सदर्भ मे यह अतिसामान्यीकृत प्रयोजन अव्यावहारिक एव अपर्याप्त हो जाता है।

साहित्यिक सर्जना के सवाल का जवाब देते समय जहाँ मनोविज्ञान की सामर्थ्य से लाभान्वित होना जरूरी है वहाँ उपर्युक्त सीमाओ को भी ध्यान मे रखना चाहिए।

1. एलेक्स ऑस्बार्न, दि एप्लाइड इमेजिनेशन (पूर्वोद्धृत), पृ० 276।

अध्याय-तीन

रचना-प्रक्रिया की साहित्य-कला सम्मत अवस्थाएँ

सर्जन-व्यापार की मनोविज्ञान-सम्मत अवस्थाएँ साहित्य के प्रक्रियात्मक अभिज्ञान को एक व्यापक और वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तो प्रदान करती हैं, लेकिन प्रयोजन की भिन्नता तथा अतिव्याप्ति के कारण उन सबको इस संदर्भ में ज्यों-की-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। विशुद्ध साहित्य-कलात्मक सर्जना को ध्यान में रखकर कुछ काव्य-शास्त्रियों, सौन्दर्य-मीमांसकों, साहित्य-विवेचकों और स्वयं रचनाकारों ने भी सीधे अथवा प्रसगवश उसकी अवस्थाओं को उद्घाटित किया है। यह साक्ष्य निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है और रचना की प्रक्रिया पर प्रगामी अध्ययन का प्रासंगिक आधार प्रस्तुत करता है। इधर इसमें दार्शनिक या रहस्यवादी भगिमा को त्याग कर मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, कलाओं की परस्पर-निर्भरता आदि की समन्वित सहायता से अधिक प्रामाणिक बन सकने और नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत करने की शुभ प्रवृत्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। इसमें मनोविज्ञान के समीपतर होने का आग्रह तो इतना बढ़ गया है कि कई सौन्दर्यशास्त्रियों और साहित्य-विचारकों ने कलात्मक-सर्जना की अवस्थाओं तथा अन्य प्रगुणताओं का विवेचन मनोविज्ञान ही की शब्दावली में किया है।

1. भारतीय काव्यशास्त्र में संकेतित अवस्थाएँ

भारतीय काव्यशास्त्र में सर्जक-चित्त की पहचान के रास्ते से उसके रचना-कर्म का निरूपण किया गया है या नहीं—यह एक विवादास्पद विषय है। काव्यशास्त्र के सुधी व्याख्याकारों में से अधिकांश का मत है कि काव्यशास्त्रीय रस-चिन्तक मनीषा कवि के सृजन-व्यापार को उद्घाटित करने में समर्थ है। नगेन्द्र, रामसूर्ति त्रिपाठी, आनन्द प्रकाश दीक्षित, निर्मल जैन, वेंकट शर्मा, वी० के० गोकक और इटेलियन विद्वान रेनिरो नोली इत्यादि इस मत के समर्थक प्रतीत होते हैं।

1.1—गोकक का कहना है कि सृष्टि के संदर्भ में रचना-प्रक्रिया पर विचार

करने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ ऋग्वेद के जमाने में हो चुका था। अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में उन्होंने 'एक अनुभूति एक प्रतीक' (ए लीजेंड एण्ड ए सिम्बल) शीर्षक के अन्तर्गत, ऋग्वेद की अरविन्द-समर्थित 'सूर्य-सावित्री' कथा के आधार पर यह सिद्ध किया है। उनके शब्द हैं—"इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की चेतना में काव्योत्पत्ति पर छः देवियों की अधिष्ठा होती है। सूर्य-सवित्री नामक अन्तस्सूर्य की किरण-रूपिणी ये देवियाँ हैं—सरमा, इला, भारती, सरस्वती, उषा और दक्षिणा। स्थूल काव्योत्पत्ति अर्थात् कविता के शाब्दिक उद्भव पर शक्ति, वायु, सूर्य, सोम और दक्षिणा की अधिष्ठा होती है क्योंकि ये क्रमशः आत्मा, जीवन, सत्य, आनन्द और सौन्दर्य (सोम इन दोनों का प्रतिनिधि है जो 'डबल-ड्यूटी' निभाता है) तथा औचित्य के प्रतीक हैं। छह देवियों में सरमा ही एक ऐसी है जिसका सम्बन्ध कवि-चेतना में काव्योद्भव के साथ है। जब काव्य की शाब्दिक रचना होती है तब उसका स्थान शक्ति और आत्मा ले लेती है। जो पाठक वैदिक प्रतीकों से परिचित नहीं हैं उन्होंने फ्रांसिस थॉम्पसन की प्रसिद्ध कविता 'स्वर्ग का शिकारी कुत्ता' पढ़ी होगी। ऋग्वेद की एक परवर्ती कथा में सरमा का उल्लेख एक शिकारी कुतिया के रूप में मिलता है जिसमें वह रहस्यमय पर्वतीय मार्ग की तलाश द्वारा सूर्य के पशुओं की खोज निकालती है। 'स्वर्ग का शिकारी कुत्ता' (हॉउण्ड ऑफ हेवन) भी वैसी ही कहावत है जो वैदिक अनुश्रुति की सजटिलता पर प्रकाश डालती है।"[1] गोकक के अनुसार 'सूर्य-सावित्री' अनन्त अस्तित्व में कारणात्मक विचार का सूचक है; 'सरमा' स्वय प्रकाश्य ज्ञान है, 'सरस्वती' प्रेरणा है, 'इला' उद्घाटक शक्ति है, 'दक्षिणा' भेदभाव करने वाला विवेक या मानसिक निर्णय है, 'भारती' आनन्ददायक सत्य की विशदता है, और 'उषा' प्रातः देवी या प्रदीप्ति है गोकक मानते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्रकारों को ये निगूढार्थ परम्परा से प्राप्त थे और उनके रचना-प्रक्रियात्मक विवेचनों में—खासतौर से ध्वनित-रस वादियों में—इनकी अभिप्रेरणा आसानी से लक्षित की जा सकती है। तात्पर्य यह कि सृजन-प्रक्रिया भारत की दार्शनिक और काव्यशास्त्रीय मीमांसा के लिए कोई अव्याख्येय अजूबा नहीं रहा है, आवश्यकता इस बात की है कि मीमांसा की सूत्रबद्ध मगर गहन संक्षिप्तता को सम्यक ढग से खोला जाए।

1 2 लगभग यही मत भागीरथ दीक्षित का भी है। अभिनव गुप्त में विशेष आस्था रखते हुए उन्होंने सिद्ध करना चाहा है कि भारतीय काव्यशास्त्र में सृजन-सम्बन्धी वे सभी बुनियादी निष्कृतियाँ विद्यमान हैं जो भावी सृजन का पथ भी आलोकित कर सकती हैं। "जिस निष्कृति को किसी उत्कृष्ट पाश्चात्य चिन्तक ने एक अध्याय या एक निबंध में व्यक्त किया है उसे आचार्य अभिनवगुप्त ने एक सूत्र या दो-चार पंक्तियों के भाष्य में प्रस्तुत कर दिया है।"[2] *एक अन्य स्थान पर वह लिखते हैं कि ध्वनिवादियों*

1. बी० के० गोकक, एन इंटेग्रल व्यू ऑफ पोइट्री : एन इण्डियन पर्स्पेक्टिव (पूर्वोद्धृत), पृ० 212-13।
2. भागीरथ दीक्षित, अभिनव साहित्य-चिन्तन (दिल्ली, इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, 1977), भूमिका।

का काव्य-विवेचन वस्तुतः सृजन-विवेचन ही है। "उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में पहली बार स्रष्टागत प्रतिभा अर्थात् सृजन-शक्ति, सृजन की अन्त:प्रक्रिया एवं बाह्य प्रक्रिया, कृति के अवबोध और सृजन-विषयक दोषगुण आदि सभी महत्वपूर्ण विषयों की विस्तृत विवेचना की; और साथ ही व्यावहारिक भूमि पर अपनी स्थापनाओं की; प्राचीन एवं नवीन सृजन के परिप्रेक्ष्य में, जाँच की।"[1]

1.3. उपर्युक्त धारणा के विपरीत, कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यकृति और उसके आस्वादन का जितना समृद्ध विवेचन उपलब्ध होता है, कवि-कर्म अथवा काव्य की रचना-प्रक्रिया के विषय में उतनी ही उदासीनता लक्षित की जा सकती है। उनके अनुसार काव्यशास्त्र में जिस 'प्रतिभा' अथवा रचना-शक्ति पर इतना बल दिया गया है वह पूरे रचना-व्यापार को समेटने में असमर्थ है। उदाहरण के लिए एस० के० डे मानते हैं कि संस्कृत काव्यशास्त्र में, कवि-व्यक्तित्व अथवा कवि का मनोलोक केन्द्र में न होने के कारण, किसी काव्यकृति के क्रमिक आविर्भाव अथवा उसकी रचना-प्रक्रिया पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। "वह मुख्यत. पाठक-मन में उपजने वाली पुनस्सृजन की प्रक्रिया को ध्यान में रखता है, कवि द्वारा सम्पन्न किये जा रहे सृजन को नहीं।"[2]

1.4 इधर अनुभूति और अभिव्यक्ति या 'अन्तर्वस्तु' और 'रूप' में अद्वैत के समर्थक तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से प्रबुद्ध रहने वाले कुछ नयी कविता के विवेचकों का मत है कि रसवादी काव्यशास्त्रीय दृष्टि अब चुक ही नहीं गयी, बल्कि उपहास्य भी है क्योंकि नयी सर्जना के संदर्भ में वह नितान्त अपर्याप्त एवं अप्रासंगिक है। उदाहरण के लिए नामवर सिंह का विचार है कि हिन्दी के छायावाद-प्रेमी रसचिन्तकों ने जिस स्थायी भाव-मूलक 'अनुभूति' को केन्द्र में रखकर कवि-कार्य का विवेचन किया है वह वास्तव में उनकी ज्ञान-सीमा ही की अनुभूति है। "वे भूल जाते हैं कि कवि-कर्म शास्त्र-निरूपित कुछ गिने-चुने स्थायी या संचारी भावों को उदाहृत करना नहीं है, बल्कि नयी वास्तविकता से उत्पन्न होने वाली वृत्तियों को उजागर करना है।"[3] प्रकारान्तर से यह काव्यशास्त्रीय स्थापनाओं का अस्वीकार है।

1.5. इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य-सिसृक्षण या रचना की प्रक्रिया के सैद्धान्तिक पक्ष को लेकर तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सामने आती हैं—एक में यह मोहातिरेक है कि काव्यशास्त्र सर्वांगपूर्ण होने के कारण पश्चिम से भी अधिक जानकारी प्रदान करता है; दूसरी में यह प्राक्कल्पना काम करती है कि सिसृक्षण काव्यशास्त्र का, पश्चिम की तरह, सीधा विवेच्य विषय नहीं है; और तीसरी अवमूल्यनवादी है जिसे जिज्ञासा-भाव से इस शास्त्र के पास जाने की कल्पना भी असत्य है, लेकिन इतना बोध

1. वही, पृ० 19-20।
2. एस० के० डे, संस्कृत पोइटिक्स एज़ ए स्टडी ऑफ एस्थेटिक्स (बम्बई, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1963), पृ० 74।
3. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1974), पृ० 26।

अवश्य है कि इसने रचना की किसी सैद्धान्तिकी को प्रस्तुत किया है। इनमे से तीसरी प्रतिक्रिया यहाँ इतनी विचारणीय नही है क्योंकि उसका सम्बन्ध वैचारिक मान्यता के साथ है जिसकी किसी को भी छूट हो सकती है। पहली और दूसरी मे तनिक अति-वादिता है।

वास्तविकता यह है कि रचनाकार के रास्ते से सृजन-व्यापार को बहुत महत्व देना संस्कृत काव्यशास्त्र की प्रकृति में नही है। यह उसका ऐतिहासिक वैशिष्ट्य है, जिसके किसी भी चरण पर ग्राहक-पक्ष या सामाजिकों को केन्द्र मे न रखने की अपेक्षित पृष्ठभूमि ही कभी उदित नही हुई थी। इसके विपरीत पश्चिम मे रचनाकार-केन्द्रित सृजन-व्यापार की ओर विवेचकों का ध्यान उस समय तेजी से गया जब स्वयं रोमांटिक कवियों ने रचना-प्रक्रियात्मक वक्तव्यों द्वारा इस प्रकार का विचार किये जाने की पृष्ठ-भूमि तैयार कर दी थी। हमारे यहाँ यह स्थिति बीसवी शती के उत्तरार्द्ध मे उस समय उत्पन्न हुई जब छठे-सातवें दशक के रचनाकारों ने यह आपत्ति की कि समीक्षा उनकी प्रत्याशाओं एव रचना-कर्म के विपरीत जा रही है। संस्कृत काव्यशास्त्र के सामने वे कवि थे जिन्हे इस तरह की शिकायत करने का नैतिक अवकाश नही था; बल्कि कोई आकांक्षा थी तो यही कि उनकी रचनाएँ विद्वद्वर्ग और सहृदय-समाज मे स्वागत्य हो सकें। यानी उस समय की सर्जनात्म श्रेष्ठता का प्रतिमान सामाजिकत्व था और वही काव्यशास्त्र का विचारणीय विषय बना। फिर भी यह कहना गलत है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र कवि के रचनाकर्म पर मौन धारण किये रहा। उसने काव्य के आन्तरिक सृजन-पक्ष का विवेचन सृजन-शक्तियो के रूप मे किया, मानसिक प्रक्रिया के रूप मे नही। अत: वह कवि-मन के रचना-कार्य-रत रूप का पूरा उद्घाटन न करके इस विषय मे कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओ ही को उजागर कर सका। चूँकि उसकी शैली बहुत सघन एव व्याख्यापेक्षी है इसलिए उसके बहुत से हिन्दी व्याख्याकारो ने अपनी सृजन-प्रक्रियात्मक व्याख्याओ मे वे अर्थ भी समेटने चाहे हैं जो सम्भवत मूलपाठ मे नही हैं और जिन्हें दूर की कौडी ही कहा जा सकता है। अत. संस्कृत काव्यशास्त्र में रचना-प्रक्रिया की, आधुनिक अर्थों मे, किसी सैद्धान्तिकी को खीचतान कर तलाशने की बजाए उन बिन्दुओ को समझना अधिक जरूरी है जिनकी प्रासंगिकता तब भी थी और आज भी है।

1.7. संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार कवि-मन में रचनाकर्मोन्मुखी होने की प्रथम इच्छात्मक अवस्था का उद्भव तब होता है जब उसकी सुप्त संस्कारी प्रतिभा किसी तीव्र अनुभव से टकराकर स्फुटित वाणी मे व्यक्त होना चाहती है। यह तीव्र अनुभव किसी अकस्मात् प्रत्यक्षित घटना से भी प्राप्त हो सकता है और किसी महत्तर प्रयोजन की पूर्ति-कामना के रूप भी। इस प्रथमावस्था के प्रसंग मे तीन आख्यान काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे प्रसिद्ध हैं—भरत-वर्णित नाट्योत्पत्ति का आख्यान, राजशेखर-सम्मत काव्य-पुरुषोत्पत्ति का आख्यान, और एकाधिक काव्यशास्त्रियो द्वारा उदाहरण के तौर पर विवेचित वाल्मीकि एव क्रौंचवध का आख्यान। पहले दो आख्यानो मे अनुभव प्रयोजन-

प्रसूत है, जबकि तीसरे में तात्कालिक घटना से स्फुरित और बाद में प्रयोजन के स्तर पर अभिव्यक्त है।

भ्रमवश या पूर्वाग्रह के कारण भागीरथ दीक्षित जैसे आधुनिक व्याख्याकार 'नाट्योत्पत्ति' एवं 'क्रौंचवध' के प्रतीक-प्रसंगों के आधार पर 'सृजन' को वेद्यान्तर शून्य अथवा बाह्य-प्रयोजन से शून्य व्यापार सिद्ध करते हुए 'सृजन' और 'शिल्पन' में मनचाही दरार पैदा करना चाहते हैं। भरत के अनुसार ब्रह्मा या नाट्य-स्रष्टा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर उस नाट्यरूपी पचमवेद की रचना की जो 'क्रीड़नीयकम्' था। भागीरथ दीक्षित[1] के शब्दो मे—"नाट्य-उद्भव का यह महत्वपूर्ण सदर्भ शिल्पन और सृजन के मूलभूत अन्तर की ओर संकेत करता है।" उनकी राय में नाट्य-स्रष्टा ने जो वेदो से सामग्री ली वह 'शिल्पन' है जबकि 'क्रीड़नीयक' सृजन का प्रतीक है। "जहाँ भी सजग, पूर्वनिर्दिष्ट साध्य की उपलब्धि के लिए वाणी के कौशलो का उपयोग किया जाता है वहाँ सर्वत्र वागात्मक शिल्पन ही होता है। अन्यो को प्रभावित, प्रवलित, चमत्कृत अथवा विमुग्ध-प्रबुद्ध करने के उद्देश्य से या मनोरजन मात्र के लिए जितनी वाक्सम्पदा प्रस्तुत की जाती है वह शिल्प के स्तर से रत्ती भर भी ऊपर नहीं मानी जा सकती।"

इसका मतलब यह हुआ कि सर्जन-व्यापार किसी साध्य का साधन नही, स्वय ही मे साध्य और साधन दोनों है, और यह बात वह आगे चलकर डके की चोट पर कहते है। जब वह कवि-दृष्टि की प्रतिबद्धता पर बरसते है तब बात साफ हो जाती है कि,भरत तथा अभिनव गुप्त के हवाले से कूपमण्डूकता का प्रकाशन किया जा रहा है। 'शिल्पन' के बिना 'सृजन' की सत्ता ही क्या है और 'सृजन' के बिना 'शिल्पन' की चर्चा की सार्थकता ही क्या हो सकती है ? वास्तविकता यह है कि नाट्यस्रष्टा ने जो कुछ वेदो से लिया वह तो कच्ची सामग्री थी जिसका सग्रह हर रचनाकार के पास होना चाहिए। *इस सामग्री की सहायता और अपनी उन्मेषशालिनी प्रतिभा (जो सामग्री-सकलन के समय भी उचित के चयन में क्रियाशील थी) से उन्होंने नाट्यवेद के रूप मे जो नया और प्रयोजन सहित* शिल्पन किया (ताकि वह सभी वर्णों के लिए 'क्रीड़नीयकम्' हो सके) वही सृजन था।

अभिनव गुप्त ने 'क्रीड़नीयकम्' की व्याख्या करते हुए लिखा है—"क्रीडयते चित्त विक्षिप्यते विद्यिते येन" और फिर स्पष्ट किया है कि—"क्रीडनाय हितम् क्रीडनीयकम् उभयत्राज्ञातार्थे क । इदम स्माक गुड प्रच्छन्न कटुकौषधकल्प चित्त विक्षेप मात्र—फल इति यन्न ज्ञायते।"[2] अर्थात जिससे चित्त का बहलाया जा सके या चित्त विनोद के लिए जो हितकर हो वह क्रीडनीयक है। दोनो मे 'क' प्रत्यय अज्ञात अर्थ मे है। उससे यह पता

---

1. भागीरथ दीक्षित, अभिनव साहित्य-चिन्तन (पूर्वोद्धृत) पृ० 40-41।
2. हिन्दी अभिनव-भारती (दिल्ली विश्वविद्यालय, हिन्दी अनुसधान परिषद, 1960) पृ० 67।

नहीं चलता कि वह गुड़ में लिपटी कड़वी औषधि के समान हमारे चित्तविक्षेप के लिए है। भागीरथ दीक्षित के अनुसार—"इस व्याख्या का आशय है कि 'क्रीडनीयक' में किसी बाह्य उद्देश्य या फल का बोध नहीं होता। शास्त्रीय शब्दावली में इसे 'वेद्यान्तर शून्यता' कहा जाता है अर्थात् अन्य बोध का अभाव।...मानवीय क्रिया दो प्रकार की होती है। एक में क्रिया किसी साध्य की प्राप्ति में साधन होती है, और दूसरे प्रकार की क्रिया साध्य और साधन दोनों होती है। खेल या 'क्रीडनीयकम्' दूसरे प्रकार की क्रिया है। काव्य-सृजन भी वाणी की एक विशिष्ट क्रिया (या व्यापार) है जो इस दूसरे प्रकार की होती है।" इसके बाद भागीरथ दीक्षित 'क्रीडनीयक' को पाश्चात्य रचना-प्रक्रिया विवेचकों द्वारा व्यवहृत 'प्ले' की प्रवृत्ति के साथ जोड़ते हुए 'क्रीड़ा के लिए क्रीडा' के समानान्तर 'सृजन के लिए सृजन' की स्थापना करते हैं।

1.8 यह सारा प्रपंच मनमानी व्याख्या पर खड़ा है। पहली बात तो यह है कि इसमें प्रमाता के रसानुभव के साथ कवि की सृजन-प्रक्रिया को गड़बड़ा दिया गया है। साहित्य दर्पणकार[1] ने 'वेद्यान्तर स्पर्श शून्यता' को रस की एक विशेषता के रूप में ग्रहण किया है जिसका मुख्य सम्बन्ध सहृदय में रसोद्रेक के साथ है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध श्लोक में सत्वोद्रेक, अखण्डता, स्वयं-प्रकाशानन्द चिन्मयता, लोकोत्तर चमत्कार, ब्रह्मानन्द सहोदरता, स्वाकारवदभिन्नता तथा आस्वाद्य रूपता आदि रस की जो विशेषताएँ गिनायी हैं उन्हीं में से एक 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता' है। इसमें रसानुभव को अन्य ज्ञान से शून्य इसलिए कहा गया है क्योंकि आत्मा की तन्मयावस्था में प्रमाता 'स्व' और 'पर' के बोध से ऊपर उठ जाता है और दिक् तथा काल की परिधि में आबद्ध नहीं रहता। अतः 'वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यता' आस्वादकीय रसग्राहकता की स्थिति है जिसके बिना काव्यानन्द को ऐन्द्रिय आनन्द से भिन्न एवं ऊँचे स्तर पर अनुभव नहीं किया जा सकता। काव्य-रचना की प्रक्रिया में भी यही चरण आता है लेकिन वहाँ 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता' पूरी प्रक्रिया का आधारभूत तत्व नहीं, एक महत्वपूर्ण क्षण है। यह क्षण उस समय उपस्थित होता है जब किसी तीव्र अनुभव के हो जाने और उस अनुभव की सप्रयोजन अभिव्यक्ति का निर्णय लेने के उपरान्त, अनुभव को बाह्य संदर्भों से काटकर उसे एकाग्र विचरण का विषय बनाया जाता है ताकि उसकी नवलता का साक्षात्कार किया जा सके। इस क्षण में अन्य ज्ञान विलुप्त नहीं हो जाता बल्कि पृष्ठभूमि में चला जाता है। दूसरी बात यह है कि पाश्चात्य शब्द 'प्ले' या खेल भी, अधुनातन मनोविज्ञान के अनुसार, साधन-मात्र है, साधन और साध्य दोनों कदापि नहीं। इसका मतलब है 'प्ले विद इरेलेवेंसीज' अर्थात् अप्रासंगिकताओं के साथ क्रीड़ा जो किसी प्रासंगिकता की तलाश के लिए की जाती है और जिसके लिए मूल अनुभव का किसी बाह्य उद्देश्य में विस्तार पाना जरूरी होता है। तीसरे,

1. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण—3/2, 3।

'क्रीडनीयक' भी वस्तुतः बाह्य उद्देश्य या फल से सम्पृक्त नहीं है—कम-से-कम यह बात न तो भरत के आशय में सम्मिलित है और न अभिनवगुप्त की व्याख्या में। भरत के आख्यान में, त्रेता युग के लोग जब ईर्ष्या, क्रोध, काम, लोभ आदि के वशीभूत उच्छृंखलता का शिकार हो रहे थे तब देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि "क्रीडनीयक मिच्छामो दृश्य श्रव्यं च यद् भवेत्"[1]—अर्थात् हम लोग एक ऐसा 'क्रीडनीयक' चाहते हैं जो देखा भी जा सके और सुना भी। निश्चित रूप से यहाँ वाणी का उद्देश्य पूर्व-निर्दिष्ट है—मनः प्रसादन या विनोद द्वारा सामाजिक अनाचार का शमन, जिसके लिए 'अमृतमंथन' नामक समवकार को रचा और खेला गया अर्थात् वाक्-कौशल्य के उपयोग का समुचित विधान किया गया।

1.9. अब अभिनव की व्याख्या को लीजिए। उनके अनुसार 'क्रीडनीयक' गुड़ में लिपटी हुई औषधि के समान हमारे चित्त को एकाग्र करने या किसी मार्ग पर लगाने के लिए नहीं है। इसका मतलब किसी बाह्य उद्देश्य या फल के बोध का अभाव नहीं है बल्कि गुड़ तथा कटुक औषधि, दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता का पारस्परिक रालयन है जो नाट्य जैसी दृश्य-श्राव्य विधा में आशु-प्रभावी होता है। ध्यान दिया जाना चाहिए कि 'क्रीडनीयक' में क्रीडा या विनोद अर्थात मनोरंजन ही का अर्थ ध्वनित नहीं होता बल्कि यह किसी रचना की सारी मचीय अपेक्षाओं को भी समाहित करता है। 'क्रीडनीयक' क्रीड़ा-भाव-प्रधान या मनोविनोदमयी रचना ही का द्योतन नहीं करता, 'क्रीड़ा के योग्य' अर्थात मंच-प्रस्तुतीकरण की विशिष्टता को भी रेखांकित करता है। इसमें गम्भीर काव्य-रचना की तरह तनाव का धीमा विरेचन नहीं, उसकी आकस्मिक उन्मुक्ति होती है। मनोविज्ञान की शब्दावली में इसे स्वचालित प्रतिवर्त कहा जाता है और इसकी तुलना किसी हवा-भरी ट्यूब में तीखी कील चुभने के साथ की जाती है। यही वजह है कि आर्थर कोइस्लर जैसे मनोवैज्ञानिकों ने हास्य-विनोद को सर्जनशीलता का एकमात्र ऐसा क्षेत्र माना है जिसमें किसी सजटिल एवं उच्चस्तरीय उद्दीपन से एक स्पष्ट शरीर-स्तरीय अनुकार्य को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। 'क्रीडनीयक' की विनोद-प्रधान व्याख्या द्वारा अभिनव ने इस क्षिप्र प्रभाव-प्रक्रिया की ओर बहुत पहले संकेत कर दिया था।

1.10. क्रौंचवध के आख्यान को बार-बार उद्धृत किये जाने के आधार पर प्रायः यह निष्कर्ष ग्रहण किया जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में स्फुरण और सृजन पर्यायवत हैं। यह बात नहीं है। इस शास्त्र में सारस्वत अनुकम्पा से प्राप्त प्रतिभ स्फुरण को महत्व अवश्य दिया गया है लेकिन स्फुरण को न तो पूरे सृजन का दर्जा दिया गया है और न ही वह स्फुरण प्रयोज्य विषय से इतर किसी पदार्थ का होता है। आदि-कवि के प्रथम श्लोक का स्फुरित होना कोई कार्य-कारण-विहीन इल्हाम नहीं है; क्रौंचवध के समय क्रौंची के आर्त्तनाद को सुनकर कवि के मन में जिस शोक की अनुभूति हुई उसका

1. भरत, नाट्यशास्त्र, 1-11।

तात्कालिक प्रयोजन विषाद अथवा आततायी का श्राप रूप में खण्डन था। इसी का निस्तारण बाद मे 'रामायण' जैसे महाकाव्य मे एक ऐसे विस्तृत फलक पर किया गया कि उस प्रथमानुभूति का स्फुरणात्मक स्वरूप पूरी तरह से बदल गया। इसका मतलब यह हुआ कि स्फुरणात्मक अनुभूति सावेगिक तीव्रता की प्रथमावस्था पर अधिक-से-अधिक एक संक्षिप्ततम रचना या श्लोक का कारण तो बन सकती है मगर सुविचार की प्रक्रिया से गुज़रकर अर्थात रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा के संस्कार-जनित, व्युत्पत्ति-जनित और अभ्यास-जनित गुणो के समावेश द्वारा ही—जिनमे उसका शब्दार्थ-ज्ञान और उक्ति-सामर्थ्य भी सम्मिलित है—किसी प्रबन्धित रचना मे ढलती या विकसित होती है। इस तथ्य को स्वय आदि कवि ने स्वीकार किया है। प्रथम शोकानुभूति की अभिभूतावस्था से जब वे उबरे तब उन्होंने सोचा—"शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको न भवतु अन्यथा"[1]—मेरे शोकस्त्ते-मन का यह श्लोक अन्यथा नही हो सकता। इस 'अन्यथा' के विद्वानो ने अनेक अर्थ किए हैं। किसी के अनुसार 'अन्यथा का ध्वन्यार्थ मिथ्या है—अर्थात् वाल्मीकि को लगा कि उनकी अनुभूति मिथ्या या अप्रामाणिक नही हो सकती; किसी ने इस 'अन्यथा' का यह अर्थ लिया है कि पक्षी-हत्या के व्यवसायी निषाद के लिए कही वह श्लोक सचमुच का श्राप न बन जाए अर्थात वैयक्तिक वैर-शोधन न समझ लिया जाए। अर्थ कुछ भी हो, सृजन-व्यापार की दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वाल्मीकि ने उस अनुभूति की सलिप्तावस्था से बाहर निकल कर अपने अभिप्रेरक तत्व पर सुविचार किया जिसके फलस्वरूप वह उसे व्यापक मानवीय सन्दर्भ प्रदान करने की दिशा मे अग्रसर हुए। भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत जिस अमंगल के नाश और मगल के पोषण की बात की जाती है, रचनाकार के मन मे उसकी शुरुआत इसी अवस्था पर होती है। नाट्योत्पत्ति और 'अमृतमथन' के प्रसग मे यह उद्देश्य रचनात्मक अनुभूति से भी पहले निर्दिष्ट था अर्थात् अनुभूति ही का उत्प्रेरक था जबकि क्रौंचवध के प्रसग मे उसका निर्धारण प्रत्यक्ष घटना से प्राप्त अनुभव या अनुभूति के उपरान्त किया गया। इससे यह स्पष्ट होता है कि रचना की प्रक्रिया के पहले चरण पर ही नहीं, दूसरे या अन्य पर भी एक सुस्पष्ट प्रयोजन रचनाकार या रचना की दृष्टि का निर्माण कर सकता है।

1.11 सस्कृत काव्यशास्त्र मे रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि उसमे लौकिक प्रत्यक्ष और कवि-प्रत्यक्ष मे स्पष्ट अन्तर किया गया है। एकाधिक काव्यशास्त्रियो के अनुसार, कवि-कर्म मे बाह्य जगत से प्राप्त सवेदनाएँ काव्य-बिम्ब मे बँध कर विशिष्ट हो जाती हैं। यह वैशिष्ट्य मूलतः व्यक्तिबद्धता के अतिक्रमण के कारण उपजता है लेकिन इसका स्वरूप कवि-व्यक्तित्व के अनुसार होता है। इसकी तुलना उस शुक्ता के साथ की गयी है जो स्वाति की सामान्य बूंद को ग्रहण करता है

---

1. वाल्मीकि, रामायण, बालकाण्ड—2.3।

मगर अपनी सामर्थ्य के अनुसार मोती को आकार-प्रकार प्रदान करता है। रुय्यक[1] के अनुसार सीप पहले गर्भाधान के हेतु समुद्र-तल पर खुले-मुँह तैरता है और फिर स्वाति-बूँद को सम्पुट में बन्द कर लेने के उपरान्त समुद्र-तल में चला जाता है जहाँ सीप के सामर्थ्य एवं अवस्थिति के अनुरूप बूँद अपने लौकिक स्वरूप को खो देती है और मोती मे परिणत हो जाती है। यह दृष्टान्त वैसे तो सिसृक्षण के पूरे भावन पक्ष को संकेतित करता है लेकिन मुख्यतः इससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं — कि लौकिक प्रत्यक्ष और कवि-प्रत्यक्ष मे इस भिन्नता के कारण रचना-कर्म को अनुकरण की प्रक्रिया नहीं समझना चाहिए; रचना-सत्य जीवन-सत्य की अपेक्षा विशिष्ट और प्रभावोत्पादक होता है; रचनाकर्म मे रचनाकार की प्राकृतिक प्रातिभ-शक्ति के अतिरिक्त उसकी वर्गीय मानसिकता और अवधानात्मक कल्पना-सामर्थ्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

1.12. संस्कृत काव्यशास्त्र में 'भावना' कवि की मूल सर्जनात्मक क्रिया है। रसानुभव के सन्दर्भ मे इसे पशुओं के रोमंथन जैसी 'चर्वणा' कहा गया है। बाह्य जगत से संवेदनाएँ प्राप्त करने के उपरान्त कवि, लौकिक प्रत्यक्ष को कवि-प्रत्यक्ष मे बदलने की प्रक्रिया के इस दूसरे स्तर पर, वस्तु का भावन करता है और उसे भावना-प्रत्यक्ष के रूप में ग्रहण करता है। 'भावना' के मूल में 'भू' धातु है जिसका अर्थ ही 'उत्पन्न करना' है। जिस प्रकार योगी ध्यान और साधना से अपनी भावना को समृद्ध करता हुआ अतीन्द्रिय तत्व को प्रत्यक्ष-वत् देख या जान लेता है, उसी प्रकार कवि अपने निसर्ग-स्वभाव तथा अनुभव-ज्ञान के बल पर कल्पना को यथार्थ और यथार्थ को कल्पना का रंग देकर, भावना की क्रिया से, काव्य-वस्तु को सम्प्रेष्य एवं आस्वाद्य बनाता है। भावना कवि-प्रतिभा के रचनात्मक प्रकर्ष की पहचान है। यही वजह है कि अधिकांश काव्यशास्त्रियों ने इसका पृथक विवेचन न करके इसे 'प्रतिभा' की आधारभूत सर्जनात्मक शक्ति में अन्तर्विष्ट किया है। राजशेखर ने प्रतिभा का प्रकर्ष अप्रत्यक्ष के प्रत्यक्षीकरण मे मानते हुए प्रकारान्तर से भावना ही के महत्व को रेखांकित किया है। उनके अनुसार इसी के बल पर महाकवि देशान्तर व्यवहार (जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' मे स्वर्गस्थ तपस्वियों का वर्णन), द्वीपान्तर व्यवहार (जैसे 'रघुवंश' में अनदेखे द्वीपों का वर्णन) और कथा-पुरुष व्यवहार (जैसे 'कुमारसम्भव' में विश्रुत एवं काल्पनिक कथा-पात्रों का सजीव चित्रण) को समझने और दृश्यवत् प्रस्तुत करने की योग्यता रखता है।[2] काव्यशास्त्र में भावना को शाब्दी और आर्थी प्रकार की भी माना गया है लेकिन अभिनव गुप्त ने 'ध्वन्यालोक लोचन' के द्वितीय उद्योत मे भट्टनायक के भावन-सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए इस ओर संकेत किया है कि ये दोनों भावना के प्रकार न होकर शब्दार्थमय ध्वनन-व्यापार के अन्योन्याश्रित पक्ष हैं। ध्यातव्य है कि किसी वस्तु की भावना अपने आप मे रस की अवस्था नहीं है। भावना का व्यापार बुद्धि-प्रधान होता है और इसमें

1. रुय्यक, अलंकार सर्वस्व।
2. राजशेखर, काव्यमीमांसा (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1965) पृ० 28।

सृष्टा तथा विषय का द्वैत रहता है। इस द्वैत की समाप्ति और भावात्मकता की मुख्यता के लिए भावना की अवस्था से रसावस्था में पहुँचना जरूरी होता है।

1.13 संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार कवि के सम्पूर्ण व्यापार का पर्यवसान रस-सिद्धि में होता है, इसलिए उसका चरमोत्कर्ष रसावस्था है। कवि अथवा नाटककार द्वारा मानसिक धरातल पर किया गया भावन अर्थात् उन भावो का सयोजन जो काव्य-वस्तु के होने तथा उसे प्रभावोत्पादक बनाने के कारण हैं, और शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति—दोनो प्रक्रियाएँ इसी सिद्धि की साधनाएँ हैं। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि नाटककार जब तक उस रस पर अपने ध्यान को केन्द्रित नही कर लेता जिसको वह प्रदर्शित करना चाहता है तब तक वह प्रभावशाली रूप में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो को प्रकट नही कर सकता।[1] आनन्दवर्धन ने भी एकाधिक बार लिखा है कि—"रसबंधन ही कवि की प्रवृत्ति का मुख्य कारण है और इतिहास-वर्णन तो उसका उपाय मात्र है।"[2] राजशेखर ने सोलह प्रकार के काव्यार्थ-स्रोतो को गिनाया है—जिनमे श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, लोक आदि प्रमुख हैं—और फिर एक श्लोक को उद्धृत किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि "जिस प्रकार सूर्य की सतप्तकारिणी रश्मियाँ चन्द्रमा के रूप में परिणत होकर शीतल, कोमल और सतापहारिणी हो जाती है, उसी प्रकार तर्क-कर्कश सिद्धान्त भी कवि-कल्पना का आधार लेकर माधुर्यमय बन जाते हैं।"[3] मतलब यह कि रस-सवेद्य अर्थ-सम्प्रेषण ही कवि-कर्म का सर्वस्व है। काव्यशास्त्र में रस के चार विधायक तत्व माने गए हैं—विभाव, अनुभाव, सचारी भाव और स्थायीभाव। मूलत स्थायीभाव काव्यकार और सामाजिक दोनो के अन्तःकरण में पहले से विद्यमान होता है और उसी का प्रसार 'रस' है, इसलिए शेष तीनो को क्रमशः रस का कारण, कार्य और सहकारी कारण कहा जा सकता है। कवि-कर्म अन्ततोगत्वा इन्ही के योग से रस-निष्पत्ति का शब्दार्थमय व्यापार है। काव्य-सर्जना की इस रस-सिद्ध अवस्था पर पूर्वोल्लिखित 'भावना' मे विषय या वस्तु का साधारणीकरण हो जाता है और वह शब्दार्थ के माध्यम मे रस-सवेद्य हो उठती है। इस प्रकार 'कविगत सवित्' का 'सर्वसवित' बन जाना ही सिसृक्षण की रसावस्था है। काव्यशास्त्र में इसे कवि-संवेदना की लोकोत्तर सविति कहा जाता है जिसके अभाव मे यदि कोई रचना लिखी जाती है तो वह 'काव्य' न कही जाकर 'काव्यानुकार' अथवा 'आलेखप्रख्य' कहलाती है।

1.14. काव्यशास्त्र मे उपर्युक्त रस-सवेद्यता या रस-प्रतीति की निर्विघ्नता पर भी बल दिया गया है। आधुनिक शब्दावली मे इसे रचना प्रक्रिया का अखण्डित होना कहा जाता है। अभिनवगुप्त के अनुसार रसविघ्न[4] सात प्रकार के होते हैं—ज्ञान की

1 हिन्दी अभिनवभारती (पूर्वोद्धृत), पृ० 273।

2. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत की कारिका-19, प्रथम की-9।

3. राजशेखर, काव्यमीमासा (वही), पृ० 95।

4. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 474।

अयोग्यता अथवा रसात्मक अर्थ-बोध की असमर्थता, स्वगत या परगत रूप से देशकाल विशेष के प्रभाव से विच्छिन्न न हो सकना, व्यक्तिगत सुख-दुख के वशीभूत रहना, प्रतीति के उपायों का वैकल्य, स्फुटत्व का अभाव, अप्रधान की प्रधानता, और संशय-भावना। ये विघ्न रसस्रष्टा कवि और रसग्राहक सहृदय, दोनों के लिए हानिकारक हैं।

1.15. चूंकि संस्कृत काव्यशास्त्र की यह आधारभूत मान्यता है कि कवि-कर्म की प्रयोजनात्मक सार्थकता पाठकों तक पहुँचने और उन्हें आह्लादित करते हुए लोकोत्तरता तक ले जाने में होती है, इसलिए उसमें पाठक-दर्शक या प्रमाता भी रचना की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण एवं निर्णायक घटक माना गया है। कवि-व्यापार रस-सम्प्रेषणात्मक होता है। इसका सीधा मतलब है कि रचनाकार के मन मे पाठक या सहृदय की पूर्व-कल्पना निरन्तर बनी रहती है। दूसरे शब्दों में कहे तो काव्यशास्त्र के अनुसार कवि और प्रमाता रचनात्मक अनुभव के सहभागी होते हैं। अत. काव्यशास्त्रियों ने सर्वाधिक ध्यान इस बात पर दिया है कि सहृदय के गुण क्या होते हैं और वह किस प्रक्रिया से कविगत आशय या रसानुभव के तल तक पहुँचता है। उनके अनुसार रसिकत्व, सहृदयत्व प्रतिभाशक्ति, बौद्धिक आधारभूमि, कल्पनात्मक भावना या चर्वणा, मनोकायिक स्वस्थता और तन्मय होने की सामर्थ्य—दर्शक या पाठक के अनिवार्य गुण हैं। कहना न होगा कि प्रकारान्तर से ये गुण कवि-कर्तृत्व की भी वांछनीयताएँ हैं। अत: यह समझ लेना गलत होगा कि हर साधारण व्यक्ति 'प्रमाता' या 'सामाजिक' होता है अथवा हर रचना हर व्यक्ति के लिए रची जा सकती है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रमाता एक विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्ति है जो विशिष्ट मानसिक प्रक्रिया की योग्यता के कारण ही काव्यानुभव का रसास्वादन करता है। कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने[1] अभिनवगुप्त के हवाले से, इस प्रक्रिया को इन्द्रियबोध के तल से रसानुभव के तल तक पहुँचने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कहा है। उनके अनुसार काव्यशास्त्र-सम्मत इस प्रक्रिया मे दर्शक या पाठक पहले रसानुभवोन्मुख होता हुआ इन्द्रियबोध के तल से प्रारम्भ करता है, इन्द्रियबोध के तल से आत्मविस्मृति के तल पर, आत्मविस्मृति से तन्मयता के तल तक, तन्मयता अथवा तादात्म्य से कल्पना तक कल्पना से भावतल तक और भाव के तल से पूर्ण साधारणीभाव के तल तक पहुँचता है।

1.16. संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि-वाणी अथवा कवि-कर्म की अभिव्यक्ति क्रिया का बहुल एवं समृद्ध विवेचन उपलब्ध होता है। 'वस्तु' और 'रूप' सम्बन्धी नये पाश्चात्य सिद्धान्तों की रोशनी से चुँधिया जाने वाले कुछ आधुनिक साहित्य-समीक्षकों की यह शिकायत सर्वथा अनुचित है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस को काव्यात्मा और शब्द को केवल शरीर कहकर दोनों मे दरार ही पैदा नहीं की गई है बल्कि रचनात्मक

---

1. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र भाग-1 (वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1967) पृ॰ 191-201।

अभिव्यक्ति को दूसरे स्थान पर रखा गया है या रसात्मक भावन की अनुचरी बना दिया गया है। तथ्य इसके एकदम विपरीत है। बहुत दूर न जाकर यदि हम काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत कुछ काव्य-परिभाषाओं पर ही दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि उनमें 'रम' शब्द का प्रयोग विशेषण-रूप में किया गया है अथवा विशिष्ट प्रकार के शब्दार्थ को काव्य की सज्ञा दी गई है। भामह तो इस सीमा तक चले गए कि उन्होंने 'शब्दार्थौ काव्यम्' की घोषणा की और फिर यह भी कहा कि काव्य में शब्द सौंदर्य द्वारा जितना चमत्कार उत्पन्न हो सकता है उतना अर्थ-सौन्दर्य द्वारा नहीं, कि सर्वप्रथम सौशब्द्य वाणी ही अपने मधुर विन्यास द्वारा हमें आह्लादित करती है, उस समय अर्थ-प्रतीति का कोई विषय उपस्थित नहीं भी हो सकता। फिर भी उन्होंने शब्दार्थौ "सहितौ काव्यम्' कहकर काव्य की सत्ता शब्द और अर्थ दोनों में स्वीकार की।

पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शब्द' के साथ 'रमणीयार्थ-प्रतिपादक' का और विश्वनाथ ने 'वाक्य' के साथ 'रसात्मक' का विशेषण लगाकर शब्द और वाक्य के वैशिष्ट्य को रेखांकित किया। इसी प्रकार दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' को काव्य का शरीर-लक्षण कहा तो वामन ने 'विशिष्टा पदरचना' को काव्यात्मा के रूप में स्थापित किया। मम्मट ने 'अदोष शब्दार्थे' को, कुन्तक ने 'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकवि-व्यापार' को, हेमचन्द्र ने 'अदोषौ सगुणै सालंकारौ च शब्दार्थौ' को और भोज ने 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्' को काव्य लक्षण में प्रमुखता देकर यह सिद्ध किया कि काव्य-व्यापार मूलतः सार्थक शब्द साधना ही का नाम है। संस्कृत कवियों एवं काव्य-शास्त्रियों के लिए शब्द ब्रह्म का प्रतीक रहा है क्योंकि आदि-स्रष्टा की मानसी सृष्टि का जागतिक प्रकाशन इसके बिना असम्भव था। उन्होंने तो यह सिद्ध किया कि जहाँ तीव्र सृजनेच्छा होगी वहाँ शब्द भी उसके साथ उद्भूत हो उठेगा। काव्यशास्त्र में शब्द और अर्थ की (आधुनिक शब्दावली में 'रूप' एवं 'अन्तर्वस्तु की) सायुज्यता ही सिसृक्षण है; इस सायुज्यता का नाम 'वाणी' है जो 'वीणा-पाणि' अथवा काव्यदेवी के रूप में विराट छंद-लयात्मक संश्लेषण की प्रतीक है। निष्कर्ष यह कि काव्यशास्त्र सर्जना को शरीर तथा आत्मा या अभिव्यक्ति और भावना में विश्लेषणात्मक दूरी नहीं पैदा करता, उनमें आद्योपान्तक संश्लेषण की अविभाज्यता को रेखांकित करता है। इसे 'रस-ध्वनि' कहा जाता है जिसका गौरव-गान आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों तथा 'विक्रमांक देवचरित्रम्' के बिल्हण जैसे रचनाकार ने किया है जिसके अनुसार रस-ध्वनि से रहित काव्य-व्यापार 'शुकवाक्य पाठम्' है।

1 17—काव्यशास्त्रीय मनीषा ने यदि शब्दार्थ को काव्य स्वीकार किया है तो स्पष्ट है कि वह सृजन-व्यापार के भाषिक तल के प्रति असावधान नहीं है। इस संदर्भ में उसने अक्षर ब्रह्म, व्याकरणशास्त्र, अलंकारशास्त्र, वाणी-विभेदों, शब्दशक्तियों, वाक्य-संघटना आदि का दोहन किया है और अनेक सुचर्चित सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी। ये सिद्धान्त रचना की प्रक्रिया में अभिव्यक्ति के विकास को ध्यान में रखकर नहीं बल्कि धर्म-दर्शन, व्याकरणशास्त्र, पूर्ववर्ती आचार्य-मतों के खण्डन-मण्डन तथा अनेक कवियों

की भाषा के वर्गीकृत अध्ययन की प्रेरणा से इस प्रकार प्रतिपादित किए गए हैं कि इनसे काव्य-भाषा के वाञ्छनीय एवं निर्देशात्मक स्वरूप का उद्‌घाटन अधिक होता है। चूँकि इनका प्रयोजन कवि-कर्म का मार्ग-दर्शन है इसलिए रचना-प्रक्रिया के विशेष संदर्भ में ये परोक्ष रूप ही से प्रासंगिक कहे जा सकते हैं। वाणी को परा, वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती आदि के प्रकारों में बाँटना; कवि के वाक्तत्व को नियतिकृत नियमों से रहित, आह्लादैकमय, अनन्यपरतंत्र तथा नवरसरुचिर सिद्ध करना; भाषा में शब्दार्थ की सम्पृक्ति, व्याकरणानुरूपता, नादमयता और छन्दोविचिति इत्यादि पर बल देना; भाषा के आधार पर कवियों की श्रेणियाँ बनाना; पाचाली, वैदर्भी और गौड़ी आदि काव्य-रीतियों के मानक स्थापित करना—काव्यशास्त्र के ये सब विवेच्य विषय सिसृक्षण के भाषायी आयाम को तो केन्द्र में रखते हैं किन्तु कवि के व्यापार विशेष के रूप में उसका व्याख्यान नहीं करते। फिर भी आनन्दवर्धन[1] जैसे काव्यचिन्तक ने कालिदास के हवाले से स्पष्ट किया है कि काव्य-रचना की प्रक्रिया में उपयुक्त भाषा-प्रयोग ही वह महत्वपूर्ण घटक है जो अचारु विषय को भी चारु एवं आस्वाद्य बनाता है—उदाहरण के लिए पार्वती भगवती के सम्भोग-प्रसंग को कलात्मक रूप प्रदान करना। इसी प्रकार उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि काव्य-भाषा के निर्माण में काव्य रूपों का आग्रह भी निर्धारक महत्व रखता है। इसीलिए एक ही कवि जब भिन्न-भिन्न काव्य रूपों में रचना करता है तब उसकी काव्य-रचना कभी असमासा, कभी मध्यसमासा और कभी दीर्घ-समासा हो जाती है। राजशेखर[2] तो यहाँ तक मानते हैं कि 'महाकवि' उसी को कहा जा सकता है जो काव्य के प्रबंधात्मक रूप को रचते समय प्रदीर्घ भाषा-व्यापार की ताजगी को बनाये रखता है। उनके अनुसार 'महाकवि' से भी बड़ा कोई बिरला विश्वस्तरीय 'कविराज' होता है क्योंकि वह भिन्न-भिन्न भाषाओं में कलम चलाकर भिन्न भिन्न प्रबंधों और रसों की सृष्टि करता है।

सारांशत. भारतीय काव्यशास्त्रीय विवेचना में यद्यपि रचनाकार की ओर से रचना की प्रक्रिया के उद्‌घाटन को केन्द्रीय महत्व प्रदान नहीं किया गया है, तथापि उसमें ऐसे अनेक सूत्र-संकेत विद्यमान हैं जिनकी समुचित व्याख्या से रचना-प्रक्रिया की आधुनिक अवस्थात्मक समझदारी को समृद्ध किया जा सकता है।

2. सौंदर्य शास्त्रियों एवं साहित्य-विचारकों द्वारा अवस्था-निर्धारण

हालांकि बहुत से सौंदर्यशास्त्री और साहित्य-विचारक समय-समय पर कलात्मक सृजनात्मकता के रहस्योद्‌घाटन की समस्या के साथ जूझते रहे हैं, फिर भी उसकी

---

1. आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत की कारिका 7-9।
2. राजशेखर, काव्यमीमांसा (पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1965) पृ० 48

प्रक्रिया का अवस्थात्मक विवेचन बहुत कम विद्वानों ने किया है। जिन्होंने किया है उनमें से भी बहुत कम ऐसे हैं जो अपनी स्थापनाओ को दूर तक स्पष्ट होने का अवकाश देते हैं।

2.1 क्रोचे द्वारा निरूपित अवस्थाएँ

क्रोचे के अनुसार—"सौन्दर्यात्मक उत्पादन की पूरी प्रक्रिया का चार अवस्थाओं में द्योतन किया जा सकता है। ये अवस्थाएँ हैं—(1) प्रभाव (इम्प्रेशन्ज़) ; (2) अभिव्यंजना (एक्सप्रेशन) या आध्यात्मिक सौन्दर्यपरक संश्लेषण (स्प्रिचुअल एस्थेटिक सिंथेसिस); (3) सुखात्मक संगति (हेडोनिस्टिक एकम्पनिमेंट) या सौन्दर्यानन्द (एस्थेटिक प्लेज़र); (4) सौंदर्यात्मक तथ्य का भौतिक दृश्यप्रपंच मे रूपान्तरण (ट्रांस्लेशन ऑफ दि एस्थेटिक फैक्ट इन टु फिजिकल फेनॉमिना) अर्थात् ध्वनियों, स्वरको (टोन्ज़), हरकतो तथा रंग-रेखाओ के संयोजनों मे बदलना।"[1]

प्रभावों से क्रोचे का मतलब है स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की गृहीतियां जो न सच्ची होती हैं न मिथ्या, बल्कि सिर्फ सहजानुभूतियाँ होती हैं। इन्हें प्रत्यक्षणाएँ (पर्सेप्शन्ज़) नही कहा जा सकता क्योकि प्रत्यक्षण में किसी सामग्री के वास्तविक अस्तित्व की पूर्व कल्पना रहती है। प्रत्यक्षणाएँ झूठी हो सकती हैं मगर सहजानुभूतियाँ पूरी या अधूरी तो हो सकती हैं, सच्ची या झूठी नही। क्रोचे इन्कार नही करते कि 'प्रभाव' यथार्थ जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और सब तरह का स्वयं प्रकाश्य ज्ञान इन्ही से प्राप्त होता है; लेकिन उनका कहना है कि स्वयं प्रकाश्य ज्ञान मे विस्तार पाकर ये 'प्रभाव' इतने बदल जाते हैं कि इनके उत्स का निशान तक नही बचता। इस प्रकार कवि या कलाकार के रचना-कर्म को व्यावहारिक कार्यिकी (प्रेक्टिकल एक्टिविटी) नही कहना चाहिए। वह तो मात्र स्वयं प्रकाश की काल्पनिक व्यंजना है; और इस अर्थ में हम सारी कला को 'भ्रान्ति' (इल्यूज़न) भी कह सकते हैं: भ्रान्ति का अर्थ सत्य से वैपरीत्य नही है। "भ्रान्ति और सत्य मे घनिष्ट सम्बन्ध इसलिए है क्योकि पूर्ण एवं अविकल भ्रान्ति की कल्पना ही नही की जा सकती, अतः उसका कोई अस्तित्व नही रह जाता। भ्रान्ति के दो स्वर हैं, एक मिथ्या का समर्थन करता है, दूसरा उसका खण्डन करता है। यह विधि और निषेध का संघर्ष है जिसे प्रतिवेध (कान्ट्राडिक्शन) कहते हैं।...मिथ्या-समर्थक भ्रान्ति का खण्डन सदैव हो जाता है, निर्णायक के मूल से नही, अपने-आप ही।"[2] अत: क्रोचे मानते है कि 'प्रभाव' की अवस्था से ही रचना प्रक्रिया न तो उपयोगवादी व्यापार

---

1. बी० क्रोचे, एस्थेटिक्स (कलकत्ता, रूपा एंड कम्पनी), पृ० 96
2. बी० क्रोचे, सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्व (इलाहाबाद, किताब महल, 1967) पृ० 9। यह पुस्तक क्रोचे के 'ए लेक्चर प्रिपेयर्ड फॉर दि इनआग्रेशन ऑफ दि राइस इंस्टिच्यूट' का हिन्दी अनुवाद है।

है और न नैतिकतावादी। "सत्संकल्प नीतिपरक व्यक्ति का अविच्छिन्न गुण है, कलाकार का नही।···नैतिक ऊहापोहो को कला पर नही घटाया जा सकता।···एक चित्र को जेल भेजने या मृत्युदण्ड देने के लिए कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं है।"[1] इतना ही नहीं, क्रोचे यहाँ तक मानते हैं कि रचना-कर्म में लीन कलाकर विश्वास-अविश्वास से परे होता है—केवल एक सर्जक। अत उसका रचना-कर्म अवधारणात्मक ज्ञान (कामेप्चुअल कॉलिज) से निरपेक्ष तो होता ही है, वर्गों, प्ररूपों (टाइप्स), जातियो (स्पीसीज़) और प्रभेदों (जेनेस) से भी कोई वास्ता नही रखता।

क्रोचे की मान्यता है कि *रचना-प्रक्रिया की दूसरी अवस्था—अर्थात् अभिव्यजना—ही सर्वाधिक सौंदर्य बोधात्मक और वास्तविक होती है क्योंकि सौंदर्य-तथ्य स्वयं अभिव्यंजना-मात्र है; रूप (फार्म) और केवल रूप है। 'रूप' से उनका तात्पर्य है भावना और बिम्ब का पूर्व सिद्ध समन्वय जो स्वभाव से ही सच्चा अर्थात् सौंदर्यमय होता है। वह 'अन्तर्वस्तु' को झुठलाते नहीं, लेकिन उनका कहना है कि— "भावना या मन स्थिति एक विशिष्ट 'अन्तर्वस्तु' नहीं वरन् एक विशेष प्रकार के स्वयंप्रकाश्य ज्ञान द्वारा देखा गया सम्पूर्ण जगत है, और इसके बाहर किसी ऐसी 'अन्तर्वस्तु' की कल्पना नहीं की जा सकती जो स्वयं प्रकाश्य ज्ञानात्मक 'रूप' का ही एक विभिन्न स्वरूप न हो।"*[2] उनका विश्वास है कि बिम्बरहित भावना अंधी होती है और भावना-रहित बिम्ब शून्य होता है। कलाकार के रचना कर्म में इनका सश्लेषण हो जाता है। यह सश्लेषण ही अभिव्यंजना अथवा कला है।

2.1 3. **तीसरी अवस्था** 'सुखात्मक संगति' भी स्वयं प्रकाश्य ज्ञान ही का चरम रूप है। क्रोचे के अनुसार यह कलाकार के लिए सबसे बड़ा गर्व का लक्षण होता है जिसमें वह आर्किमिडिज के शब्दों मे 'यूरेका' या 'मैंने पा लिया' कह सकता है। यह एक तरह से विशुद्ध अभिव्यजना की स्थिति है जिसमे कलाकार द्वारा वांछनीय को 'पा लेने' का मतलब है सुन्दरता को कुरूपता से पृथक् कर देना। "···कलाकार कुरूपता को, जो उस पर धावा बोलने की धमकी देती रहती है, बहिष्कृत करने के फलस्वरूप ही विशुद्ध अभिव्यजना की प्राप्ति कर पाता है। और यह कुरूपता उन उद्वेलित मानवीय सवेगो मे निहित रहती है जो कला के विशुद्ध सवेगो का विरोध किया करते हैं। कलाकार की कमियाँ, उसकी भ्रान्त धारणाएँ, उसकी स्वच्छन्दता, उसकी जल्दबाजी, उसकी एक दृष्टि का कला पर और दूसरी का दर्शक प्रकाशक और सयोजक पर टिकी रहना—ये सभी चीजें कला की बिम्ब-अभिव्यजना के मूर्त्त और स्वाभाविक आविर्भाव मे बाधा डालती हैं।"[3] स्पष्ट है कि क्रोचे यहाँ चित्त की एकाग्रता की बात कर रहे है जिसके बिना

---

1. वही, पृ० 14।
2. वही, पृ० 40।
3. वही, पृ० 88।

स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का अधूरापन दूर नहीं हो सकता और सौन्दर्य-बोधात्मक विशुद्ध आनन्द को प्राप्त भी नहीं किया जा सकता। लेकिन वह इसे किसी तरह का मायास अवधान मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार इसका सम्बन्ध अचेतन से भी नहीं है क्योंकि अचेतन की कार्यिकी कहने का अर्थ है इसका मशीनीकरण करना। "जो लोग कलात्मक प्रतिभा (जीनियस) के वैशिष्ट्य को अचेतन मे देखते हैं वे उसे मानवता के आसन से गिरा देते हैं। स्वयप्रकाश्य ज्ञानमयी या कलात्मक प्रतिभा, मानवीय कार्यिकी के प्रत्येक प्रकार की तरह, हमेशा सचेतन होती है; अन्यथा वह अंधी और मशीनी बन जायेगी। हाँ, उसमे आलोचक और इतिहासकार जैसी विमर्शक चेतनता (रिफ्लेक्टिव कांशसनेस) नही होती जो उसके लिए ज़रूरी भी नही है।"[1]

2 1 4 **चौथी अवस्था** मे सौन्दर्यात्मक तथ्य का भौतिक दृश्य-प्रपच मे रूपान्तरण होता है; वह शब्दो, ध्वनियो, स्वरको और रग-रेखाओ में संयोजित होकर कलाकृति के आंतास्य आविर्भाव का कारण बनता है; लेकिन भौतिक दृश्य-प्रपच की इस प्रतीयमान अनुरूपता का मतलब यह नही है कि कलाकृति या कला कोई भौतिक वस्तु बन जाती है। क्रोचे कला के भौतिकीकरण के विरुद्ध हैं। उनका तर्क है कि कला का तादात्मय भौतिक ससार से नही हो सकता; कारण यह है कि भौतिक ससार और उसकी वस्तुएँ म्रियमाण एवं असत्य होती हैं जबकि कला परम-सत्य तथा अलौकिक आनन्द की प्रदात्री होती है, इसीलिए बहुत से लोग उसके लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर देते हैं। फिर भी वह इतना स्वीकार करते हैं कि—"न्याय की दृष्टि से 'कला भौतिक वस्तु है या नहीं' और 'क्या कला का भौतिक विधान सम्भव है,' ये दोनों प्रश्न सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं। और यह भौतिक विधान सम्भव हैं क्योंकि इसे हम हमेशा करते ही रहते हैं। ऐसा तब होता है जब किसी कविता के अर्थ से और उसके रसास्वादन से हटकर हम उसमे प्रयुक्त शब्दो की गणना करने लगते हैं और उन्हे वर्णों और अक्षरो मे विभाजित करने लगते हैं।···इसका मतलब यह हुआ कि जब हम कला के अर्थ और उसके सृजन-व्यापार का विवेचन करते हैं तब उसका भौतिक विधान व्यर्थ हो जाता है।"[2] यह क्रोचे की सर्वाधिक विवादास्पद स्थापना है क्योंकि इसके तहत वह न तो शब्दो या अन्य माध्यमों के सिसृक्षात्मक महत्व को रेखांकित करते हैं और न ही कला के वर्गीकरण अथवा विधाओं और उनके भेदोपभेद को स्वीकार करते हैं।

2 1 5 क्रोचे ने आलोचको से बहुत कड़ा सुलूक किया है। आलोचको और कलामीमांसको ने भी उनकी कई स्थापनाओ पर शर-सधान किया है। इस विवाद का विवेचन यहाँ काम्य नही है। यहाँ ध्यान देने का विन्दु यह है कि क्रोचे के द्वारा रचना-प्रक्रिया की अवस्थाओं का निर्धारण, प्रखर व्याख्या-भेद के बावजूद, मनोविज्ञान-सम्मत

1. क्रोचे, एस्थेटिक्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 15।
2. क्रोचे, सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्व (पूर्वोद्धृत), पृ० 11।

अवस्था-निर्धारण के मूल संदर्भों से बहुत मेल खाता है। 'प्रभाव' की अवस्था का मतलब *संवेदन या अनुभूति की समस्या-स्थापनात्मक अवस्था है; स्वयप्रकाश्यगामी बिम्बात्मक* 'अभिव्यजना' की अशाब्दिक अवस्था का अर्थ, प्रकारान्तर से, साहचर्यात्मक विचारण है; 'सुखात्मक संगति' भी स्वयप्रकाश्य ज्ञान द्वारा समाधान को उछाल देने की स्फुरणात्मक या प्रदीप्ति की अवस्था है; और 'सौन्दर्यात्मक तथ्य का भौतिक रूपान्तरण' भी समाधान के आलोक मे उसके स्थापित किये जाने के चरण ही का द्योतक है। यह नहीं भूलना चाहिए कि जब क्रोचे ने अपनी सैद्धान्तिकी का निर्माण किया था तब रचना की प्रक्रिया *को दर्शन ही की आँख से देखा जाता था, मनोविज्ञान के प्रगामी औज़ार बाद मे बने थे।* कलात्मक व्यापार को गणित और विज्ञान से या अवधारणात्मक ज्ञान से अलगाने के लिए उन्होंने एक ओर अपने समय के दर्शन से बगावत की है और दूसरी ओर कला-कर्म को काम-प्रवृत्ति-जन्य प्रतिबिम्बन मानने वाले तत्कालीन मनोविज्ञान को असन्तुलित बुद्धि का परिणाम कह कर फटकारा है। स्वयंप्रकाश्य ज्ञान का अविजित क्षेत्र उनके सामने पड़ा था; कला की सर्वतंत्र-स्वतंत्रता को सिद्ध करने के लिए वह उसी में चक्कर काटते रहे।

2.2 अलेक्सैंडर द्वारा अवस्था-निर्धारण

*अवस्थाओं के रास्ते से सर्जन-व्यापार की समस्या पर विचार करने वाले सौन्दर्य-*वेत्ताओं मे अलेक्सेंडर की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी है। उनके विवेचनानुसार इसकी जो रूपरेखा उभरती है उसमें चार अवस्थाओं पर बल दिया गया है। **पहली अवस्था है कलाकार में बाह्य जगत के विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न उत्कट उत्तेजना।** यह उत्तेजना न तो मूल प्रावृत्तिक अथवा सकल्पहीन होती है और न ही किसी विशेष *उपयोगितावादी मन्तव्य-पूर्ति की ओर धकेलने वाली अर्थात् अतीव व्यावहारिक है।* यह तो बाह्यजागतिक विषयों जैसे कोई सुन्दर चेहरा, पर्वतीय दृश्य, कोई द्रावक दुर्घटना आदि—द्वारा भाव-जागरण की अवस्था है। इन जागृत भावों को अलेक्सेंडर 'भौतिक मनोभाव' (मैटीरियल पैशन्ज़) कहते है जो कलाकार की एकाग्रता के लिए उपयोगी उद्दीपनों का काम करते है। अपने-आप मे ये सौन्दर्यबोधात्मक नहीं होते क्योंकि आम जीवन मे इनका निकास किसी भी सौन्दर्यविहीन कार्यिकी के व्यावहारिक रूप मे हो सकता है। ये सौन्दर्यबोधात्मक तभी होते है जब इन्हें व्यावहारिकता से काट कर अभिव्यक्ति का विचारित विषय बना दिया जाता है। अतः रचना-प्रक्रिया की **दूसरी अवस्था में कलाकार स्वयं को तमाम व्यावहारिक लगावों से खींच लेता है।** यह एक तरह की असम्पृक्ति की अवस्था है जिसमे निर्वैयक्तिक ढग से 'सत्य,' 'शिव' और 'सुन्दर' के मूल्यों को एकाकार किया जाता है ताकि यथार्थ का पूरा आत्मसात्करण किया जा सके। इन मूल्यों को कलाकार अपनी ओर से जागतिक विषयों पर नहीं लादता, बल्कि उन्हीं के भीतर से इन्हें निकाल लेता है। प्रारम्भिक अस्थायी उत्तेजना यहाँ पर एक अविस्मरणीय और ठोस प्रेरणा बन कर प्राण फूंकती है। इस तरह मन और प्रत्यक्षित,

यथार्थ के योग से कलाकार जो कुछ भी 'जान लेता' है उसे 'कर्मरूप' देना चाहता है। **तीसरी अवस्था** उस 'जान लेने' को अर्थात् सुविचारित सिसृक्षात्मक आवेग को आदान-सामग्री अर्थात् शब्दों, प्रस्तरों और रंग-द्रव्यों के माध्यम से उद्‌घाटित करने की या 'कर्म-रूप' देने की होती है। क्रोचे के विपरीत, अलेक्सेंडर इस उपादान-सामग्री को अपूर्व महत्व देते हैं। उनके अनुसार कलाकार की वैयक्तिक रुचियों की भाँति अभिव्यक्ति के ये उपकरण भी विचारों के सामान्यीकरण को प्रभावित करते हैं, बल्कि कई बार तो उन पर हावी भी हो जाते हैं। "उदाहरण के लिए कविता में शब्दों की ध्वनि, लय और छन्दविधान काव्य-कर्म के अविच्छिन्न अंग होते हैं और किसी भी अन्य तत्व की अपेक्षा इनका महत्व शायद प्राथमिक होता है।"[1] इस उपादान-सामग्री की सशक्तता प्रायः कलाकार को बाध्य कर देती है कि वह अभिव्यक्ति-पूर्व के बिम्बात्मक विचारण में परि-वर्तन लाकर अपनी कल्पना को ताजा करे और अपनी प्रारम्भिक योजना से विचलन भी। अतः अलेक्सेंडर नहीं मानते कि रचनाकर्म पूर्णतया किसी योजना के अधीन निष्पन्न किया जा सकता है। उनके अनुसार कुछ आधारभूत विचारों और घटनाओं की रूपरेखा बना सकना तो कलाकार के वश में है, लेकिन अन्तर्वस्तु और रूप का सलयन किसी योजना के तहत नहीं किया जा सकता। इसकी अपनी एक लम्बी प्रक्रिया होती है जो पूरे रचना-व्यापार के दौरान सक्रिय रहती है और जिसकी सार्थकता या सफलता उपादान-सामग्री की सही प्राप्यता पर निर्भर करती है। **चौथी अवस्था में कलात्मक उत्पादन,** पूरी तरह अभिव्यक्त होने के बाद, पूर्णता को प्राप्त करता है। इस प्रकार एक अखण्ड कलाकृति प्रकाश में आती है।

2.3 ग्रॉमॉव द्वारा अवस्था-निर्धारण

रूसी सौन्दर्यशास्त्री ई० एस० ग्रॉमॉव ने रचना-प्रक्रिया की अवस्थाओं को सिलसिलेवार तो नहीं गिनाया है मगर कलात्मक गुणशीलता (टैलेंट) का विवेचन करते समय, प्रकारान्तर से, उन्हीं को अपने अध्ययन में अन्तर्विष्ट किया है। उनका कहना है कि उक्त प्रक्रिया पर विचार करते समय हमें उसकी अतिसरलीकृत व्याख्याओं से सावधान रहना चाहिए क्योंकि उनमें रूपात्मक तलाश (फॉर्मल रिसर्च) को सैद्धान्तिक या कथ्यात्मक (थिमेटिक) तलाश से विविक्त कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए यह कहना कि कलाकार पहले जीवन का निरीक्षण करता है ताकि जीवन की उन महत्वपूर्ण तथा अनिवार्य विशिष्टताओं को पहचान सके जिन्हें उसने अपने प्रतिबिम्बन का विषय बनाना है, और फिर अपने निरीक्षणों या प्रभावों को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त 'रूप' की तलाश करता है—रचनाकर्म की ऐसी व्याख्या है जो केवल

---

1. अलेक्सेंडर, ब्यूटी एण्ड अदर फॉर्म्ज़ ऑफ वेल्यू, पृ० 72।

प्रथम दर्शन पर ही विश्वसनीय प्रतीत हो सकती है। इस प्रकार की 'निदर्शी'(इलेस्ट्रेटिव) धारणा से रचना-कर्म को देखना प्रत्यक्षवादी (पॉजिटिविस्ट) दृष्टि का परिणाम होता है। *वास्तव में कलात्मक गुणशीलता की सारी शक्ति, एकीकृत बिम्बों में सोचने की योग्यता में प्रकट होती है;* और उसमें रूप तथा अन्तर्वस्तु अविभाज्य होते हैं।"[1] अतः उनके अनुसार, इन दोनों को एक ही कायिकी के दो पहलू समझना चाहिए—भीतरी और बाहरी। कल्पना में मानसिक बिम्बों को नियोजित करना और जीवन के देखे-सुने को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करना, इस कायिकी *का आन्तरिक पहलू है;* जबकि मानसिक बिम्बों का ध्वनियों, शब्दों, रंगों और रेखाओं में भौतिकीकरण उसके बाह्य पक्ष का द्योतक है। स्पष्ट है कि यह दूसरा पहलू एक तरह का 'तकनीकी कार्य' है; लेकिन *यह 'तकनीकी कार्य' विशुद्ध मानसिक अवस्था में भी जारी रहता है क्योंकि वहाँ* भी कथ्य का निर्माण रूप सापेक्ष होता है। "गुणशीलता हमेशा वैयक्तिक और विशिष्ट होती है, लेकिन इस बात से रचना-प्रक्रिया को निर्धारित करने वाले वस्तुनिष्ठ नियम खारिज नहीं हो जाते, बल्कि इसमें उनकी पूर्वमान्यता निहित रहती है।"[2]

2.3 1. अतः ग्रॉमॉव के अनुसार **सर्जन-व्यापार का आरम्भ प्रेरणा-पूर्व अवस्था से होता है** जिसे प्रेरणा की पृष्ठभूमि अथवा सांवेगिक एवं विवेकसम्मत सज्ञान (इमोशनल एण्ड रेशनल कॉगनीशन) की अवस्था कहा जा सकता है। इसमें एक ओर कलाकार की प्राकृतिक क्षमता, जिसको प्रशिक्षा द्वारा अर्जित नहीं किया जा सकता; और दूसरी ओर प्रशिक्षा एवं अभ्यास द्वारा विकसित गुणों का योग रहता है। अतः यह अवस्था स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान-प्रधान होती हुई भी यथार्थ के सीधे प्रत्यक्षण से शून्य कभी नहीं होती। दोनों का सम्बन्ध जीवन-सत्य की प्रारम्भिक जानकारी प्राप्त करने से है। स्वयं प्रकाश्य ज्ञान *और कुछ नहीं बल्कि सत्य की प्रतीति की प्रक्रिया में बहुत से मध्यस्थ चरणों* को घटा देने या छलांग से पार कर जाने की मानसिक योग्यता है जो तर्कमूलक सज्ञान की विरोधिनी न होकर उसी के सहारे पलती और परिपुष्ट होती है। स्वयप्रकाश्य ज्ञान ऐन्द्रिय भी होता है और प्रज्ञात्मक भी। कलाकार में ऐन्द्रिय ज्ञान की प्रमुखता होती है जो मात्रा की दृष्टि से इस प्रेरणा-पूर्व अवस्था में सर्वाधिक होता है और जिसे उसका वैयक्तिक अनुभव कहा जाता है। इसीलिए कलाकार, वैज्ञानिक की अपेक्षा, अनुमिति से अधिक काम लेता है। ऐन्द्रिय ज्ञान की प्रमुखता के कारण, रचना के इस चरण पर, कलाकार बिखरी हुई तीव्रानुभूति से घिर जाता है—*"मानो स्वयप्रकाश्य ज्ञान का बन्दी बन गया हो।"* इसी बन्दीपने को तोड़ कर वह प्रेरणा की अवस्था में पहुँचता है।

2.3 2 यह उसकी रचना-प्रक्रिया का **दूसरा चरण अर्थात् प्रेरणा-काल** होता

1 ई० एस० ग्रॉमॉव, दि नेचर ऑफ आर्टिस्टिक टेलेंट, मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट (एस्थेटिक्स ...(मास्को, प्रॉग्रेस पब्लिशर्स, 1980) पृ० 208।

2. वही, पृ० 209।

है। इस चरण पर "कलाकार की मानसिक और भौतिक शक्तियाँ अधिकतम तनावमयी होती हैं और वह सकल्प-निरपेक्ष होकर कार्यरत रहता है। इन सुखद क्षणो मे वह स्वय को बाह्य जगत से लगभग पूरी तरह काट लेता है और अपने काम पर सकेंद्रण करता है।"[1] इस दौरान बहुत सी सवेदनाएँ (ससेशन्ज़), संदर्शनाएँ (वियन्ज़) और विभ्रान्तियाँ (हैल्यूसिनेशन्ज) उसमें उपजती हैं। जूंकि वह ज्यादा देर तक प्रयोजनहीनता की स्थिति में नही रह सकता, इसलिए वह रचना-प्रक्रिया की तीसरी अवस्था पर पहुँचता है।

2 3 3 इस चरण पर **योजना का उद्गमन और कार्यान्वयन** होता है। इसमे उसके सकल्प और आत्मानुशासन की विशेष भूमिका होती है। ग्रॉमॉव के शब्दो मे— "कलाकार को संकल्प तथा प्रयोजनशीलता की भी उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी कि स्वयंप्रकाश्य सज्ञान की। जहाँ कला-कर्म को अथ से इति तक पहुँचाने के लिए समय-सारणियाँ नही बनायी जाती वहाँ आत्मानुशासन का कोई अन्य विकल्प नही होता।"[2] उनके अनुसार योजनाबद्धता परिश्रमशीलता की कुजी होती है और इन दोनो के योग से रचना-प्रक्रिया मे एक विशिष्ट गति मात्रा आती है। साथ ही रचनाकार को अपने कार्य मे ऐसी पेशावर ढग की महारत प्राप्त होती है कि वह सिसृक्षात्मक 'मूड' का दास नही रहता। इसे वह कलाकार की प्रवीणता या 'प्रभुत्व-प्राप्ति' (मास्टरी) कहते हैं जिससे एक ओर तो वह प्रत्यक्षित यथार्थ के वैचारिक विश्लेषण मे समर्थ होता है और दूसरी ओर अभिव्यक्ति के साधनो अथवा कला-तकनीको का समुचित इस्तेमाल भी करता है। ये दोनो प्रकार्य—अर्थात् मानसिक और आभिव्यक्तिक—सायुज्य होते हैं। सिसृक्षात्मक कल्पना के सहारे भाव-बिम्बात्मक विचारण उसके मन-मस्तिष्क मे उभरता है और शब्दो या रगो आदि मे ढलता रहता है। इस प्रकार वह जीवन के सत्य को सौन्दर्य-बोधात्मक तरीके से कलाकृति मे सम्प्रेषित करता है।

2 4. रमेश कुंतल मेघ द्वारा अवस्था-निर्धारण

हिन्दी के सौन्दर्यशास्त्रीय समीक्षको ने भी अन्तर्ज्ञानानुशासनात्मक उपागम से 'सृजन प्रक्रिया' पर प्रकाश डालते हुए उसकी अवस्थाओ का निरूपण किया है। इनमे रमेश कुन्तल मेघ ने इस समस्या पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उन्होंने 'सृजन प्रक्रिया के विकासमान चरण' शीर्षक के अन्तर्गत इसकी पाँच अवस्थाएँ सस्थापित की हैं जो मनोविज्ञान से, विशेष रूप मे 'साइनेक्टिक्स' की स्थापनाओ से प्रभावित हैं। उनके अनुसार रचना-प्रक्रिया का **'सर्वप्रथम चरण'** एक तरह के 'चेतन' उपक्रम का दीर्घावधिक काल होता है जिसमे सिसृक्षु 'समस्या' मे 'अन्तर्लिप्त' होकर ऐन्द्रिय सदेशो और स्नायविक तनावो को मस्तिष्क मे ग्रहण करता है। "इसमे विचारो तथा बिम्बो को एक

1. वही, पृ० 205।
2. वही, पृ० 207।

संश्लिष्ट पूर्ण मे, प्रत्यक्षकों को धारणाओ मे रूपान्तरित करने के लिए चेतन संघर्ष होता है। यह संघर्ष चकराया हुआ होता है। यह चरण सर्जक को धैर्य का पाठ सिखाता है, उसे प्रतीक्षा करने का अनुशासन देता है और उसकी जीवन-दृष्टि तथा रूपाकृति सम्बन्धी कलात्मक परम्परा को विषय या समस्या या बिम्ब से सयोजित करने की अस्तव्यस्त सम्भावनाओं की कुहेलिका प्रदान करता है। सृजन के लिए यह दशा अनिवार्य है क्योकि इसमे अवचेतन मे सचित सामग्री का आलोड़न होता है—अतल मे। इसमे सर्जक, चेतन माप-जोख के द्वारा रचना करने की कोशिश करता है, लेकिन रचना की प्रकृति इसके विपरीत होती है।...'सृजन प्रक्रिया के *अन्तर्गत प्रथम चरण मे समस्या* से जूझने की निरर्थकता ही प्राप्त होती है।''[1] कुन्तल मेघ भी कुछ मनोविज्ञानशास्त्रियों की तरह मानते है कि इस अवस्था का एक 'प्राक्प्रथम चरण' भी होता है जो रचनाकार की 'अन्तर्लिप्ति' से पूर्व की मनोदशा का द्योतक है जिसका विषय से सीधा सम्बन्ध नही भी हो सकता। **दूसरे चरण** मे सर्जक जाहिरा तौर पर स्वय को विषय अथवा समस्या से पीछे हटा लेता है लेकिन अवचेतन में उसके साथ जुड़ा रहता है। यह वही अवस्था है जिसे 'साइनेक्टिक्स' मे 'परिचित' को अपरिचित बनाना' कहा गया है। कुन्तल मेघ इसे 'साहचर्यों की अप्रासगिकता के बहुरूप अवचेत आलोडन' का चरण कहते हैं। **तीसरा चरण** *'अन्तर्दृष्टि की कौंध' का है जो मनोविज्ञान के अनुसार 'प्रदीप्ति' की अवस्था है* "जहाँ सृजन का आत्मरत श्रम समाप्त होता है और माध्यम के नये श्रम की भूमिका प्रतीक्षा करती है।''[2] इसमे सिसृक्षु सर्वोत्तम समाधान को चुन लेता है और उसके आलोक में एक नयी धारणा का उदय होता है। **चौथे चरण** मे कला-कौशल द्वारा बिम्ब को भौतिक कृति या तार्किक सिद्धान्त मे ढाला जाता है, यहाँ ज्ञान, कौशल तथा सास्कृतिक रुचि की विशेष भूमिका होती है। **पाँचवीं और अन्तिम अवस्था में** "एक भौतिक कलाकृति या वैज्ञानिक अन्वेषण" का आविर्भाव होता है "जिसमे सर्जक या अन्वेषक के वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रयोजनो को चरितार्थता मिल जाती है।''[3] 'साइनेक्टिक्स' में इसी को 'विषय की स्वायत्तता' कहा जाता है। इस प्रकार कुन्तल मेघ का प्रयास भी रचना की प्रक्रिया को वैज्ञानिक अन्वेषण तथा साहित्यकलात्मक उत्पादन, दोनों के सदर्भ मे व्याख्यायित करना है; मगर साहित्य-सर्जन की आयामपरक बारीकियो को खोलने के लिए इसका सौन्दर्यपरक *प्रत्याख्यान* जरूरी है।

2.5 कुमार विमल द्वारा अवस्था-निर्धारण

कुमार विमल ने, यह मानकर कि कला-विवेचन या साहित्यालोचन के संदर्भ मे रचना प्रक्रिया की अर्थप्रतिपत्ति लगभग सुनिश्चित है—साहित्यालोचन के सदर्भ मे

---

1. रमेश कुन्तल मेघ, अथातो सौन्दर्य-जिज्ञासा (दिल्ली, मैकमिलन, 1977), पृ०239।
2.3. वही, पृ० 240।

रचना प्रक्रिया के विश्लेषण का आशय है रचयिता के सर्जन-कर्म में लीन मन का विश्लेषणात्मक अध्ययन,"[1] उसके तीन सघटकीय चरणो का उल्लेख किया है। उनके अनुसार "रचनाप्रक्रिया का प्रारम्भ रचयिता की एकाग्रता या अन्तःकेन्द्रण (कसेंट्रेशन) से होता है।···अन्त.केन्द्रण जिस तरह भी प्राप्त किया जाए, वह रचनारम्भ की पहली शर्त और रचना प्रक्रिया की पहली स्थिति है। जिस सर्जन धर्मी के पास अन्त.केन्द्रण की शक्ति जितनी ही प्रचुर रहती है उसकी रचना शक्ति उतनी ही प्रखर और उत्कृष्ट होती है।"[2] उनकी मान्यता है कि रचनाकार के परिवेश या व्यक्तिगत जीवन के ऊहापोहो के अनुसार अन्त केन्द्रण की सामर्थ्य घटती-बढ़ती रहती है। हालांकि उन्हें रचनाकार की वस्तुजगत के साथ टकराहट का महत्व स्वीकार्य है, फिर भी वह निराला के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं कि इस टकराहट का नैरन्तर्य अन्त.केन्द्रण के लिए घातक होता है।

2.5.1. 'अन्तकेन्द्रण' के बाद वह **अन्त प्रेरण** (इंस्पिरेशन) को "रचना प्रक्रिया की दृष्टि से कवि-मन का बहुत ही महत्वपूर्ण घटक तत्व" और फिर '**स्मरण**' को 'रचना प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अगभूत घटक'[3] मानते हैं जो '**कल्पना**' के लिए वस्तु-सम्पृक्त आधार प्रदान करता है। यहाँ तीन प्रश्नो पर विचार करना जरूरी है। पहला यह कि क्या रचना प्रक्रिया का प्रारम्भ 'अन्त केन्द्रण' से होता है? नहीं। अन्तकेन्द्रण (कसेंट्रशन) शून्य पर नहीं किया जा सकता। रचनाकार किसी अनुभूत समस्या या विषय या प्रत्यक्षित यथार्थ ही का अन्त.केन्द्रण करता है। इसे उसके आत्म और वस्तु जगत का द्वन्द्व कहते हैं जो रचना प्रक्रिया का प्रस्थान-बिन्दु होता है। यह द्वन्द्व सकेन्द्रण में बाधा कभी नही बनता बल्कि अनुभूतिजन्य तनाव के रास्ते से उन प्रभावो को उत्पन्न करता है जिन्हें सकेन्द्रण की कच्ची सामग्री कहा जा सकता है। सकेन्द्रण तभी सम्भव होता है जब रचनाकार स्वय को सावेगिक अन्तर्लिप्ति से बाहर खीच कर समाधिस्थ होता है अर्थात् वैयक्तिक सदर्भों से अपने-आप को काट लेता है। वह अभिप्रेरित पहले होता है और अन्त केन्द्रण बाद मे करता है। अत. रचना प्रक्रिया का विवेचन करते समय हमे 'प्रेरणा' को पहले और 'अन्त केन्द्रण' को बाद मे रखना होगा।

2.5 2 दूसरा प्रश्न यह है कि क्या 'अन्त प्रेरण', 'अन्त केन्द्रण' और 'स्मरण' आदि रचनाकार की प्रगुणताएँ हैं अथवा रचना की प्रक्रिया के सोपानात्मक घटक हैं? निश्चित रूप से ये रचनाकार ही के व्यक्तित्व-निर्धारक गुण हैं। और अगर हम यह मान कर चलते हैं कि रचना-कर्म इन्ही का व्यावहारिक पक्ष है तो इनकी व्याख्या इस रूप मे की जानी चाहिए कि ये रचनाकार की गुणवत्ताएँ नही, बल्कि रचना-व्यापार की

---

1. कुमार विमल, सृजन प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप, काव्य-रचना-प्रक्रिया (पूर्वोद्धृत) पृ० 3।
2. वही, पृ० 9।
3. वही, पृ० 11।

अग्रगामी अवस्थाएँ प्रतीत हों; अर्थात् हमें यह बताना चाहिए के रचना प्रक्रिया के क्रमिक विकास के किस [illegible]
प्रश्न यह है कि एक ओर [illegible]
रचयिता के सर्जनशील अ[illegible]
दूसरी ओर इसी 'रूपायण' [illegible]
रचना प्रक्रिया की सामान्य स्वरूपता केवल 'भावन' के आन्तरिक धरातल तक स्वीकार करते हैं और 'सर्जन' या अभिव्यक्ति तथा उसके माध्यमों के बाह्य धरातल पर उसको व्यक्ति एवं विधा के अनुसार, विविधता में विश्वास रखते हैं। चूंकि उनका मत है कि "अभिव्यक्ति-माध्यम—बिम्ब, प्रतीक, अप्रस्तुत विधान इत्यादि" "सब प्रेषणीयता से जुड़े हुए सदर्भ हैं" और "प्रेषणीयता से रचना प्रक्रिया का सम्बन्ध तभी जुड़ता है जबकि रचयिता अपनी कृति के साथ ही आस्वादकों के विषय में सोचने लगता है"[2] इसलिए वह इस प्रक्रिया के घटकों का निर्धारण वहीं तक करते हैं जहाँ तक कि रचनाकार अपनी कलम या तूलिका को नहीं उठाता। पहली बात तो यह है कि रचना प्रक्रिया में बिम्बों, प्रतीकों और अप्रस्तुतविधान की भूमिका को पाठकीय अथवा दर्शकीय सम्प्रेषण तक सीमित नहीं किया जा सकता क्योंकि 'भावन' के स्तर पर भी रचनाकार का साहचर्यात्मक विचारण इन्हीं के माध्यम से सम्पन्न होता है। इसीलिए पूरी रचना प्रक्रिया को बिम्ब-निर्माण का व्यापार कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि रचना करने की इच्छा या उद्भव ही सम्प्रेषणात्मक होता है, इसलिए यह मान्यता निर्भ्रान्त नहीं है कि रचना प्रक्रिया किसी विशेष चरण पर ही पाठक या आशसक के साथ जोड़ दी जाती है। भारतीय काव्यशास्त्र यदि रचना-व्यापार का विवेचन सहृदय को केन्द्र में रख कर करता है और केवल 'प्रतिभा' या सृजन-शक्ति के सदर्भ में रचनाकार की ओर अधिक ध्यान देता है तो इसका मुख्य कारण यही है।

2.6. निर्मला जैन का अभिमत

निर्मला जैन ने 'तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र' के परिवृत्त में यद्यपि सहृदयनिष्ठ कला चिन्तन किया है, तथापि कवि या रचनाकार की सृजन प्रक्रिया पर भी विचार किया है। इस प्रक्रिया के क्रमबद्ध उद्घाटन की बजाए वह इसके कुछ बिन्दुओं ही को विवेचन का विषय बनाती हैं। उनके अनुसार "सृजन प्रक्रिया की प्रमुख समस्याएँ दो हैं—*(1) काव्य-सृजन सर्जक चित्त की अचेत क्रिया है अथवा सचेत ? (2) काव्य-सृजन* में कवि के कर्तृत्व की सीमा क्या है ?"[3] उनके निष्कर्षों से पता चलता है कि वह सिसृक्षण

1.2. वही, पृ० 8।

3. निर्मला जैन, रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 1977), पृ० 416।

को अचेत-प्रधान क्रिया मानती हैं और उसमें कवि-कर्तृत्व की निर्वैयक्तिकता पर बल देती हैं। दूसरे शब्दो मे, उनके अनुसार सृजन प्रक्रिया की दो अवस्थाएँ हैं—एक, स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान, प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि से प्राप्त **अनुभूति**; और दूसरी, उस अनुभूति का **निर्वैयक्तिकरण**। कला-सृजन मे 'सहजानुभूति' (स्वयं-प्रकाश्य ज्ञान) को महत्वांकित करते समय वह आयरिश उपन्यासकार और कला-चिन्तक ज्वाइस कैरी[1] के एक उद्धरण का हवाला देती हैं जो सारांशत. रचना की प्रक्रिया को खोलता है। निर्मला जैन द्वारा परोक्षत समर्थित इस हवाले के अनुसार सिसृक्षण का आरम्भ एक ऐसे अनुभव से होता है जिसके साथ अन्वेषण का बोध स्वभावतः जुड़ा रहता है। यह बोध कलाकार को चकित करता है और इसी को स्वयंप्रकाश्य ज्ञान या प्रेरणा कहते है। इसके साथ प्रत्यक्षण की अनुभूति सदैव सलग्न रहती है। यह अनुभूति शिशु-सुलभ होती है और प्रत्येक कलाकार को इसकी आवश्यकता जीवन-पर्यन्त बनी रहती है। यह एक प्रकार की नैसर्गिक क्षमता है—आदिम, मौलिक तथा नवनवोन्मेषमयी—जो शायद स्वयं रचनाकार से भी स्वतत्र होती है। यह संसार का यथातथ्य और अप्रयत्नज ज्ञान है जिसका अवतरण रोशनी की किरण की तरह होता है। इसकी अवधि इतनी लघु होती है कि यदि इसे किसी स्मार्त या वैचारिक बिम्ब में बांध न लिया जाए तो तत्काल ओझल हो जाती है।

अत., क्रोचे की भांति, इसी को कला का सर्वस्व मान लेना उचित प्रतीत नही होता। कला-सृजन वस्तुत: इस स्वयप्रकाश्य ज्ञान या आश्चर्यजनक प्रारम्भिक अनुभूति तक का लम्बा और कष्टसाध्य रास्ता है जिसे तय करना आसान नही होता। अनुभूति की तरह अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यंजना भी अन्वेषण का विषय होती है। कहा जा सकता है कि सहजानुभूति से अभिव्यंजना तक का यह सक्रमण एक प्रकार का अनुवाद है—अस्तित्व की एक अवस्था का दूसरी अवस्था मे, ऐन्द्रिय प्रभाव का प्रतिफलन मे। अत सृजनप्रक्रिया का मूल प्रश्न अनुभूतियो को शब्दो मे बांधने मात्र का नही, सम्पूर्ण कलाकृति मे उतारने का है। कलाकार जब प्रतीकात्मक रूपायण करता है तो ये प्रतीक ही सहजानुभूति को बाधा पहुंचाते हैं। चूंकि यह भी सम्भव नही कि पहले ही से शब्दों का रूपात्मक विधान या निर्धारण कर लिया जाए, इसलिए सृजन की प्रक्रिया में ही इनका निर्माण होता रहता है। यही वजह है कि महान कलाकार अपनी विषयवस्तु की खोज करने से पहले उसकी अभिव्यजना के रूपो से अभिज्ञ नही रहता। वह मानो कृति के रचना-नियमो को समर्पित हो जाता है अर्थात् अपने सहज ज्ञान से कृति के मूल्यों को इस तरह पहचान लेता है कि अपनी पहचान का उसे पता तक नही चलता।

---

1. वही, पृ० 404-5।

2.7. शिवकरण सिंह का प्रयास

शिवकरण सिंह ने अपने कला-सृजन-प्रक्रियात्मक शोधाध्ययन में रचना-प्रक्रिया की विकासमान अवस्थाओं को रचना-प्रक्रिया के स्तर कहा जो संख्या में चार होते हैं—(1) तैयारी का काल (2) पूर्वगृहीत विचारों के पोषण, सवर्द्धन और परिवर्द्धन का काल (3) दीप्ति या स्फुरण का काल (4) परीक्षण का काल। ये वही अवस्थाएँ हैं जिनका उल्लेख मनोविज्ञान और रमेश कुन्तल मेघ के हवाले से किया जा चुका है। शिवकरण सिंह के अनुसार—"रचना-प्रक्रिया अति सूक्ष्म और गहन विषय है। हमने आरम्भ में ही संकेत कर दिया है कि ये स्तर औपचारिक हैं। इनमें हमें अपने कथ्य को अधिकतम स्पष्ट करने में सहायता मिल सकती है।"[1] इसमें संदेह नहीं कि यदि हम इन अवस्थाओं को रचना का 'मेकनिज्म' मानकर उसका विकल्पहीन तथा अनानम्य यन्त्रीकरण करने का प्रयास करेंगे तो ये अवस्थाएँ नितान्त औपचारिक, अपर्याप्त और कई बार अप्रासंगिक भी प्रतीत होंगी; लेकिन अगर हम इन्हें नए नाम और नयी व्याख्याएँ देकर विवेचित करेंगे तो रचना की प्रक्रिया को समझने का सीधा रास्ता भी इन्हीं से प्राप्त होगा।

2.8 नगेन्द्र की अवस्था-निर्धारणात्मक स्थापनाएँ

विशुद्ध साहित्य-सृजन के सन्दर्भ में बिम्ब-रचना की प्रक्रिया पर हिन्दी के मूर्धन्य विचारक नगेन्द्र ने गम्भीर मंथन किया है और उनके निष्कर्ष उद्घाटक एवं विश्वसनीय हैं। वैसे तो उन्होंने मुख्य रूप से इस समस्या पर विचार किया है कि कवि अपनी अनुभूति को बिम्ब का रूप कैसे देता है, लेकिन *अपनी व्यापकता में यह समस्या काव्य-सर्जना और रचना की प्रक्रिया से सम्बन्ध रखती है।*

चूँकि इस प्रक्रिया का प्रारम्भ रचनाकार की अनुभूति या मनोविज्ञान-सम्मत 'अनुभव' से होता है, इसलिए नगेन्द्र भी अपना विवेचन यहीं से शुरू करते हैं। उनके अनुसार—"*अनुभव या अनुभूति का सम्बन्ध चार तत्वों से है : (1) आत्मा*—जिसके लिए अन्तश्चेतना शब्द का प्रयोग करना अधिक समीचीन होगा, (2) मन, (3) इन्द्रियाँ और (4) विषय। सबसे पूर्व विषय का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष होता है, फिर इन्द्रियों का मन के साथ और अन्त में मन का अन्तश्चेतना के साथ, जहाँ अनुभूति का वृत्त पूरा होकर उसके स्वरूप का निर्माण हो जाता है। इस प्रकार, प्रत्येक अनुभूति के साथ ऐन्द्रिय-मानसिक तत्वों के अतिरिक्त मूर्त्त पदार्थ आधार रूप में सम्पृक्त रहते हैं और अनुभूति *की प्रक्रिया मूर्त्त से आरम्भ होकर अमूर्त्त बन जाती है।"*[2] *वह स्पष्ट करते हैं कि यह अमूर्त्त*

---

1. शिवकरण सिंह, *कला-सृजनप्रक्रिया और निराला* (*वाराणसी, संजय बुक सेंटर,* 1978), पृ० 61।
2. नगेन्द्र, बिम्ब-रचना की प्रक्रिया, काव्य-रचना-प्रक्रिया, सम्पा० कुमार विमल, पृ० 13।

अनुभूति (जैसे फूल को देखकर 'प्रीति' का उपजना) वाणी और कर्म आदि के माध्यम से पुन मूर्त बन जाती है। कवि या रचनाकार का व्यापार मूलत. वाणी द्वारा अनुभूति को मूर्त रूप प्रदान करना है; दूसरे शब्दो में वह अनुभूति की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति करता है। इसलिए उनकी निश्चित धारणा है कि काव्य (व्यापक अर्थ मे साहित्य) शब्दार्थ में की गई मानव-अनुभूति की कल्पनात्मक पुनःसृष्टि है।

2 8 2 अनुभूति की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति का पहला चरण है "भोगावस्था की समाप्ति के बाद **अनुभूति का संस्कार में रूपान्तर**। काव्य-रचना के समय समान प्रेरक परिस्थितियों में स्मृति और कल्पना की सहायता से कवि इस सस्कार को पुनर्जीवित करता है, अर्थात् अपनी पूर्वानुभूति की कल्पनात्मक आवृत्ति करता है।"[1] उसकी असामान्य 'दर्शना-शक्ति' यहाँ विशेष सहायक होती है जिसके बल पर वह अपने विवेक द्वारा अनावश्यक का त्याग और आवश्यक का ग्रहण करता हुआ समुचित संश्लेषण मे सफल होता है। यह सश्लेषण ही रचनाकार की 'अनुभूति का निर्वैयक्तिकरण' है जो बिम्ब-रचना या रचनाकार द्वारा की गयी कल्पनात्मक पुन सृष्टि का प्रथम सोपान होता है। *जब तक अनुभूति भोग का विषय बनी रहती है तब तक सर्जना सम्भव नहीं होती।* "स्वगत अनुभूति भोग का विषय है और भोग निष्क्रिय होता है—वह सर्जना नहीं कर सकता।'''जैसे कि एकदम गर्म पिघले हुए धातु-द्रव से पदार्थ का निर्माण नही किया जा सकता वैसे ही अनुभूयमान स्थिति मे बिम्ब की सर्जना नही हो सकती। धातु-द्रव जब थोड़ा ठण्डा पडकर पिण्ड-रूप होने लगता है तभी उसमे निर्माण की क्षमता आती है।"[2] अतः रचना की प्रक्रिया मे भी प्रारम्भिक अनुभूति का व्यक्ति-ससर्गों से मुक्त होना आवश्यक है। नगेन्द्र के विचार मे निर्वैयक्तिकरण का प्रकार्य भी कल्पना या भावना द्वारा सम्भव होता है और इसके लिए कवि-सिसृक्षु कई उपायो से काम लेता है—जैसे आत्म-सन्दर्भों से इतर उपकरणो का प्रयोग अथवा तटस्थ व्यक्तियों या पदार्थों पर अनुभूति का आरोपण—जिसकी योजना काव्यशास्त्रीय 'विभाव', 'अनुभाव' आदि में की गयी है। यह आत्मनिष्ठ व अनुभूति का वस्तुनिष्ठ हो जाना है।

2 8 3. **विशेष का साधारणीकरण इस प्रक्रिया का दूसरा चरण है**। यहाँ रचनाकार प्रसग-विधान के अगभूत 'विशेष' के सामान्य, सहृदय-सवेद्य धर्मों को उभारता हुआ प्रमुख तत्वों का सान्द्रीकरण करता है।"[3] यहाँ तक तो कल्पना का व्यापार प्रमुख होता है। इसके बाद व्यजना की प्रक्रिया होती है। अत. बिम्बन-प्रक्रिया का **तीसरा चरण शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति है** जिसमें कवि "अन्त में, लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूप-रेखाओं मे रग भर कर और अप्रस्तुत-विधान की सहायता से कलेवर को समृद्ध करता हुआ, बिम्ब को पूर्णता प्रदान कर देता है।"[4]

---

1. वही, पृ० 15।
2. वही, पृ० 16-17।
3.4. वही, पृ० 19।

2.8.4. इस प्रकार नगेन्द्र की रसवादी मान्यता के अनुसार बिम्बन की, दूसरे शब्दों में कल्पनात्मक रचना की प्रक्रिया का हेतु अनुभूति और उसका निर्वैयक्तिकरण है, इसका लक्ष्य साधारणीकरण है और माध्यम शब्दार्थमयी व्यंजना है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्पष्ट किया है कि इस प्रक्रिया से सौन्दर्य के मूर्त रूप अर्थात् कलाकृति का अवतरण होता है। उनके अनुसार, सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर, कलाकृति की रचना-प्रक्रिया के प्रति दो दृष्टिकोण उभर कर सामने आते हैं—एक है रिचर्ड्स आदि का भाववादी दृष्टिकोण, *जिसके अनुसार कलाकार की सर्जनात्मक अनुभूति कृति में मूर्त होकर आशंसक की अनुभूति में विगलित हो जाती है, अर्थात् "रचना-प्रक्रिया की कहानी अनुभूति से आरम्भ होकर अनुभूति पर ही समाप्त होती है", और दूसरा है नयी कविता का बिम्बवादी दृष्टिकोण जिसकी वस्तुवादी मान्यता के अनुसार ' कलाकार मूर्त उपादानों में सामञ्जस्य और क्रम की योजना कर उसका निर्माण करता है और प्रमाता गोचर पदार्थ के रूप में उसका अनुभव करता है। ये दोनों मत ही अतिवाद से दूषित हैं। कलाकृति अनुभवगम्य होने पर भी अनुभूति मात्र नहीं है, और आस्वादन का विषय होने* पर भी मूर्त वस्तु नहीं है। सामान्य विवेकसम्मत दृष्टिकोण यह है कि वह सर्जनात्मक अनुभूति—सीधे शब्दों में भावप्रेरित सर्जनात्मक कल्पना—की मूर्त उपादानों द्वारा अभिव्यक्ति है जो निमित्त रूप से भावक की अनुभूति को उद्बुद्ध करती है।"[1]

2.9 आनन्द प्रकाश दीक्षित द्वारा निर्धारित चरण

आनन्द प्रकाश दीक्षित ने, क्रोचे की आलोचना करते समय, सौन्दर्य-सृष्टि के तीन स्तरों का उल्लेख किया है जिसका प्रयोजन भारतीय सौन्दर्यशास्त्री सुरेन्द्रनाथदास गुप्त के मत का समर्थन करना है। क्रोचे ने कहा था कि आत्मा के विकास के तीन चरण होते हैं—कामना, इच्छा और कर्म। तीनों का अन्तर्लयन ही आत्माभिव्यंजना है अर्थात् कलाकार जब भावसवेगों की अभिव्यक्ति करता है तो उसका यह कार्य मूलतः इच्छा तथा कर्म ही का प्रकाशन होता है; अत. वस्तु और भाव-सवेग अभिन्न हैं। दासगुप्ता इस मत का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि एक तो क्रोचे इच्छा तथा कर्म के साथ भावसवेगों की एकता का कारण स्पष्ट नहीं करते, दूसरे यह एकता ही वस्तुसत्य या तत्वस्वरूप नहीं मानी जा सकती, तीसरे इस सत्य या तत्व को मात्र स्वयं प्रकाश्य ज्ञान द्वारा कैसे प्राप्त किया जा सकता है, और चौथे अगर स्वयं प्रकाश्य ज्ञान का सम्बन्ध असामान्य विषय से है तो भावसवेगों, इच्छा या क्रिया से उसकी अविभाज्यता कैसे मानी जा सकती है? इसी सन्दर्भ में आनन्द प्रकाश दीक्षित लिखते हैं—"क्रोचे वीक्षा-वृत्ति से पूर्व सस्कारों की सत्ता स्वीकार न करके एक प्रकार की गड़बड़ी में पड़ गये हैं। सौन्दर्य-सृष्टि के वस्तुतः तीन

---

1. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लि० हाउस, 1974), पृ० 118।

स्तर माने जा सकते हैं—अस्पष्ट संस्कार, अनुभूति तथा बहिर्निरूपण।"[1] यह मत भी नगेन्द्र की पूर्वोल्लिखित धारणा से मेल खाता है कि रचना-कर्म में अनुभूति ही अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि अनुभूति की सामान्यीकृत अभिव्यक्ति की जाती है। "काव्य में शब्द-शोधन व्यापार का विशेष महत्त्व है। यदि शब्द-शोधन को मानें तो केवल अनुभूति ही अभिव्यक्ति नहीं ठहरती विचार आकर उसका पथ रोक लेते हैं और विवेक उसे रास्ता दिखाता है। इस रूप में यह मानना ही उचित होगा कि अनुभूति शब्द-शोधन की पूर्ववर्तिनी है और वही अभिव्यक्ति नहीं है। कवि के साथ पाठक के चित्त को भी महत्त्व दे देने पर, उसे सत् मान लेने पर काव्यादि की भाषादि के रूप मे बाह्य सत्ता स्वीकार करनी पडती है। यदि क्रोचे को यह काव्यादि की बाह्य सत्ता स्वीकार हो तो प्रकृति की बाह्य सत्ता को स्वीकार कर लेने और उसे सत् मान लेने मे भी उन्हे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।"[2]

2 10 राजूरकर द्वारा निर्धारित 'स्तर'

ब० ह० राजूरकर, कला-निर्माण-प्रक्रिया के छ स्तर मानते हैं—(1) वस्तु का अवबोधन (2) कल्पना शक्ति का कार्य प्रवण होकर 'वस्तु' के साथ तादात्म होने की प्रक्रिया, (3) व्यावहारिक सन्दर्भों से मुक्त होकर 'वस्तु' का निर्वैयक्तिक आकलन, (4) नवीन अनुभव के साथ पूर्वानुभवो का सश्लेषण, (5) पूर्वपरिचित कला-रूपो (फॉर्म्स) के साथ अनुभूति का सघर्ष एवं संगठन, (6) सावयव कलाकृति का निर्माण। इन सब अवस्थाओ का सार यह है कि "अवबोधन और अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक कलाकार के मानस की धुँधली एव अस्पष्ट अनुभूतियाँ जब कल्पना-शक्ति द्वारा अभिव्यक्तिकरण की ओर अग्रसर होने लगती हैं तब कलाकार के पूर्वानुभव, स्मृतियाँ, भावनाएँ एव वस्तु-बिम्ब उसके सजग मानस पर मूर्त्त होकर अकित होने लगते है। इन विविध बिम्बो मे परस्पर आदान-प्रदान होकर परिवर्तन एव सश्लेषण की प्रक्रिया पूर्ण होती है और एक नया सगठन-निर्माण होता है। इसी समय स्वीकृत कला-रूपो के मानदण्ड उक्त प्रक्रिया मे सम्मिलित होते है। बिम्बो की सश्लेषण-प्रक्रिया और कलारूपों के मानदण्ड इनके बीच परस्पर-पूरक परिवर्तन के पश्चात् कलाकृति सिद्ध होती है।··· स्पष्ट है कि अवबोधित वस्तु से निर्मित 'वस्तु' भिन्न होती है, क्योकि उपर्युक्त प्रक्रिया मे अवबोधित वस्तु का पुनर्प्रस्तुतीकरण न होकर 'सृजन' होता है।"[3] भारतीय रस-दर्शन और टी० एस० इलियट तथा मनोविज्ञान से प्रभावित इस अवस्था-निर्धारण का नगेन्द्र

1.2 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, सौन्दर्य-तत्व, रूपान्तर तथा भूमिका लेखक आनन्द प्रकाश दीक्षित (इलाहाबाद, भारती भण्डार, 2017 वि०), भूमिका पृ० 17।

3. ब० ह० राजूरकर, समीक्षा एक रचना, आलोचना : प्रक्रिया और स्वरूप, सम्पा० आनन्द प्रकाश दीक्षित (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1976), पृ० 37।

और आनन्द प्रकाश दीक्षित की मान्यताओं से तात्विक अभेद है। इन अवस्थाओं में पहली दोनों तथा चौथी और पाँचवी को एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखकर इनकी संख्या को सीमित किया जा सकता है।

2.11. निशान्तकेतु का अवस्था-निर्धारण

हिन्दी में अपेक्षाकृत अल्पज्ञात रचना-प्रक्रिया-विवेचक निशान्तकेतु के अनुसार **रचना-प्रक्रिया के तीन आयाम हैं—अनुभूति, चिन्तन और अभिव्यक्ति।** अनुभूति नि:शब्द होती है, इसलिए इसका सम्बन्ध संवेदना, स्नायु, हृदय और चिति से है। चिन्तन के लिए मस्तिष्कीय शब्दाश्रय अपेक्षित है। अभिव्यक्ति का सम्बन्ध शिल्प अथवा विषय-विषयीगत संस्कार-स्वरूप से है। *अतः रचना के लिए नि:शब्द संवेद्यता, शब्दाश्रित चिन्तन तथा शिल्पान्वित अभिव्यक्ति आवश्यक है।*"[1] उनका विचार है कि धर्म में जिसे 'आत्मा' और मनोविज्ञान में 'मन' कहा जाता है, उसके सन्दर्भ में भी इन आयामों की व्याख्या की जा सकती है। मन या आत्मा की तीन विकासमान शक्तियाँ होती हैं—मनोमयकोशमयी ज्ञान शक्ति जो भावों और विचारों की जननी है, *प्राणमयकोशमयी इच्छा-शक्ति जो एषणाओं को उत्पन्न करती है; और अन्नमयकोशमयी कर्म-शक्ति जो* विविध प्रकार की चेष्टाओं का कारण है। इन तीनों की परिणति क्रमशः क्रतु, काम और कृति में होती है जो रचना-प्रक्रिया के भी उत्तरोत्तर परिणाम हैं। सौन्दर्यशास्त्र में इनकी व्याख्या अव्यक्त संस्कार, अनुभूति और प्रतीकधर्मी वहिर्निरूपण के रूप में की जाती है। *"अनुभव असीम होता है। अनुभोक्ता जब चिन्तक बनता है तब वह अपने को सीमित* और खण्डता-सापेक्ष कर लेता है। अनुभूति में सघता (यूनिटी) होती है जबकि चिन्तन (मेंटल थॉट) में खण्डता (फ्रेगमेंट)। अनुभूति जन्य समस्तता जन-चिन्तन में अनुबद्ध होती है तब ससीम बन जाती है। अभिव्यक्ति के धरातल पर यह सीमा और लघुतर हो जाती है। अनुभोक्ता अपनी प्राणिक अनुभूति (संस्कार जन्य) को मानसिक धरातल पर चिन्तन के माध्यम से पुनरनुभूत करने की शक्ति रखता है। यही उसे कल्पना, अनुचिन्तन (कांटेम्पलेशन), बिम्ब, प्रतीक इत्यादि की शब्दाश्रित आवश्यकता होती है। रचनाकार जब अनुभूत को मानसिक अनुभव के धरातल पर उतारता है तब उपचेतन और अचेतन अनेक रूपों में क्रियाशील होने लगते हैं।"[2]

1.12. वी० के० गौकक का अवस्था-निर्धारण

अँग्रेजी भाषा और साहित्य के भारतीय विद्वान विनायक कृष्ण गोकक ने भारतीय परिप्रेक्ष्य में कविता पर व्यापक दृष्टिपात करते हुए काव्य प्रक्रिया (पोइटिक प्रॉसेस) पर

1.2. निशान्तकेतु, काव्य रचना-प्रक्रिया तथा शब्दानुबन्ध, काव्य-रचना-प्रक्रिया, सम्पा० कुमार विमल (पूर्वोद्धृत), पृ० 235-36; 237।

भी लगभग दस पृष्ठों का एक अध्याय लिखा है। वह महर्षि अरविन्द के इस वाक्य को आदर्श मानते हैं कि 'काव्य यथार्थ-सत्ता का मन्त्र है' अर्थात् यथार्थ का भाषा मे लयात्मक उद्घाटन है। उनके अनुसार काव्यात्मक रचना की प्रक्रिया ने सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास मे बहुत से सकेत-शब्दों (की वर्ड्ज) को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए प्लेटो और ब्लेक द्वारा व्यवहृत 'प्रेरणा' या 'कल्पना', अरस्तू का 'अनुकरण', क्रोचे द्वारा प्रयुक्त 'अभिव्यजना' और तॉलस्तॉय का 'प्रत्यायन' (पर्सुएशन) जो शायद बर्नार्ड शा को भी पसन्द आ जाता—ऐसे शब्द है जो काव्य-सिसृक्षण के किसी एक पहलू पर ज्यादा बल देते हैं।

गोकक की मान्यता है कि **'प्रेरणा' इस प्रक्रिया का प्रथम चरण है।** "*काव्य-रचना का प्रारम्भ प्रेरणा से होता है जो कि कलाकार द्वारा यथार्थ के किसी महत्त्वपूर्ण* पक्ष के साथ तादात्म्य से उत्पन्न एक तीव्र प्रत्यक्षणा कही जा सकती है। वह इसके परिणामस्वरूप एक विषय या वस्तु को उसके तमाम बाह्य साहचर्यों या फालतू गुणो से पृथक् कर लेता है और उसके गहन आभ्यन्तर से सीधा साक्षात्कार करता है। यह *तादात्म्य ही उसे यथार्थ के उद्घाटन या अन्वेषण मे सहायक होता है।*"[1] यह प्रत्यक्षण ही की नही सदर्शन की अवस्था भी है क्योकि यहाँ कलाकार का अपना अनुभव, स्वभाव और उसकी अभिमुखताएँ उसके दृष्टिकोण का निर्धारण करती हैं। इसे न तो 'अनुकरण' कहा जा सकता है और न विशुद्ध स्वयप्रकाश्य ज्ञान की अवस्था। इसमे सावेगिक तीव्रता, दीप्ति और विचारण का सम्मिलित हाथ होता है, यहाँ तक कि यह अवस्था भावी कलाकृति के रूपाकार को भी प्रभावित करती है। "काव्य-प्रक्रिया का **दूसरा चरण सम्प्रेषण (कम्यूनिकेशन) का होता है।** सदर्शना (विज़न) यहाँ पर निश्चित कथ्य (थीम) का रूप धारण करती है और वह कथ्य भाषा मे रूपायित होकर अपने लिए शब्दो का कल्पना-भवन बनाना चाहता है। यदि मन या आत्मा से कलाकार को प्रेरणा प्राप्त होती है, जीवन से दृष्टिकोण मिलता है और प्रहर्ष से आत्माभिव्यक्ति की लब्धि होती है तो सम्प्रेषण-प्रक्रिया पर सौन्दर्य का प्रभुत्व होता है। कल्पना-शक्ति यहाँ पर असमान वस्तुओ मे भी समानता ढूंढ लेती है। हम पहले ही कह चुके हैं कि कल्पना वह सामर्थ्य है जो कवि की सहजानुभूतियो के लिए उपयुक्त बिम्ब का विधान करती है। सम्प्रेषण का सम्बन्ध साहित्य-रूप (लिटरेरी फॉर्म) से होता है जिसे कलाकार अपनी सामग्री के लिए चुनता है; प्रतीक से लेकर रूपक तक का वह बिम्बविधान जो कलाकार की सदर्शना, अभिमुखताओ और मनोभावो आदि को घेरे रहता है, वह शैली जिसमें सामग्री को ढाला जाता है, वह लय जो सदर्शना की अनुगूंज बनती है, और वह शब्द-योजना जो सदर्शना एव कथ्य के लिए भाषिक तुल्यता प्रदान करती है—सभी सम्प्रेषण के घटक

---

1. विनायक कृष्ण गोकक, एन इटेग्रल व्यू ऑफ पोइट्री (नयी दिल्ली, अभिनव पब्लिकेशन्ज, 1975) पृ० 2।

हैं।"[1] गोकक के अनुसार काव्य-सर्जना का **तीसरा चरण है प्रत्यायन।** "प्रत्यायन (पर्सुएशन) इस प्रक्रिया का अन्तिम चरण है जिसका अधिष्ठाता 'सत्य' नामक देवता है।"[2] यह वह अवस्था है जहाँ कलाकृति आविर्भूत होकर पाठक तक पहुँचती है और उसे कलाकार के अनुभव का प्रत्यायन कराती है। यहाँ औचित्य की प्रमुख भूमिका होती है जिसके *बिना किसी भी महान प्रतिभा की कोई भी कलात्मक परिणति खण्डित हो सकती है। अतः 'प्रत्यायन' का निहितार्थ है कलाकृति का स्वीकार्य होना।*

3. रचनाकारों के अनुसार रचना-कर्म की अवस्थाएँ

हालांकि रचना-प्रक्रिया विषयक सर्वाधिक जानकारी रचनाकारों के आत्मसाक्ष्य से प्राप्त होती है, *फिर भी इस जानकारी में क्रमबद्धता या उत्तरोत्तर विवेचन का इतना अभाव है* कि विधिवत अवस्था-निर्धारण की दृष्टि से बहुत कम रचनाकारों को उद्धृत किया जा सकता है। जिन गुने-चुने रचनाकारों ने इस प्रक्रिया की अवस्थाओं का उद्घाटन किया है उनमें भी अधिकांश ऐसे हैं जिन्हें साहित्यिक समीक्षा या कलात्मक विवेचन-विश्लेषण के क्षेत्र में बहुत मान्यता नहीं प्राप्त है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इनके कथन किस सीमा तक आपबीतियाँ हैं और कहाँ तक आत्मेतर ज्ञान-विज्ञान की अध्ययन से प्राप्त सूचनाओं द्वारा प्रभावित हैं। कई रचनाकारों के वक्तव्यों की पूर्ण पुष्टि उनके अपने रचनात्मक साहित्य द्वारा भी नहीं होती। इसकी एक वजह शायद यह है कि रचनाकर्म के दौरान रचनाकार जिस संकुल मार्ग से गुज़रता है वह एक तो पूरी तरह शब्दों में बँध नहीं पाता और दूसरे रचना की समाप्ति पर उसकी पूर्णावृत्ति *सम्भव नहीं होती। यहाँ दो प्रकार के रचनाकारों का हवाला दिया जा रहा है—एक वे जिनके आत्मविवरण साहित्य-कला के क्षेत्र में चर्चा का विषय है या चर्चित होने की* क्षमता रखते हैं और दूसरे हिन्दी के कुछ समकालीन रचनाकार हैं जिनसे हमने प्रश्नोत्तरी की माध्यम से सम्पर्क स्थापित किया है।

3.1 स्टीफन स्पेंडर का अनुभव

रचना-प्रक्रिया की बात छिड़ती है तो स्टीफन स्पेंडर की 'मेकिंग ऑफ़ ए पोइम' का उल्लेख अवश्य किया जाता है। उनके विचार में सर्जनशील लेखन की मूल समस्या अनिवार्य रूप से **संकेन्द्रण या सान्द्रण** की है। कलाकारों की सनक के जितने भी किस्से प्रसिद्ध हैं उन सबका सम्बन्ध ऐसी यान्त्रिक आदतों से है जिन्हें उन्होंने संकेन्द्रण के क्रम में विकसित कर लिया होता है। लेखन के दौरान किया गया संकेन्द्रण गणित के प्रश्न को हल करने के लिए वांछित मनोयोग से भिन्न होता है। "यह मनोयोग के केन्द्रीकरण का विशेष तरीका है जिसमें कवि को अपने विचार-विकास की सम्भावनाओं और अर्था-

---

1.2. वही, पृ० 5

पत्तियों का बोध रहता है। इसकी तुलना एक पौधे से की जा सकती है जो मशीन की तरह एक ही दिशा मे विकास पाने के लिए सकेन्द्रण नही करता बल्कि कई दिशाओं में विकसित होता है—एक ही समय पर वह पत्तों द्वारा उष्णता एवं प्रकाश को ग्रहण करता है और अपनी जडो द्वारा पानी को।"[1] सकेन्द्रण किसी भी विधि और गति से क्यों न किया जाए इसका सम्बन्ध प्रयोजन अथवा आशय की अखण्डता को, बिना किसी भटकाव के, बनाये रखना होता है। स्पेंडर बताते हैं कि उनकी यह शक्ति कमज़ोर है इसलिए वह मन मे उमडने वाले सभी विचारो को नोटबुक मे लिख लेते है और फिर उनका यथास्थान उपयोग करते है। यही वजह है कि एक कविता लिखने के लिए उनके सामने लगभग दस कविताओं की रूप-रेखा रहती है जिनमे से अधिकाश का त्याग करना पडता है। सकेन्द्रण के लिए किसी सदर्शना या 'विज़न' का सामने होना ज़रूरी है। उदाहरण के लिए किसी खडी चट्टान के नीचे फैले हुए समुद्र की सदर्शना। चट्टान के ऊपर खेत है, घर है, मैदान है। कवि के लिए इन सबका प्रतीकात्मक मूल्य होता है। समुद्र मृत्यु एव अनन्तता का प्रतीक बन जाता है और ग्रीष्मकालीन मैदान उस मानव-पीढी का जो मृत्यु के आनन्त्य मे विलीन हो जायेगी।

चूंकि सकेन्द्रण प्राय अभ्यास एव श्रम द्वारा साध्य होता है, इसलिए यह नही सोच लेना चाहिए कि रचना-प्रक्रिया मे **प्रेरणा** नाम की कोई चीज नही होती या "केवल स्पेंडर ही ऐसा कवि है जो अभिप्रेरित नही होता।" प्रेरणा, किसी कविता का आदि और अन्त दोनों होती है अर्थात् यह कविता की अभिप्रेरक शक्ति भी है और उसका उद्देश्य भी। अत भले ही स्पेडर ने अपने विवेचन मे सकेन्द्रण पर पहले विचार किया है, क्रम की दृष्टि से वह प्रेरणा की अवस्था को पहला चरण मानते हैं। इस अवस्था पर लेखक को अपने प्रत्यक्षित अनुभव के फलस्वरूप कविता के केन्द्रीय भाव या विचार का धुंधला सा प्रकाश मिलता है जो प्राय कविता की पहली पक्ति का रूप धारण करता है। स्पेंडर के शब्दो मे "प्रेरणा-विषयक मेरा व्यक्तिगत अनुभव यह है कि यहाँ एक पक्ति या एक सूत्र या एक शब्द की उपलब्धि होती है जिसकी अस्पष्टता विचार के धुंधले बादल की तरह होती है और उसे मैं शब्दो की बौछार मे सघनित करना चाहता हूँ।"[2]

3 1.2. यहाँ से कल्पनात्मक चिन्तन प्रारम्भ होता है जिसके लिए स्मरण की आवश्यकता होती है। अत कविता-लेखन की प्रक्रिया मे अगली अवस्था **स्मरण** की है। "यदि एक विशेष प्रकार का सकेन्द्रण कविता के रहस्योद्घाटन के लिए ज़रूरी अनुशासन है तो एक विशेष प्रकार से इस्तेमाल की जाने वाली स्मरण-शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा को प्रकृति से मिला हुआ वरदान है। कवि प्रथमत वह व्यक्ति होता है जो उन ऐन्द्रिय

1. स्टीफन स्पेंडर, दि मेकिंग ऑफ ए पोइम, दि क्रिएटिव प्रॉसेस, सम्पा० बी० घिसेलिन (लन्दन, न्यू इंग्लिश लाइब्रेरी, 1952), पृ० 113।
2. वही, पृ० 118।

प्रभावों को कभी नही भूलता जो उसके अनुभव से गुजर चुके होते हैं और जिन्हें वह *उनकी मौलिक ताज़गी के साथ बार-बार जी सकता है।"*[1] *स्पेंडर स्मरण को कलाकार* का अतिविकसित और सूक्ष्मग्राही संयन्त्र कहते हैं। यह 'स्मरण' मनुष्य की उस सामान्य स्मृति से भिन्न होता है जिसके कारण वह लोगों के टेलिफोन-नम्बर या पते याद रख सकता है। इस अर्थ मे तो रचनाकार भुलक्कड़ होता है लेकिन अनुभव-सवेदन को बाद के साहचर्यात्मक विचरण के साथ जोड़ने का कार्य वह अपने समृद्ध एव असामान्य स्मरण द्वारा ही *सम्पन्न करता है। उसकी सर्जनात्मक कल्पना भी इसी स्मरण पर आश्रित* होती है क्योकि वह ऐसा कुछ भी कल्पित नही करता जो पहले से उसे ज्ञात अथवा ज्ञात से सम्बन्धित न हो।

3 1.3. स्मरण के बाद स्पेंडर कवि की **आस्था** (फेथ) पर बल देते है। आस्था का एक अर्थ अपने रचनाकर्म या पेशे मे विश्वास है जो अपनी तीव्रता मे रहस्यात्मक होता है *और सिसृक्षण को प्राणवान् बनाता है। उदाहरण के लिए शेक्सपियर को अपनी कविताओ* या नाट्य-रचनाओ की अमरता मे अगाध विश्वास था। स्वय स्पेंडर स्वीकार करते है कि उन्हे किशोरावस्था से ही अपने कवि-कर्म की परम पावनता में आस्था रही है। सच्चा कवि अधिकार और सत्ता नही चाहता लेकिन कभी-कभी यदि वह आत्माभिमानी और महत्वाकाक्षी प्रतीत होता है तो ये भी उसकी आस्था ही के पवित्र रूप होते है क्योकि इनका सम्बन्ध उसकी *सवेदनशीलता, उसके भाषा पर अधिकार और अन्य प्रकार के* वैशिष्ट्य से होता है जिसकी उपलब्धि मतदान और चुनावों के माध्यम से नही होती। उसकी आस्था विनम्रता की सूचक भी है, वह जानता है कि अन्तिम निर्णय उसके हाथ मे नही हो सकता। इसलिए उसके रचना-व्यापार को परिणतियां समय की अग्नि-परीक्षा के हवाले हो जाती है। इस दृष्टि से आस्था उसके कर्म का औचित्य भी है।

3 1 4. *काव्य-रचना के अभिव्यक्ति-पक्ष मे स्पेंडर गीत-तत्व के सयोजन को अपार* महत्व देते है। "यह एक ऐसा सगीत है जिसे कविता धारण करेगी—वह कविता जो अभी तक पूरी तरह साँची भी नही गई; यह कविता की चेतना मे कविता का सनातन गर्भाशय है जिसे उर्वरणोन्मुखी बीज की प्रतीक्षा रहती है।"[2] यह शब्द-सगीत है जिसमें छन्द, लय, ध्वनि और स्वरक एकाकार हो जाते है और जिसकी साधना बहुत कठिन होती है। इसीलिए *स्पेंडर कवि के शाब्दिक व्यापार को 'देवता के साथ मल्ल युद्ध' कहते* हैं। स्पेंडर इस पक्ष का भी ब्यौरा देते हैं कि रचना की समाप्ति पर रचनाकार को कैसा लगता है। "आमतौर पर जब मैं कोई कविता समाप्त करता हूँ तो सोचता हूँ कि यह मेरी सर्वोत्तम कविता है और मैं उसे तत्काल छपवाना चाहता हूँ। इसका आशिक कारण यह होता है कि मैं तभी लिखता हूँ जब मेरे पास कुछ नया कहने को होता है और वह मुझे अपने पूर्वरचित से अधिक सार्थक प्रतीत होते हैं, अपने अतीत की अपेक्षा मुझे अपने

---

1. वही, पृ० 120।
2. वही, पृ० 124।

वर्तमान और भविष्य से अधिक आशा लगी रहती है। कविता की समाप्ति के कुछ दिन बाद मैं उसे अतीत मे निर्वासित कर देता हूँ; उन सब निरर्थक प्रयत्नो या पुस्तकों में जिन्हे मैं खोलना नही चाहता।"[1]

स्पेंडर ने अपने काव्य-निर्माण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसमे सकेन्द्रण, प्रेरणा, स्मरण, आस्था और गीत-तत्व (साँग) वस्तुतः रचना-प्रक्रिया के चरण न होकर उपस्कारक तत्व हैं। कुमार विमल के हवाले से यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है क्योकि उनका विवेचन भी मूलतः स्पेंडर की 'दि मेकिंग ऑफ ए पोइम' से प्रभावित है।

3.2. मयाकोव्स्की का अनुभव

प्रसिद्ध कवि व्लादीमिर मयाकोव्स्की ने काव्य-सर्जन के लिए पांच 'प्रारम्भिक बातें' या शर्तें निर्धारित की हैं। पहली बात—**सामाजिक मांग**; अर्थात् समाज मे ऐसी दायित्वमयी अपेक्षा का होना जिसे इस प्रकार के काव्यात्मक या अन्य-विधात्मक लेखन द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, रचनाकार की विचारणीय समस्या यदि समकालीन समाज मे नही है तो सार्थक रचना-व्यापार शुरू नही किया जा सकता। दूसरी बात—**पूर्वनिश्चित लक्ष्य** की स्पष्टता या समस्या के बारे मे अपने वर्ग की इच्छाओं का ज्ञान। उदाहरण के लिए अगर सामाजिक मांग है कि किसी मोर्चे पर जाने वाले सिपाहियों के लिए गीत लिखा जाए तो रचनाकार इसी विषय का चयन करता है और तदनुरूप अपने वर्ग की इच्छानुसार यह लक्ष्य निर्धारित करता है कि कविता के कथ्य मे शत्रु को चूर-चूर कर दिया जाए। तीसरी बात—**शब्द सामग्री**; अर्थात् "आपकी खोपड़ी के भण्डार या कोठार को निरन्तर आवश्यक; सार्थक, दुर्लभ, आविष्कृत नवीकृत, रचित तथा हर प्रकार के कल्पित शब्दो से भरा जाना चाहिए।"[2] मिसाल के तौर पर उपर्युक्त प्रसग मे 'सामग्री' से मतलब है सेना की बोलचाल की शब्दावली। चौथी बात—**उद्यम के लिए साज-सामान और उत्पादन के लिए यन्त्र**; जैसे कलम, पेंसिल, टाइपराइटर, समाचारों की कतरनें एकत्र करने वाले विभाग से सम्पर्क, यात्रा के लिए कोई वाहन और काम करने का ऐसा कमरा जिसमे घूमा-फिरा जा सके, इत्यादि। मोर्चे वाली कविता के प्रसग मे 'चबाई हुई पेंसिल का एक टुकडा'। पांचवी बात—**वर्षों के श्रम से अर्जित शब्द-शोधन की विधियाँ**: तुक, छन्द, अनुप्रास, वाक्य-रचना, शैली-भेद, रस, शीर्षकीकरण, मसविदा आदि। जैसे उक्त कविता के सन्दर्भ मे तुक वाला 'चस्तूश्का' (एक प्रकार की चतुष्पदी)। यह रचना-प्रक्रिया की **प्रारम्भिक श्रमसाध्य अवस्था** है अर्थात् एक अच्छी रचना दे सकने की अनिवार्य तैयारी है। जीवन-यथार्थ के दैनन्दिन

---

1. वही, पृ० 124।
2. व्लादीमिर मयाकोव्स्की, *कवितायें कैसे बनायी जायें*, *लेखन कला और रचना कौशल* (पूर्वोद्धृत), पृ० 164।

विषय-खण्डों का रचनाकार के मस्तिष्क में घूमते रहना, उन्हे नोटबुक मे दर्ज करना और फिर उपयुक्त विषय का चयन करना भी इसी अवस्था के कुछ प्रकार्य हैं।

इन बातो के पीछे मयाकोव्स्की की यह धारणा है कि अगर रचनाओं को उच्च विशिष्टता प्राप्त करनी है और भविष्य में पनपना है तो रचनाकर्म को सभी प्रकार के मानवीय श्रम से अलग कर देखने की हानिकारक प्रवृत्ति का त्याग करना होगा। उनके अनुसार रचना का जन्म प्रतिक्रिया से होता है और वह किसी प्रतिनिधि सत्य के लिए पक्षधरता को अपने प्रयोजन में अवश्य समेटती है। **दूसरी अवस्था** को मयाकोव्स्की "सामान्यीकरण का प्रयास करते समय अपने समय और अपनी विषय-वस्तु के बीच रखी गई दूरी" कहते हैं। इसका मतलब है—घटना जिस स्तर पर घटी हो उसे भिन्न स्तर से देखना। यह रचनाकार की तटस्थता नही बल्कि वस्तुओं को उनके यथार्थ और निर्वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य मे देखना है। "ठीक जैसे, उदाहरण के लिए, चित्रकारी मे होता है। अगर आप किसी चीज का खाका खीच रहे हैं तो आपको उस वस्तु के आकार की तीन गुना दूरी पर चले जाना चाहिए। जब तक आप ऐसा नही करेंगे यह देख ही नही पायेंगे कि किस चीज का चित्र बना रहे हैं। जितनी बडी वस्तु या घटना होगी उतनी ही अधिक दूरी तक आपको पीछे हटना होगा।"[1]

इसी का एक आयाम है एकाग्रता जिसे कुछ लोग रचनाकार की अन्यमनस्कता भी कहते हैं। वैचारिक एव कलात्मक परिपक्वता के लिए यह अवस्था बहुत जरूरी होती है, इसलिए कई बार यह बहुत लम्बा समय ले लेती है। **तीसरी अवस्था** स्फुरण-प्रधान होती है। इसमे वैचारिक एव रूपाकार सम्बन्धी कुहासा दूर हो जाता है और बहुवांछित केन्द्रीय बिम्ब अचानक उभरकर सामने आता है। शेष रचनाकर्म इसी बिम्ब को सहायक बिम्बो मे विस्तारित करना होता है। यही से **रचना-प्रक्रिया की चौथी अवस्था** या विषय-वस्तु को रूपबद्ध करने की शाब्दिक क्रिया आरम्भ होती है। वैसे तो शब्दो मे सोचना और इसी क्रम मे अपरोक्षत शब्द-चिन्तन करना लगभग सभी अवस्थाओ मे जारी रहता है लेकिन विचारो को निश्चित शब्दो मे बाँधना इसी अवस्था का प्रकार्य है। यह भी कोई श्रमहीन व्यापार नही है क्योंकि शब्दो की तलाश की यन्त्रणा बहुत गहरी होती है। उन्हें उपयुक्त लय और ध्वन्यात्मकता प्रदान करना, श्रवण-गुण-सम्पन्न तथा पाठक-ग्रन्थि बिम्बावली का निर्माण करना बहुत कठिन होता है। मयाकोव्स्की इस अवस्था का विवरण यो देते है—"मैं हाथ हिलाता और शब्दो के बिना बुदबुदाता चला जा रहा हूँ (जैसे त-र-रा र र र, र, रा)। कभी अपनी चाल को धीमा कर लेता हूँ ताकि बुदबुदाने में बाधा न पडे या कभी तेजी से बुदबुदाने लगता हूँ ताकि वह मेरी चाल का साथ दे सके। लय को, जो सारे काव्य का आधार है और जो दबी हुई गूँज के रूप में इसके भीतर से गुजरती है, रूपबद्ध करने और व्यवस्थित शक्ल देने का यही तरीका है। धीरे-धीरे आप

1. वही, पृ० 179।

अलग-अलग शब्दों को इसी गूंज से निकालने लगते हैं।"[1] मयाकोव्स्की के अनुसार यह अभिव्यंजना को परम सीमा तक पहुंचाने की अवस्था है। इसका सबसे महत्वपूर्ण साधन बिम्ब है जिसकी रचना के अनन्त उपाय होते हैं। बिम्ब-रचना मे परिमार्जन की क्रिया भी अपने-आप सम्मिलित रहती है। परिमार्जन का सम्बन्ध श्रवण-गुण, उतार-चढ़ाव, परिसज्जा और यहां तक कि प्रकाशित रचना के पूर्व-कल्पन के साथ भी होता है।

मयाकोव्स्की ने उपर्युक्त रचनारम्भ की शर्तों को छोड़कर शेष अवस्थाओ की व्याख्या नही गिनायी है लेकिन 'सेर्गेई येसेनिन के नाम' शीर्षक अपनी प्रसिद्ध कविता की "रचना क्रिया का ठोस उदाहरण देकर" इनके विकास को स्पष्ट किया है।

3 3 पिकासो का अनुभव

महान चित्रकार पिकासो के अनुसार तमाम कलात्मक प्रक्रिया का रहस्य दो अवस्थाओ मे होता है—भरा जाने की अवस्था और खाली होने की अवस्था। "मैं फान्तेनेब्लो के जगल का भ्रमण करता हूँ। वहां मुझे हरियाली का अपच होता है। मेरे लिए इस सवेदन को चित्र में खाली करना जरूरी है। चित्रकार अपनी सवेदनाओ और संदर्शनाओ के अनिवार्य स्खलन की आवश्यकता के वशीभूत ही चित्र बनाता है।"[2] पहली अवस्था का सम्बन्ध कलाकार के विषय से है जो कि धरती-आकाश से लेकर मकड़ी के जाले तक कोई भी हो सकता है, उसकी सदर्शना से और इसके सवेगों से होता है। आँख जो कुछ देखती है वह उपचेतन मे दर्ज होता रहता है। यह 'देखना' सामान्यकोटिक नही होता बल्कि गहन अनुभूतिजन्य और विचारोत्पादक होता है। कलाकार उजाले को आम *आदमी की तरह देखता भर नहीं, उसमें नहा जाता है और उसके प्रतीकार्थ को ग्रहण* करता है। दूसरी अवस्था उस 'देखे हुए' को रूपान्तरित करने की होती है। अतः यह सोचना गलत है कि वह किसी पूर्व योजना के तहत अनुभव का रूपान्तरण करता है। "किसी भी चित्र का निर्माण पहले से ही योजनाबद्ध या निर्धारित नही किया जा सकता। रूपायण तो विचार की गतिशीलता का अनुसरण करता है।"[3] साराशतः पिकासो के अनुसार ऐन्द्रिक, चित्यात्मक एव सज्ञानात्मक अनुभव अर्थात् प्रत्यक्षण तथा रूपान्तरण ही रचना-कर्म की आधारभूत अवस्थाएँ है। अपने चित्रों के साथ दर्शकीय तादात्म्य की बात को वह निरर्थक समझते हैं। "आप कैसे सोच सकते हैं कि दर्शक भी मेरे चित्र को वैसे ही जियेगा जैसे कि मैंने उसे जिया है? ··· मैंने जो कुछ देखा है उसे चित्र का रूप दिया है, अगली सुबह मुझे स्वय पता नही होता कि मैंने क्या बनाया है।"[4] अत उनके

---

1. वही, पृ० 183।
2. त्रिश्चियन ज़र्वेस, कन्वर्सेशन विद पिकासो, क्रिएटिव प्रॉसेस, सम्पा० घिसेलिन (पूर्वोद्धृत), पृ० 59।
3-4. वही, पृ० 57, 60।

विचार में यदि कोई कलाकृति कलाकार के संवेगो से उपज कर दर्शक का संवेगोद्दीप्त कर सकती है तो उसका दर्शकीय परिप्रेक्ष्य भी सार्थक होता है, अन्यथा कलाकार के आशय के साथ दर्शक द्वारा गृहीत अभिप्राय. की एकात्मकता पूरी तरह कभी नही हो सकती।

पश्चिम के बहुत से अन्य रचनाकारो ने भी अपनी रचना-प्रक्रिया के विवरण दिए है। उनमे ऐसा कुछ भी नही है जो व्याख्या-भेद से उपर्युक्त विवरणो मे अन्तर्विष्ट न किया जा सके। उदाहरण के लिए एमी लॉवेल ने रचनाकार की तुलना रेडियो के एरियल से की है जो कि तरगों को ग्रहण करता है, मगर उसे एरियल से अधिक भी माना है क्योकि वह गृहीत सदेशों का प्रसारण भी अपनी कविताओं आदि के माध्यम से करता है। अलेक्सेई तॉलस्तोय का कहना है कि वह किसी रचना का निर्माण करते समय तीन अवस्थाओ मे से गुज़रते हैं—अनुभव के अनुसार कार्य-लय का मिलना, गतिरोध एव दीप्ति और समापन। इसी प्रकार टी०एस० इलियट का रचना-कर्म को निर्वैयक्तिकरण की प्रक्रिया मानना भी उपर्युक्त विवरणो में समाहित हो जाता है। अत इस प्रसंग को अधिक खींचना पुनरावृत्तिपरक एव असमीचीन होगा। अब केवल यह देखना है कि हिन्दी के कुछ रचनाकारो की राय या आपबीती के अनुसार रचना की प्रक्रिया का विकासात्मक स्वरूप क्या है?

3.4. मुक्तिबोध और 'कला के तीन क्षण'

हिन्दी के सर्जक साहित्यकारो मे इस विषय पर सर्वाधिक क्रमबद्ध विचार मुक्ति-बोध ने किया है। विचार इसलिए किया है क्योकि वह अपने पूर्ववर्ती स्वछन्दतावादी तथा अपने समय के प्रयोगवादी और फिर नयी कविता के दौर के साहित्य से, विशेषत. काव्य से, बहुत असन्तुष्ट थे। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि वह सर्जनात्मक साहित्य मे ह्रास का कारण उस खण्डित रचना-प्रक्रिया को मानते हैं जो वर्ग विभाजित समाज के विभाजित रचनाकार की सीमा है। विभाजित रचनाकार, उनके अनुसार, अपनी रचना-प्रक्रिया के प्रथम चरण पर ही सीमित हो जाता है क्योकि वह अपनी अनुभूत घटनाओ को ऐतिहासिक शक्तियो की अभिव्यक्ति के रूप मे नही देख सकता और परि-णामत उसमे 'मानव के सकल्प की आग' नही होती। उसकी रचना-प्रक्रिया भीतर की मजबूरी से सचालित होती है जबकि 'बाहर की मजबूरी' उसकी सृजन मनोवैज्ञानिक परिधि से बाहर रह जाती है।

3 4.1. मुक्तिबोध के अनुसार असाधारण साहित्यिक व्यक्तित्व मे "सिद्धान्त और कार्य (थियरी एण्ड प्रैक्टिस) का आपस मे टकराता हुआ और एक-दूसरे को पंगु

और निष्क्रिय बनाता हुआ द्वन्द्व" नहीं होता।[1] 'युगीन घटनाक्रम और साहित्य-सृजन' विषय पर विचार करते हुए वह स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि साहित्य का विकास समाज-राजनैतिक घटनाओं के अनिवार्यतः समानान्तर नहीं होता तथापि यही वह बिन्दु है जहाँ साहित्यकार के सामाजिक व्यक्तित्व का विकास तथा उसके भीतर-बाह्य में समृद्ध सामजस्य होता है। तब उसके लिए जरूरी बन जाता है कि "वह उन युगान्तरकारी घटनाओ की प्रक्रिया मे व्यक्तिगत रूप से भाग लेकर उन अनुभवो की सवेदना-ग्रन्थि को धारण करते हुए साहित्य मे उसको खोल दे।"[2] अत मुक्तिबोध जब रचना-प्रक्रिया को सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव के रूप मे ग्रहण करते हैं तब उनका मतलब एक ओर तो यह होता है कि "सौन्दर्य प्रतीति का सम्बन्ध सृजन-प्रक्रिया से है, सृजन-प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य-प्रतीति असम्भव हो जाती है" और दूसरी ओर यह भी कि "प्राकृतिक सौन्दर्य या नारी-सौन्दर्य का अवलोकन व्यक्तिवाद होने से सही अर्थों में सौन्दर्यानुभव नहीं कहा जा सकता।...असलियत यह है कि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है जब सर्जनशील कल्पना के सहारे सवेदित अनुभव ही का विस्तार हो जाए। कलाकार का वास्तविक अनुभव और अनुभव की सवेदनाओ द्वारा प्रेरित फैण्टेसी इन दोनों के बीच कल्पना का एक रोल होता है। वह रोल, वह भूमिका एक सृजनशील भूमिका है।...अनुभव प्रसूत फैंटेसी मे जीवन के अर्थ खोजने और उसमे आनन्द लेने की इस प्रक्रिया में ही जो प्रसन्न भावना उत्पन्न होती है, वही एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स का मर्म है।"[3] दूसरे शब्दो में कहे तो 'यह सर्जनशील भूमिका' या 'जीवन के अर्थ खोजना' वस्तुतः कलाकार की सामाजिक भूमिका या उसके रचनाकर्म का कर्त्तव्य पक्ष है जो मुक्तिबोध के सम्पूर्ण रचना-प्रक्रियात्मक और समीक्षात्मक अथवा सृजनात्मक साहित्य में एक गहरी मान्यता बनकर अनुस्यूत रहता है। इसीलिए वह रचनाकर्म के आनन्द को अनुभव-सवेदन मे नही बल्कि उसके आभ्यंतर विस्तारण मे मानते हैं। और यह विस्तारण सही रूप में तब सम्भव होता है जब रचनाकार के व्यक्तित्व की ईमानदारी या दुरावरहितता उसके रचना-व्यापार को छिद्रहीन एव प्रामाणिक बनाती है।

3 4 2. मुक्तिबोध रचना-प्रक्रिया मे रचनाकार के व्यक्तित्व की 'सतह' को महत्त्वपूर्ण समझते है जो उसकी साधारणता या असाधारणता का निर्धारण करती हैं। उसका सतह से ऊपर उठना इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी कलात्मक चेतना कितनी गहन, विस्तीर्ण एवं समृद्ध है। उनके अनुसार कला-चेतना का समुचित विकास ही **कला-कार्य की पृष्ठभूमि या पूर्वावस्था** होती है। वास्तव मे यह चेतना प्रत्येक सस्कृति-जीवी मनुष्य की वर्षो एवं पीढियो से अर्जित सामर्थ्य है जिसका सम्बन्ध अपने-अपने सौन्दर्यानुभव से होता है लेकिन सार्थक कलाकार की विशिष्टता यह होती है कि वह

1-2. मुक्तिबोध, *युगीन घटनाक्रम और साहित्य-सृजन*, मुक्तिबोध रचनावली भाग-4, पृ० 21।

रचना-कर्म से पूर्व संचित इसकी 'भाव-राशियों' को अनुभव-समस्याओं के रूप में ग्रहण करता है और मानव-मुक्ति के लक्ष्य से इनका एकाकार करके अपने रचना-कर्म तथा उसकी परिणतियों को उदात्त बनाता है। एक स्थान पर मुक्तिबोध ने लिखा है—"मैंने अपने अन्य निबन्धों में कला के तीन मूल क्षणों का विशदीकरण किया है। यहाँ केवल इतनी ही बात उल्लेखनीय है कि पुष्ट और सुदृढ़ कलात्मक चेतना के विकास की इस पार्श्वभूमि के बिना कलाकृति की रचना सम्भव नहीं है। कलाकृति की रचना के काल से पूर्व वह चेतना विकसित और पुष्ट रहती है। रचना-कार्य के समय, कलात्मक चेतना की जो कुछ अर्जित सम्पत्ति है, वह ज़ोर मारती है। रचना-कार्य अभिव्यक्ति का कार्य है। किन्तु अभिव्यक्ति के लिए छटपटाने वाले तत्व पहले ही से कलात्मक चेतना के अंग और अंश रहते हैं, भले ही उनकी अभिव्यक्ति हो या न हो। सच बात तो यह है कि कलात्मक चेतना वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन का ही एक भाग है। कलात्मक चेतना के भीतर समाये संवेदनात्मक उद्देश्य, भोक्तृमन के उस स्व-चेतन आवेग से उत्पन्न होते हैं जो कि वांछित और वांछनीय को प्राप्त करने के लिए तड़पता हुआ, अपनी निज-बद्ध स्थिति से ऊपर उठकर, अन्तर तथा बाह्य वास्तव में मानवानुकूल परिवर्तन करना चाहता है। ये संवेदनात्मक उद्देश्य अन्त सस्कृति के अंग होते हैं, उस सस्कृति के जो बाह्य के आभ्यन्तरीकृत रूप में अवस्थित है। संवेदनात्मक उद्देश्य मनोमय होता हुआ भी जगन्मय है, इसलिए विद्युन्मय है। किन्तु होता यह है कि बहुत से कलाकार वास्तविक अनुभवात्मक जीवन-यापन की अंगभूत कलात्मक चेतना को वस्तुत पुष्ट नहीं कर पाते। वे कला की रचना को रचना-काल की स्वप्निलता से उलझाकर, उसी स्वप्निलता को कलात्मक चेतना कहते हैं। यह गलत है।"[1]

3.4.3. मुक्तिबोध के अनुसार रचना-प्रक्रिया की तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन्हें वह **'कला के तीन क्षण'** कहते हैं। **पहला क्षण 'अनुभव का क्षण'** है। इसमें रचनाकार किसी तीव्र अनुभव से उत्प्रेरित एवं उद्वेलित होता है। यह अवस्था मूलत व्यक्ति-संवेदनात्मक है मगर अनुभव-तत्व की प्रधानता के बावजूद इसमें रचनाकार के दर्शकत्व का अंश भी किसी मात्रा में अवश्य रहता है। इसमें वह एक प्रकार के 'दुखते हुए अनुभव-मूल' से जुड़ा रहता है लेकिन यह अनुभव का क्षण जीवन के साधारण अनुभव-कोश से भिन्न इसलिए होता है क्योंकि इसमें एक तो कलाकार का द्रवणशील होना सामान्य-स्तरीय नहीं होता और दूसरे इसमें अनुभव के महत्व का प्रच्छन्न बोध भी रहता है। मुक्तिबोध के अनुसार इस क्षण में दर्शकत्व और भोक्तृत्व अर्थात् स्थितिमुक्तता और स्थितिबद्धता दोनों का योग रहता है। इस योग के बिना न तो कल्पना की सहायता से रचना-प्रक्रिया के अगले चरण में प्रवेश सम्भव होता है और न इस क्षण का वैशिष्ट्य स्थापित होता है। यथा-स्थिति और यथा-कामना का द्वन्द्व इसमें निरन्तर चला करता है। इसीलिए मुक्तिबोध

---

1. मुक्तिबोध, आधुनिक कविता की दार्शनिक पार्श्वभूमि, मुक्तिबोध रचनावली-5 पृ० 207।

रचना-प्रक्रिया और सौन्दर्य-प्रतीति की द्वन्द्वात्मक प्रकृति पर बल देते हैं। साराश यह है कि 'अनुभव का क्षण' ही रचनात्मक आवेग और सृजन की प्रयोजनशील इच्छा के माध्यम से रचना-कार्य को अनवरत गति प्रदान करता है। "मानसिक प्रक्रिया को आत्माभिव्यक्ति की ओर ले जाने के लिए आवश्यक ज़बरदस्त धक्का यह प्रथम क्षण ही देता है। वह उस गति की दिशा निर्धारित करता है। साथ ही वह उसके तत्व रूपायित करता है अर्थात् वह उनको एक आकार प्रदान करता है। साथ ही, मज़ा यह है कि यह अनुभव, विचित्र रूप से अन्य मनस्तत्वों से जुडता हुआ, मनस्पटल पर स्वय को प्रक्षेपित कर, स्वय ही बदल जाता है।"[1] यह 'बदल जाना' ही रचना-प्रक्रिया के दूसरे क्षण की ओर बढने का सूचक है, जिसमे सृजनशील कल्पना वास्तविक अनुभव को व्यक्तिगत पीडा से मुक्त करती है और उसे 'दृश्यवत्' बनाकर विस्तार की ओर ले जाती है।

3.4 4 यह "दृश्यवत् उपस्थित और विस्तृत अनुभव या फैण्टेसी", मुक्तिबोध के अनुसार कला का दूसरा क्षण है। "फैण्टेसी अनुभव की कन्या है और उस कन्या का अपना स्वतन्त्र विकासमान अस्तित्व है वह अनुभव से प्रसूत है इसलिए वह उससे स्वतन्त्र है।"[2] मुक्तिबोध की मान्यता है कि ज्योंही अनुभव स्वय को प्रक्षेपित कर बदल जाता है त्योंही अनुभव के मूल अपनी दुखती हुई ज़मीन से अलग हो जाते हैं अर्थात् वैयक्तिक होकर भी वैयक्तिक नही रहते। फैण्टेसी का क्षण सौन्दर्यात्मक अनुभव का मधुर क्षण होता है। इसका कारण फैंटेसी मे 'भावात्मक उद्देश्य की सगति' का आना है। फैंटेसी जीवन के यथार्थानुभव की प्रतिकृति नही होती बल्कि अपने ही रगो मे अनुभव का विस्तार करती है। यह अनुभव का विस्तारण सृजनात्मक कल्पना द्वारा निष्पन्न होता है, इसलिए इस दूसरे क्षण को कल्पना प्रधान विचारण की अवस्था कहा जा सकता है। पहले क्षण में अनुभव-जन्य और तात्कालिक सवेदनात्मक ज्ञान की प्रमुखता होती है, लेकिन "फंटेसी मे सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदनाएँ रहती हैं। कृतिकार को लगातार महसूस होता रहता है कि उसका अनुभव सभी के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान है। तो मतलब यह कि भोक्तृत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व एक समन्वय मे लीन होकर एक-दूसरे के गुणो का आदान-प्रदान करता हुआ सृजन-प्रक्रिया आगे बढा देता है। दर्शक का ज्ञान और भोक्ता की सवेदना, परस्पर विलीन होकर, अपने से परे उठने की भंगिमा को प्रोत्साहित करती रहती है।‥‥कला के दूसरे क्षण मे उपस्थित फैण्टेसी की इकाई मे सवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक सवेदना कुछ इस प्रकार समायी रहती है कि लेखक उन्हे शब्दबद्ध करने के लिए तत्पर हो उठना है।"[3]

3 4 5 मुक्तिबोध के अनुसार उपर्युक्त तत्परता ही से कला के तीसरे और

---

1. मुक्तिबोध, तीसरा क्षण, मुक्तिबोध रचनावली-4, पृ० 97।
2. वही।
3. वही, पृ० 101-2।

अन्तिम क्षण का उदय होता है। यह क्षण है—शब्द बद्ध होने की प्रक्रिया से गुज़र कर फेंटेसी का कलाकृति या रचना की शक्ल धारणा करना। यहाँ फैंटेसी पिघल कर इस प्रकार बहने लगती है कि जब उसे शब्दो मे बाँध कर रचना का रूप दिया जाता है तब वह रचना उसी से स्वतन्त्र एवं भिन्न हो जाती है। अत. रचना तरल फंटेसी नही, ठोस कला-सत्य होती है। जिस प्रकार मुक्तिबोध फंटेसी को 'अनुभव की कन्या' मानते है उसी प्रकार कलाकृति को भी "फंटेसी की पुत्री है, प्रतिकृति नहीं" कहते हैं। अभिव्यक्त होकर फंटेसी मे इस परिवर्तन आने का कारण यह है कि "शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया से बहुत से नये तत्व उससे आ मिलते है। ये तत्व उसे लगातार संशोधित करते रहते है। ध्यान रखो कि यह फंटेसी अनुभव-प्रसूत होते हुए भी अनुवभ-बिम्बित होती है।"[1] वास्तव मे मुक्तिबोध यह सिद्ध करना चाहते है कि रचना-प्रक्रिया का यह तीसरा क्षण ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि एक तो कलाकार के कार्य का यही क्षण सर्वाधिक पूर्ण एव स्पष्ट होता है जिसके आधार पर कला-कर्म को अभिव्यक्ति-व्यापार की संज्ञा दी जाती है; और दूसरे इसी के दौरान अनुभव-कन्या फंटेसी फैलकर 'पर्सपेक्टिव' का रूप धारण करती है। "इस पर्सपेक्टिव से समन्वित मूल-मर्म शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में बदल जाता है। वह पुराना मर्म न रहकर अब नया बन जाता है।'''शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया के दौरान में, जब तक उस मर्म मे ओज और बल कायम है, तब तक वह नये तत्व समेटता रहेगा। किन्तु जब वह चुक जायेगा, तब गति बन्द हो जायेगी, उद्देश्य समाप्त हो जायेगा। कविता वहाँ पूरी हो जानी चाहिए। यदि वह पूरी नही हुई, तो मर्म के साक्षात्कार मे कही कुछ कमी रह गयी, दिशा-ज्ञान ठीक नहीं रहा है, उद्देश्य मे कुछ कमजोरी आ गयी है—ऐसा मानना होगा।"[2]

3 4 6 चूंकि कला का तीसरा क्षण शब्द-साधनात्मक है और इसमें फंटेसी का भाषा के माध्यम से रचनान्तरण होता है, इसलिए स्वाभाविक है कि यहाँ रचनाकार अपने 'हृदय की भाव-ध्वनियो' की तुलना 'शब्दो की अर्थध्वनियो' से करता चलता है। मुक्तिबोध के अनुसार इसके दो परिणाम होते हैं—एक यह कि रचनाकार अपनी भाव-ध्वनियो को शब्द-ध्वनियो के वृत्त मे समेटता है और फलस्वरूप मनस्तत्व अपनी प्रारम्भिक ऊर्जा को यथावत् बनाये नही रह सकता क्योकि उसे शब्दानुसारी होना पड़ता है। इसमे कल्पना-बिहारी फंटेसी मे अनुशासन आता है और उसकी काट-छाँट होने लगती है। लेकिन दूसरा अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह भी होता है कि 'जीवित भाषा-परम्परा' फंटेसी या भाव-ध्वनियो ही को समृद्ध करने लगती है और उनकी ऊर्जा को अधिक विस्तृत बनाती है अर्थात् "फंटेसी अब पूर्ण रूप से सार्वजनीन हो जाती है।" अतः अभिव्यक्ति-साधना की इस अवस्था मे एक ओर भाषा फंटेसी को संशोधित करती है और दूसरी ओर फंटेसी भाषा को सम्पन्नता प्रदान करती है। मुक्तिबोध इसे *भाषा तथा भाव का अत्यन्त महत्वपूर्ण और सृजनशील द्वन्द्व* कहते हैं। उनके शब्दों मे—"इसीलिए कलाकार को यह

1-2. वही, पृ० 102, 103।

महसूस होता रहता है कि जो उसे कहना था वह पूर्ण रूप से नहीं कह सका, और ऐसा बहुत कुछ कह गया, जो शुरू मे उसे मालूम नही था कि कह जायेगा।"[1] अतः रचना-प्रक्रिया में भाषा या रूप-तत्व को अन्तर्वस्तु की संवहन-सामर्थ्य के तौर पर ही नहीं अन्तर्वस्तु की निर्मात्री-शक्ति के रूप में भी समझा जाना चाहिए।

3.5 वटरोही का अनुभव

कथाकार वटरोही ने रचना-प्रक्रिया को मानवीय अनुभव की जिज्ञासा से लेकर रचना तक अत्यन्त अमूर्त और जटिल यात्रा के रूप में व्याख्यायित किया है। मुक्तिबोध के 'तीन क्षण' यदि कविता-केन्द्रित हैं तो बटरोही ने कहानी के सन्दर्भ को अधिक उठाया है। उनके अनुसार रचना-प्रक्रिया मानवीय अभिव्यजना ही की विशिष्ट कार्यिकी है। "रचना, रचनाकार की एक ऐसी आन्तरिक विश्लेषणात्मक दृष्टि है जिसे वह स्वयं के तथा सामाजिक मूल्यों के सघर्ष मे से प्राप्त करता है। संघर्ष निर्मित होने तक की स्थिति कृति के आन्तरिक रचना-तन्त्र के अन्तर्गत आती है और इसके बाद की आन्तरिक विश्लेषण की स्थिति रचना के बाह्य तन्त्र के अन्तर्गत। अपनी विशिष्ट दृष्टि को प्राप्त कर चुकने के बाद रचनाकार उस सवेदन को जिस विधा के अनुभव अथवा जिस विधा के अन्तर्गत उसका सफल निर्वाह अनुभव करता है, सवेदना को उस विधा का रूप दे देता है।"[2]

इस प्रकार, वटरोही के अनुसार, रचना-व्यापार की चार क्रमिक अवस्थाएँ हैं। **पहली अवस्था है** जिज्ञासा-भाव। इसका बीज रचनाकार के असामर्थ्य-बोध मे होता है। 'बोध' और 'एहसास' में अन्तर है। 'एहसास' प्रत्येक व्यक्ति की प्रगुणता है जबकि रचनाकार का वैशिष्ट्य इसे 'बोध' के धरातल पर ग्रहण करने मे होता है अर्थात् इस 'एहसास' की चेतना भी उसे रहती है। इस चेतना के परिणाम-स्वरूप वह अपने असामर्थ्य-बोध को जिज्ञासा-भाव मे बदलता है। "जिज्ञासा द्वारा कोई भी भाव मानवीय हो जाता है क्योंकि यहाँ पर व्यक्ति, भाव के उस मूल स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है जिसके कारण मनुष्य मात्र उससे एक विशेष ढग से प्रतिक्रियाशील होता है।"[3] वह मानते हैं कि अनुभूति जिज्ञासा के साथ उत्पन्न होने वाला 'पहला रचनात्मक मनोभाव' है। उनका तात्पर्य यह है कि जिज्ञासा और अनुभूति के योग से सवेदित होना ही रचना-प्रक्रिया का प्रथम चरण है। रचना-प्रक्रिया के **दूसरे चरण पर**, अनुभूति-मिश्रित जिज्ञासा की पृष्ठभूमि मे, कल्पना का उदय होता है। इस प्रक्रिया का 'पहला महत्वपूर्ण कार्य' यही से आरम्भ होता है। जिज्ञासा के समाधानार्थ कल्पना सार्थक बिम्बों को खोजती है।

---

1. वही, पृ० 106।
2. बटरोही, कहानी : रचना-प्रक्रिया और स्वरूप (दिल्ली, अक्षर प्रकाशन, 1973), पृ० 23।
3. वही, पृ० 10।

"कल्पना स्वयं को समझने की 'भाषा' है। इसीलिए कल्पना को आन्तरिक रचना-प्रक्रिया का पहला बिन्दु कहा गया है। यह प्रक्रिया विचार के निर्माण तक चलती है। 'विचार' यानी कल्पना के माध्यम से निर्मित जिज्ञासा का तार्किक रूप—जो रचनाकार की अपनी *आन्तरिक सार्थकता के लिए निर्मित है।*"[1] अत. विचारण या चिन्तन **रचना-प्रक्रिया का तीसरा चरण है।** वास्तव में यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते रचनाकार के मन-मस्तिष्क में रचना का पूरा खाका या स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उसे अपने कथ्य और उसकी दिशा का एक विहंगम ज्ञान रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो यह अशब्द-स्तरीय रचना की अवस्था है जिसे आकार देने के लिए अभी माध्यम की आवश्यकता होती है। अत **चौथी अवस्था में** रचनाकार इस 'आन्तरिक रचना' को माध्यम प्रदान करता है। इस प्रकार रचना-प्रक्रिया में व्यक्तिगत अनुभूतियों को कल्पना और विचार के योग से मानवीय अनुभूतियों तक पहुँचाया जाता है।

4 हमारा प्रश्नोत्तरी और रचना-प्रक्रिया की अवस्थाएँ

पत्र-प्रश्नोत्तरी के माध्यम से हिन्दी के कुछ समकालीन रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया के अवस्थात्मक विकास की जानकारी इस प्रकार प्राप्त हुई है[2]—

4 1. नरेन्द्र कोहली

- किसी बाहरी या भीतरी घटना का प्रभाव।
- उस प्रभाव का चेतना में गहरे उतरते जाना और विशिष्ट से सामान्य होकर कलाकृति में उभरना।
- कृति का शब्द-रूप में कागज पर उतरना।

4 2 नरेन्द्र मोहन

- कविता के शब्द-बद्ध होने के पूर्व की बेचैनी, छटपटाहट और उथल-पुथल। 'योग्य भाषा की प्रतीक्षा'।
- शब्द-बद्ध होने के दौरान सवेग की तीव्रता के साथ-साथ विचार-प्रक्रियाओं की हिस्सेदारी।
- विधायक बिम्ब की तलाश :
  "रचना के उस क्षण में पहचान में आनी शुरू होती है भाषा
  प्रकम्पित हो उठता शब्द-ससार
  सुलगने लगता है अँधेरा"।

---

1. वही, पृ० 17।
2. पत्र-प्रश्नोत्तरी द्वारा प्राप्त अभिमत (अप्रकाशित)।

- एक के बाद एक कई ड्राफ्टो का बनना।

4.3. मृदुला गर्ग

- उत्कट अनुभव—पहला चरण।
- अनुभव में स्मृति, कल्पना, वांछा और संगति का मिश्रण जिससे खण्डित सत्य वांछित तथा सम्पूर्ण सत्य में परिवर्तित हो जाता है—दूसरा चरण।
- इस नये अनुभूत को दुबारा जीने की प्रक्रिया है जो कागज़ पर उभरती है—(तीसरा चरण)।

4.4 जगदम्बाप्रसाद दीक्षित

- अनुभव संवेदना—विश्लेषणात्मक समझ।
- फॉर्म के लिए संघर्ष।
- अभिव्यक्ति।

4 5 राजेन्द्र किशोर

- इंडक्शन (अधिष्ठापन या प्रवेश, यदि उनका मतलब 'इंडक्टेंस' से है तो इसका अर्थ होगा प्रेरकत्व)।
- इंटरपोलेशन (अन्तर्वेशन)।
- एक्सट्रापोलेशन (बहिर्वेशन)।

4 6 श्रीरंजन सूरिदेव

- स्वीकृत विषय का पूर्ण अनुभव और ज्ञान।
- रचना के क्षणों में निर्बाध तल्लीनता।
- साधारणीकरण।

4 7 कुछ रचनाकारों ने अपनी रचना-प्रक्रिया की अवस्थाओं का सीधे उल्लेख तो नहीं किया है मगर उनके वक्तव्यों में इनके संकेत अवश्य मिलते हैं। उदाहरण के लिए नवगीतकार रवीन्द्र भ्रमर ने अपने पत्र में लिखा है-—"मैं कवि-गीतकार हूँ। एक अनुभूति जब होती है तो अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा, सटीक बिम्ब और सहज लय-छन्द की तलाश शुरू हो जाती है। मैं सोचता रहता हूँ और गुनगुनाता भी हूँ। यह क्रम कभी-कभी दो चार दिनों तक चलता है।" इस कथन की पुष्टिपरक तुलना मयाकोव्स्की के पूर्वविवेचित विचारों से की जा सकती है।

4 8. इसी प्रकार महीपसिंह का कथाकार अपने रचना-कार्य को अन्तराल भरने की प्रक्रिया के रूप में देखता है। वह लिखते हैं—"रचनाकार किसी अनुभूति-बिन्दु को (या बिन्दुओं को) अपने मानस में लगातार मथता रहता है। (मैं ऐसा ही करता हूँ।)

फिर उस मथित या मथित होते बिन्दु को अपने सृजन में उतारता है। जो कुछ उसने सोचा होता है और जो वह लिखता है, उसमे अन्तराल रह जाता है। यह अन्तराल मुझे निरन्तर बेचैन रखता है। अपनी हर रचना में मैं अन्तराल को भरने की प्रक्रिया से गुजरता हूँ।" अत. इस वक्तव्य में सकेतित अवस्थाएँ है—अनुभूति, मथन और मथित का रूपायण। इसमे तीसरी अवस्था अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी मे भावो-विचारों और अभिव्यक्ति की अन्योन्यक्रिया (अन्तराल भरना) से रचना आकार मे आती है।

5. निष्कर्षात्मक अवस्था-निर्धारण

पिछले अध्यायों मे रचना-प्रक्रिया के अवस्था-निर्धारण, मतो के विस्तृत विवेचन के उपरान्त अब हम इस स्थिति मे हैं कि इनकी यथासम्भव सहायता से उसकी अवस्थाओं का एक ऐसा निष्कर्षात्मक निर्धारण कर सकें जो मूलत सभी प्रकार के साहित्य-सृजन के सन्दर्भ में एक व्यापक सगति रखता हो। अब तक के विवेचन का अति-सक्षेप इस प्रकार है—

- मनोविज्ञान के अनुसार सर्वक्षेत्रीय सर्जन-व्यापार की विकासमान अवस्थाएँ हैं—उपक्रम-काल, साद्रण-काल, विनिवर्तन-काल, अन्तर्दृष्टि-काल और सत्यापन-काल।
- *साहित्य शास्त्रियो एव सौन्दर्य-विवेचको के अनुसार साहित्य-कलात्मक रचना की प्रक्रिया मे सामान्यत. इन अवस्थाओ का समावेश रहता है—प्रभावग्रहण या बाह्य जगत के विषयो के सन्निकर्ष से उत्पन्न उत्तेजक अनुभव, अनुभव की कल्पना-बिम्बात्मक आवृत्ति, उसका सम्बन्ध-निर्धारण और वैचारिक सामान्यीकरण जिसमे आकस्मिक प्रदीप्ति भी विचार-दिशा को आलोकित करती है,* शब्दो या रग-रेखाओ मे उसका बहिर्निरूपण, और सौन्दर्य-बोधात्मक कलाकृति का आविर्भाव जिसके पीछे सशोधन-परिवर्तन तथा सामाजिक स्वीकार के सूत्र भी क्रियाशील रहते है।
- सर्जक साहित्यकारो के अनुसार अनुभूति चिन्तन और अभिव्यजना ही मोटे तौर पर उनकी रचना-प्रक्रिया की अवस्थाएँ है। काव्यात्मक सन्दर्भ मे इन्हे अनुभव, फतासी और शब्दबद्धता या रूपायण के 'क्षण' भी कहा गया है। इन्ही को क्रमश· सवेदन, सदर्शन और सम्प्रेषण की सज्ञा भी दी जाती है। *कुछ रचनाकार इन्हें प्रकारान्तर से प्रेरणा, सकेन्द्रण, स्मृति-कल्पनात्मक* विचारण, 'फॉर्म' के लिए सघर्ष, और सुविचारित अनुभूत को कागज पर उतार कर उसे पुन जीने की प्रक्रिया के चरण भी कहते है।
- *सस्कृत काव्यशास्त्र मे सिसृक्षण की जिन अवस्थाओ के सकेत मिलते हैं वे है— तीव्र अनुभव के साथ वाणी का प्राथमिक स्फुरण, लौकिक प्रत्यक्ष का कवि-*

प्रत्यक्ष में परिवर्तित होना, कल्पनात्मक भावन, शब्दार्थ-सयोजन और साधारणीभूत रसावस्था।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अवस्था-निर्धारण के उपर्युक्त सभी प्रयासों मे मूलतात्विक अभेद है। इन सबकी सहायता से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि रचना की प्रक्रिया मूलतः दो प्रमुख अवस्थाओ मे सम्पन्न होती है—

(1) बाह्य का आभ्यन्तरीकरण
(2) अभ्यन्तर का बाह्यीकरण

दोनो को क्रमशः अन्तर्वेशन और बहिर्वेशन की अवस्थाएँ भी कहा जा सकता है। एक मे सिसृक्षु अपनी स्वाभाविक मनोमस्तिष्कमयी शक्तियों तथा विशिष्ट प्रतिभा से विषय का सामान्येतर-स्तरीय साक्षात्कार, ग्रहण तथा आकलन करता है दूसरी मे विभिन्न स्रोतों से अर्जित कला-कौशल द्वारा उसका शाब्दिक रूपायण करता है। नवलता की खोज इन दोनो अवस्थाओ मे निरन्तर बनी रहती है। इसलिए ये अवस्थाएँ अलग-थलग न होकर सायुज्य और परस्पर-निर्भर होती हैं। इन्हें विकास की रेखीय सीध मे न देखकर अन्योन्यक्रिया के आवर्त्ती सन्दर्भ मे देखा जाना चाहिए। बाह्य का आभ्यन्तरीकरण करते समय ग्रहण तथा खोज का जो सिलसिला प्रारम्भ होता है उसके अनेक आयाम अभिव्यक्ति के दौरान भी उद्घाटित होते रहते हैं। ऐसा नही होता कि रचनाकार किसी पूर्वनिर्धारित योजना का आद्योपान्त अथवा शत-प्रतिशत निर्वाह करे। उसके मस्तिष्क मे अनागत रचना का एक धुँधला खाका अवश्य हो सकता है मगर सिसृक्षण की उपर्युक्त दोनो अवस्थाओं मे, विशेषतया अभिव्यक्ति के दौरान, उस खाके मे परिवर्तन आ जाता है। इस खाके मे रचनाकार के अनुरोध अर्थात् सवेग एव वैचारिक आग्रह भी शामिल होते हैं जो उसकी रचना-यात्रा को उद्घाटित करने के मूल सूत्र होते हैं लेकिन इन सूत्रो की सार्थकता उद्देश्यपरक आरोपण में नही, सहायक धर्म बनकर उसकी रचना-प्रक्रिया की स्वायत्तता को समृद्ध करने मे होती है। मुक्तिबोध ने इन्हे एक 'लालटेन' की उपमा दी है जिसे हाथ मे लेकर रचनाकार मानो अँधेरी रात मे रचना-पथ पर अग्रसर होता है। लालटेन पूरे पथ को उजागर करने मे असमर्थ होती है। ज्यो-ज्यो रचनाकार आगे बढता है त्यों-त्यों वह उसके पथ को उतना-उतना उजागर करती चलती है। कब क्या उजागर हो जायेगा, इसका पहले से ज्ञान नही होता। "रचना-प्रक्रिया वस्तुत एक खोज और ग्रहण का नाम है। अभिव्यक्ति के कार्य के दौरान भी कवि नयी खोज कर लेता है। · पथ पर चलने का अर्थ ही पथ का उद्घाटन होना है, और वह भी धीरे-धीरे, क्रमश.। वह यह भी नही बता सकता कि रास्ता किस ओर घूमेगा या उसे किन घटनाओ और वास्तविकताओ का सामना करना पडेगा। कवि के लिए इस पथ पर बढते जाने का काम महत्वपूर्ण है।'''कोई भी रचनाकार यह जानता है कि रचना के बढते जाने का नक्शा, रचना के पूर्व नही बनाया जा सकता, और यदि बनाया गया तो वह यथातथ्य नही हो सकता। रचना-

प्रक्रिया वस्तुतः एक स्वायत्त प्रक्रिया है। वह किन्ही मूल उद्वेगों और अनुरोधों के सहारे चली जाती है। ये उद्वेग और अनुरोध ही वह लालटेन है जिसको हाथ मे लेकर उसे आगे चलना होता है। और यह पथ क्या है? वस्तुतः बाह्य ससार का आभ्यन्तरीकृत रूप है।"[1] अतः बाह्य का आभ्यन्तरीकृत अभिग्रहण और फिर उस अभिगृहीत का स्व-समन्वित पुनर्बाह्यकरण ही रचना का रहस्य है। इसी अर्थ मे रचनाकार जीवन का पुनस्सर्जन करता है।

1. मुक्तिबोध, काव्य की रचना-प्रक्रिया—एक, मुक्तिबोध रचनावली भाग-5, पृ० 213।

द्वितीय खण्ड

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण

अध्याय—चार

रचनात्मक विषय का संवेदन और प्रत्यक्षण

1. प्रास्ताविक

बाह्य का आभ्यन्तरीकरण मनुष्य-मात्र की सामान्य मानसिक प्रक्रिया है। मनुष्य बाह्य जगत की वस्तुओं और घटनाओं को, संगति या असंगति के धरातल पर, आजीवन अपने मन-मस्तिष्क में समेटता रहता है और उनके प्रभावों को सामर्थ्यानुसार साधारण या असाधारण अर्थ देता है। वह प्रेक्षण करता है, प्रेक्षित से अनुभूत होता है, अनुभूत को सजोता-पचाता है और तब एक निष्कर्षात्मक समझ को धारण करता है जो उसके विधि-निषेधात्मक सामाजिक आचरण में अभिव्यक्त होती रहती है। रचना-प्रक्रिया भी इसी आचरण का उच्चस्तरीय प्रकार है जो बाह्य के अधिक सूक्ष्म, आत्मेतर तथा सौन्दर्यशील आभ्यन्तरीकरण द्वारा चालित होता है।

1.1 यान्त्रिक तथा अयान्त्रिक आभ्यन्तरीकरण में अन्तर

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की स्तरीयता व्यक्तित्व-सापेक्ष होती है। यान्त्रिक ऐन्द्रिय अभिग्रहण तो सभी व्यक्तियों का लगभग एक जैसा होता है लेकिन अयान्त्रिक आभ्यन्तरीकरण इस बात पर निर्भर करता है कि आभ्यन्तरकर्ता की मानसिक सतह कैसी है। उदाहरण के लिए सभी देखते-सुनते हैं कि दंगा-फिसाद एक विनाशक कृत्य है, मगर उसका आभ्यन्तरीकरण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न सतहों पर किया जाता है। किसी के द्वारा वह तथाकथित स्वधर्म-रक्षा के रूप में आत्मसात किया जाता है, किसी के द्वारा राजनैतिक सुअवसर के रूप में, किसी के द्वारा व्यापार की तबाही के रूप में और किसी के द्वारा पतनशील व्यवस्था के रूप में। सही रचनाकार की सतह इन सबके ऊपर होती है। आम आदमी बाह्य का आत्मकेन्द्रित और सूचनापरक आभ्यन्तरीकरण करता है क्योंकि अपने अस्तित्व की सुरक्षा ही उसका प्रधान लक्ष्य होता है। वह इस उपार्जित ज्ञान का उपयोग अपनी दुनियावी सफलता के लिए करना चाहता

है। परिणामस्वरूप उसके पास ऐसा कुछ भी नहीं होता जिसे वह सबसे कह सके; कभी-कभार होता भी है तो सम्बोधन की रचनात्मक शक्तियों के अभाव मे उसे खामोश ही रहना पड़ता है। उसके विपरीत रचनाकार बाह्य ससार का अन्तर्वेशन बहुत सूक्ष्मता और व्यापक्ता से करता है। उसकी चेतना पर अमरीका और इंग्लैंड में हो रही गोरे-काले की लडाई भी उसी प्रकार प्रहार करती है जिस प्रकार अपने देश के साम्प्रदायिक दगे। वह बाह्य का आभ्यन्तरीकरण मानवीय चिन्ता की विराट और विस्तीर्ण सतह से करता है। उसकी *यह प्रक्रिया निर्वैयक्तिक होती है, यहाँ तक कि जब उसका सन्दर्भ* नितान्त वैयक्तिक होता है तब भी अन्तिम विवक्षा सार्वभौम होती है। बात वास्तव में यह है कि बाह्य का आभ्यन्तरीकरण करते समय रचनाकार उसकी कुरूपताओं के साथ निरन्तर द्वन्द्व मे रहता है। उसके लिए सबसे बडी समस्या इस द्वन्द्वजनित तनाव से विमुक्त होने की होती है। फलस्वरूप वह आभ्यन्तरीकृत अनुभव को प्रक्षेपित करना चाहता है, दूसरो से सम्बोधित होना चाहता है क्योंकि उसके पास कुछ नया और महत्व-पूर्ण कहने को होता है। एक शब्द मे कहे तो उसका रचना-व्यापार आभ्यन्तरीकृत *'अपील' (यह शब्द सार्त्र का है) मे बदलने की प्रक्रिया है।*

12. रचनात्मक चेतना और विषय-स्वातन्त्र्य

मुक्तिबोध ने ठीक लिखा है कि—"चूंकि कवि का आभ्यन्तर वास्तव मे बाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप है, इसलिए कवि को अपने वास्तविक जीवन मे, रचना-बाह्य काव्यानुभव जीना पडता है। कवि केवल रचना-प्रक्रिया में पडकर ही कवि नही होता, वरन् उसे वास्तविक जीवन मे अपनी आत्मसमृद्धि को प्राप्त करना पडता है और मनुष्यता के *प्रधान लक्ष्यों से एकाकार होने की क्षमता को विकसित करना पडता है।...बाह्य का* आभ्यन्तरीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। यदि यह आभ्यन्तरीकरण बचकाने ढग से, दूपित दृष्टि से, अवैज्ञानिक रूप से और मनोविकृतियो से ग्रस्त होकर किया गया हो तो तुरन्त ही उसका साहित्य पर भी परिणाम होता है। इसीलिए कवि के लिए सतत आत्मसस्कार आवश्यक है जिससे बाह्य का आभ्यन्तरीकरण सही-सही हो।"[1]

इसका अर्थ यह हुआ कि बाह्य या विषय का रचनापरक सज्ञान मूलत रचनाकार-निष्ठ होता है अर्थात् उसके व्यक्तित्व की विशेषताओं से समन्वित होता है, लेकिन दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जिस विषय या बाह्य का आभ्यन्तरीकरण वह करता है वह उसकी चेतना से स्वतन्त्र एक अस्तित्व रखता है जिसका निर्धारण युगों की सृष्टि-विकासात्मक एव ऐतिहासिक-सास्कृतिक शक्तियो ने किया होता है। उन शक्तियो की सम्यक समझदारी और इस समझदारी को व्यापक मानवीय सन्दर्भ प्रदान करने से ही आभ्यन्तरीकरण मे वस्तुनिष्ठता तथा सर्वग्राह्यता का समावेश होता है। तब रचनाकार वर्तमान-केन्द्रस्थ होकर भी अतीत तथा भविष्य का आकलन करता है और एक अर्थ मे

1. मुक्तिबोध, वही।

दिक् एव काल से ऊपर उठ जाता है। इस प्रकार बाह्य के आभ्यन्तरीकरण में वह पूर्व-अस्तित्ववान् विषय को विकास की अगली सम्भावनाओं सहित, सौन्दर्य-नियमों के अनुरूप, पुनरुत्पादित या रूपान्तरित करता है। यह प्रक्रिया न तो फोटोग्राफिक प्रतिबिम्बन की होती है और न ही अराजक स्वेच्छा से यथार्थ के आमूल-चूल परिवर्तित अभिग्रहण की, बल्कि दोनों की अन्योन्यक्रिया से नूतन के विश्वास्य तथा आशास्य मानसिक सृजन की होती है। इसे बाह्य यथार्थ का विशिष्ट स्तरीय प्रतिबिम्बन कहा जा सकता है जो कई अदृश्य चरणों मे सम्पन्न होता है।

2. विषय का ऐन्द्रिय संवेदन

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की अवस्था का पहला चरण ऐन्द्रिय संवेदन-प्रधान होता है जिसमें विषय की यथातथ्यात्मक भौतिक प्रतीति होती है। इसमे रचनाकार विषय को कोई नया अर्थ नहीं देता बल्कि उसके प्रचलित अर्थ का तफसील मे अभिग्रहण करता है ताकि आगे चलकर उसी को अप्रचलित अर्थ देने का उपक्रम कर सके। यह वस्तुओं और घटनाओं को उनकी विविधता मे देखने का चरण है जिसका महत्व ही इस कहावत के प्रसार का कारण है कि 'देखना ही सोचना होता है'।

2 1. संवेदन का अर्थ-निश्चय

सवेदन या 'सेंशेसन' एक मनोवैज्ञानिक पारिभाषिक है जिसे ठीक प्रकार से समझ न सकने के कारण हिन्दी मे 'सवेदना' जैसे शब्दो का अस्पष्टार्थक प्रयोग किया जाता है जो कभी अभिप्रेरणा और कभी अनुभूति के समकक्ष होने का भ्रम पैदा करता है। मनोविज्ञान में सवेदन को मनुष्य की सज्ञात्मक प्रक्रियाओं मे प्रथम स्थान दिया जाता है—महत्व की दृष्टि से नहीं, क्रम के आधार पर। यह मनुष्य की, संवेदनेन्द्रियों के माध्यम से, अपने बाह्य पर्यावरण के साथ सम्पर्क मे रह सकने की प्रक्रिया है। उसकी देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने आदि की शक्तियाँ इस प्राथमिक सम्पर्क को स्थापित करती हैं। वास्तव मे सम्पूर्ण मानवीय व्यवहार, जिसमे सिसृक्षण भी शामिल है, अधिकाशत सवेदिक कार्यिकी से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मनुष्य किसी भयानक दृश्य को देखकर भाग खडे होने का, या ज़ख्मी होने पर औषधि की तलाश का व्यवहार करता है उसी प्रकार रचनाकार भी घटनाओ और वस्तुओ को देख-सुन-पढ़ कर ही—अर्थात् सवेदित होने के उपरान्त ही, सिसृक्षण में प्रवृत्त होता है। सवेदित हुए बिना कोई विषय आत्मसात नही किया जा सकता और विचारित भी नही।

2 2. सवेदन की शारीरिक प्रक्रिया

सवेदन की प्रक्रिया मे विषय के सन्निकर्ष से एक प्रकार की बाह्य स्रोतात्मक या शरीरजात ऊर्जा किसी सवेदनेन्द्रिय की अभिग्राहक-कोशिका को उद्दीप्त करती है जिसमें अनुक्रिया की विशेषता होती है। अभिग्राहक-कोशिकाएँ इन्द्रियानुसार कई प्रकार की

होती हैं। कुछ विशिष्ट होती हैं—जैसे आँख और नाक की अभिग्राहिकाएँ, जबकि कुछ दूसरी समीपवर्ती कोशिकाओं को सक्रिय मात्र करती हैं—जैसे कान और जिह्वा की अभिग्राहिकाएँ। लेकिन इन सबकी एक सामान्य विशेषता यह होती है कि ये सम्प्राप्त ऊर्जा को ऐसे रूप में बदल देती है जिसे स्नायुतन्त्र 'समझ' सकता है और जिस 'समझ' को विद्युत-रासायनिक आवेग कहा जाता है। ऊर्जा का यह रूप-परिवर्तन प्रतिवाहन (ट्रांसडक्शन) कहलाता है जो अन्ततः केन्द्रीय स्नायु-तन्त्र अर्थात् मस्तिष्क और मेरुरज्जु या सुषम्ना (स्पाइनल कॉर्ड) तक पहुँचता है और फिर प्रमस्तिष्कीय बल्कुट (सेरिब्रल कॉर्टेक्स) के प्रक्षेप-क्षेत्र का विषय बनता है। इस प्रकार इन्द्रियाँ विषय-बिम्ब को मस्तिष्क में प्रक्षेपित करती हैं जहाँ उसके यथातथ्यपरक स्वरूप का आकलन हो जाता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कोई भी ऐरी-गैरी ऊर्जा उपर्युक्त क्रम की क्रिया-शीलता का कारण नहीं बन सकती। प्रत्येक अभिग्राहक-कोशिका उसी ऊर्जा के प्रति अनुकार्यशील होती है जो एक विशेष परास के भीतर पड़ती है। परास से बाहर की ऊर्जा सम्वेदित नहीं होती। यहाँ तक कि परास के भीतर पड़ने वाली ऊर्जा में भी एक विशेष तीव्रता होनी चाहिए अन्यथा अभिग्राहक कोशिका उसकी उपेक्षा कर देती है।

2.3. रचना-प्रक्रियात्मक सवेदन

रचनात्मक सवेदन में तीव्रता का उपर्युक्त बिन्दु ही महत्वपूर्ण होता है। सिसृक्षु-व्यक्तित्व की यह शक्ति अत्यधिक विकसित होती है जिसके कारण वह विषय-सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों को भी तीव्रता से मस्तिष्क में अभिग्रहण करता है। आम आदमी का विषय-सवेदन इतना आयासहीन और स्वतःचालित-सा होता है कि उसे उसके स्वरूप अभिग्रहण का पता तक नहीं चलता। रचनाकार इसका अर्जन भी करता है ताकि विषय और उसकी पृष्ठभूमि की पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त की जा सके। वह अपनी आँख-नासिका-श्रवणा को अपेक्षाकृत अधिक खुला रखता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ रचनाकार अपने विषय के सम्पूर्ण आकलन के लिए मारे-मारे फिरते रहे हैं। वे महत्वहीन प्रतीत होने वाली चीजों को भी अद्भुत महत्वदान देते हैं और उन्हें गहराई तथा व्यापकता में सवेद्य बनाते हैं। उदाहरण के लिए लोहा-पीटी नट-जाति के जीवन पर 'कब तक पुकारूँ' उपन्यास की रचना करने के प्राथमिक चरण पर उपन्यासकार रांगेय राघव महीनों तक उनके समाज में जाते रहे थे और इस उपन्यास का सुखराम नामक प्रमुख पात्र सचमुच का एक नट था जो उनके यहाँ दूध देने आता था और उनके फोड़े का इलाज भी करता था। देखने को यह उपन्यास एक फेंटेसी-सा प्रतीत होता है और तिलस्मी रोचकता से सम्पन्न भी; लेकिन इसे लिखने से पहले "लेखक ने सुखराम के साथ नटों की बस्ती में जाकर उनके जीवन को प्रत्यक्ष देखना आरम्भ कर दिया था। और यों 'कब तक पुकारूँ' की पुकार साहित्यिक ससार में गूँजने के लिए तत्पर हो उठी।"[1] इसी प्रकार अमृतलाल नागर के 'नाच्यौ बहुत गोपाल' और 'बूँद और समुद्र'

1. सुलोचना रांगेय राघव, पुनश्च (दिल्ली, शब्दकार, 1979-80), पृ० 21।

तथा श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' भी अद्भुत संवेदन की व्यापकता और गहनता के उदाहरण हैं। यह सवेदन प्राकृतिक ही नही आयास-साध्य भी है।

2.3.1. अब सवाल यह उठता है कि यदि ऐन्द्रिय सवेदन सर्जना का पहला चरण है तो रचनाकार उन विषयों से कैसे सवेदित होते हैं जो उनके जीवन-काल से सम्बन्धित या समकालिक नहीं होते। मिसाल के तौर पर 'साकेत', 'कामायनी', 'मानस का हस' या 'खंजन-नयन', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' और 'आषाढ का एक दिन' आदि रचनाएँ जिस परिवेश की पृष्ठभूमि मे लिखी गयी हैं वह परिवेश इनके रचनाकारो के युग का नही है। वास्तव मे रचनाकार का सवेदन-व्यापार समकाल केन्द्रित होकर भी समकाल-निबद्ध नही होता। उसके संवेदन मे अतिक्रमण की विशेषता होती है अर्थात् इतिहास, सस्कृति और समाजविज्ञान आदि के पठित ज्ञान से प्राप्त सूचनाओ के आधार पर वह अतीत को भी संवेद्य बना लेता है। यहाँ उसकी कल्पनाशक्ति और अन्तर्प्रज्ञा अदृश्य को भी दृश्यवत उपस्थित कर देती हैं और वह विषय से एक प्रकार का सीधा सन्निकर्ष कर लेता है क्योकि प्रत्येक युग मे मनुष्य के मूल राग-विराग, उसके सामाजिक दबाव, उसके आस-पास की प्रकृति इत्यादि मे मूलतात्विक समानता होती है, अतः रचनाकार अपने वर्तमान को अतीत मे आसानी से जी लेता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वह अपने समय की सवेदित वस्तुओ और घटनाओ के प्रभावों को दूर अतीत तक खीच-कर उन्हे तदनुरूप बना लेता है। इसे समकालीन सवेदन का कालातीत इस्तेमाल कहा जा सकता है। रचनाप्रक्रिया को पहला 'धक्का' यहीं पर मिलता है।

2.3.2 अब यह कहा जाता है कि रचनाकार बिम्बो में सोचता है और बिम्बों ही में रचता है तब इस कथन मे सवेदन-स्तरीय बिम्बाभिग्रहण भी अन्तर्विष्ट होता है। बाह्य जगत के अनेक बिम्ब उसके मस्तिष्क पर अंकित होते रहते हैं जो उसके स्मृति-भण्डार मे एकत्र होकर आवश्यकतानुसार एक प्रकार की स्वचालित भूमिका का निर्वाह करते हैं और आगामी व्यापार के लिए उपयुक्त सामग्री उपस्थित करते हैं। तब वह उन्हे नये साहचर्यमूलक और सादृश्य प्रधान अर्थो से समन्वित करता है। उदाहरण के लिए शमशेर बहादुर सिंह के सकलन 'कुछ कविताएँ' की 'एक पीली शाम' नामक यह कविता देखें—

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शान्त
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुख-कमल
कृश-म्लान हारा सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण मे तुम्हारे कही ?)
वासना डूबी शिथिल पल में
स्नेह-काजल मे

लिए अद्भुत रूप-कोमलता
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सांध्य-तारक सा
अतल में।

इस कविता में पतझर की एक सवेदित शाम के दृश्य-बिम्ब को किसी दूसरी स्थिति के चित्रण का माध्यम बनाया गया है। लेकिन प्रस्थान-बिन्दु पतझर की शाम का ऐन्द्रिय सवेदन है। कवि ने अवसर देखा है कि पतझर में पत्ते हरे नही रहते, पीले पड़ जाते हैं, पीले पत्ते गिर-गिर कर वातावरण मे पीलापन पैदा करते हैं। हर पीला पत्ता अपनी डाली पर मजबूती से जुड़ा हुआ नही बल्कि हल्के से अटका हुआ प्रतीत होता है जो हवा के तनिक से झोके से अभी गिर कर अनस्तित्व मे समा जायेगा। क्या इसी प्रकार मनुष्य का और उसके प्रेम-सम्बन्धो का जन्म लेना भी वास्तव मे अलग हो जाने की नियति नही है? क्या हम सब एक-दूसरे की खामोशी के दर्पण मे पतनशील मुर्झाए हुए पत्ते नही हैं? इस सत्य को पहचान लेने पर यदि कमल-मुख भी कृश-म्लान और हारे से नजर आये तो आश्चर्य ही क्या है? तब जीवन के वासनामय उद्वेगो का सत्य की पहचान के इस शिथिल क्षण में डूब जाना स्वाभाविक है। यह बिम्ब एक-दूसरे सादृश्यात्मक बिम्ब को जन्म देता है—कि किसी की स्नेह-कजरारी आँखो मे अटका हुआ आँसू भी तो गिरने के लिए तत्पर पत्ते के समान है। निश्चित रूप से वह आंसू सांध्य-तारक की तरह अतल मे गिर जायेगा क्योकि इस ससार मे अपना भी कुछ नही है और पराया भी कुछ नही है। असल चीज है अपने का परायापन और पराये का अपनापन; पूर्णता शून्य है और शून्य ही में पूर्णता है। जीवन अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच की स्थिति है; वैसे ही जैसे बिम्ब छाया और छायाभास के बीच का चरण है। कुल मिलाकर कविता एक तनाव की अभिव्यक्ति है जिसके लिए पतझर की पीली शाम और अटके हुए आँसू वाले कृश-म्लान नारी-चेहरे, दोनों का सवेदन कवि ने पहले किया है। यह कह सकना कठिन है कि दोनो मे उपमान और उपमेय कौन है या दोनो ही अतलगामिता के उपमान हैं।

2.3.3. वास्तव में सवेदन की यह प्राथमिक अवस्था उस स्थिति से भिन्न नही है जिसे मनोवैज्ञानिको ने उपक्रम-काल की सज्ञा दी है। वैज्ञानिक सिसृक्षण में यह उपक्रम बहुत कुछ स्पष्टत परिलक्षित किया जा सकता है क्योकि वहाँ पुराने सिद्धान्तों को काटने या विकसित करने के लिए पिछली सामग्री का संकलन और आकलन जरूरी होता है, लेकिन साहित्यिक सिसृक्षण मे उस तरह से काटा कुछ नही जाता, सवेदनो को स्मृति मे सजोया भर जाता है।

2.3.4. विषय-सवेदन की प्रक्रिया विषय-चयन के साथ भी अपने-आप जुड़ जाती है। बाह्य जगत मे ऐसा बहुत कुछ होता है जिसका सवेदन रचनाकार द्वारा निरन्तर किया जाता है लेकिन कुछ महत्वपूर्ण विषय अपनी तीव्रता के कारण अपने-आप अग्र-भूमि मे चले आते हैं जबकि शेष पृष्ठभूमि मे रहकर समय पर द्वितीयक भूमिका का आयास-

हीन निर्वाह करते रहते हैं। उदाहरण के लिए उपर्युक्त कविता में पतझर की पीली शाम एक व्यापक विषय है जो कई सश्लिष्ट उपविषयों के समग्र प्रभाव का परिणाम है, लेकिन उन सबको छोड़कर पतझर की टहनी पर अटका हुआ-सा एक पत्ता कवि की दृश्येन्द्रिय की परास में इस तरह आगे आ गया है कि शेष सब कुछ बहुत पीछे चला गया-सा प्रतीत होता है। *किसी विषय का इस तरह अग्रभूमि में आ जाना या चयनित हो जाना निष्प्रयोजन नहीं होता।* अन्तर केवल यह होता है कि कभी किसी मनासीन धुंधले प्रयोजन के कारण विषय महत्वपूर्ण हो उठता है और कभी विषय की अपनी महत्वपूर्णता ही विषयों में अस्पष्ट-से प्रयोजन को आसीन कर देती है।

यद्यपि ऐन्द्रिय सवेदन के धरातल पर भी रचनाकार का 'आत्म' या उसका व्यक्ति-विशेष ही सवेदित विषय के गुणमात्रात्मक प्रभावाभिग्रहण में दूसरों से तनिक भिन्न होने का कारण होता है, तथापि यह प्रभावाभिग्रहण फोटोग्राफिक अधिक होता है, *अर्थात् वस्तु और चेतना अथवा लेखक और परिवेश का टकराहट में विकसित होने वाला* रचनाधर्मी घनिष्ठ सम्बन्ध यहाँ निर्धारित नहीं हो पाता। यह सम्बन्ध अगले चरण पर अन्यान्यक्रियात्मक रूप धारण करता है।

3. विषय का प्रत्यक्षण

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया का दूसरा चरण प्रत्यक्षीकरण या प्रत्यक्षण का है। वास्तव में सिसृक्षण के दौरान सवेदन की भूमिका उतनी मुखर एव महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी कि *प्रत्यक्षण (पर्सेप्शन)* की। रचनाकार की *प्रत्यक्षणाएँ ही* उसके *रचनाकर्म को शुरू से सामान्येतर बनाती हैं।*

3.1. प्रत्यक्षण और संवेदन में अन्तर

प्रत्यक्षण और सवेदन में अन्तर स्पष्ट है। "यह स्वतः सिद्ध है कि मैं जितना 'देखता' हूँ उससे कहीं ज्यादा और अन्यथापरक प्रत्यक्षण करता हूँ। इसी अकाट्य तथ्य ने हमें प्रत्यक्षण की सरचना पर अलग से विचार करने का आधार दिया है...।"[1] फिर भी वुडवर्थ आदि परम्परावादी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि *प्रत्यक्षण में सवेदन अपने-आप सम्मिलित रहता है,* उन्हें बहुत अलगाने की खास जरूरत नहीं। एक सीमा तक यह बात ठीक है, मगर इस प्रकार सोचने से तो विश्व की हर वस्तु किसी अन्य वस्तु से *जुड़ी हुई दिखायी देगी और हम उसका स्वतन्त्र विश्लेषण नहीं कर सकेंगे।*

सवेदन से प्रत्यक्षण इसलिए विशिष्ट है कि सवेदन के चरण पर बाह्य जगत या परिवेश से जो प्रभाव या आकार ग्रहण किये जाते हैं वे या तो बहुत इकहरे किस्म के होते

---

1. ज्याँ पाल सार्त्र, दि साइकॉलॉजी ऑफ इमेजिनेशन (लन्दन, मेथुइन एण्ड कम्पनी, 1972), पृ० 138।

हैं या अत्यन्त अव्यवस्थित। "अव्यवस्थित संवेदिक प्रभावों से सार्थक प्रतिरूपों या 'पैटर्न्स' को उत्पन्न करना ही प्रत्यक्षण है।"[1]

यों भी कहा जा सकता है कि "प्रत्यक्षण वह प्रक्रिया है जो सवेदन (सेंसेशन) और व्यवहार (बिहेवियर) के बीच मध्यस्थता या हस्तक्षेप करती है। यह सवेदन द्वारा प्रवर्तित अवश्य होती है मगर उससे पूरी तरह निर्धारित नही होती।"[2] सवेदन लगभग फोटोग्राफिक या दर्पण मे प्रतिबिम्बित छवि के समान होता है लेकिन प्रत्यक्षण द्विध्रुवीय होता है अर्थात् इसके दो पहलू होते हैं। एक पहलू का सम्बन्ध सवेदनेन्द्रिय को सक्रिय रखने वाले उद्दीपन के साथ जुडता है और दूसरा प्रत्यक्षक के व्यक्तित्व की विशेषताओ से सयुक्त होता है जिसमे उसके पिछले अनुभव, उसकी अभिप्रेरणाएँ और उसका दृष्टिकोण समन्वित रहता है। दूसरे शब्दों मे कहे तो प्रत्यक्षण मे रचनाकार का ऐन्द्रिय सवेदन उसके मनोलोक की पकड मे आकर साधारणेतर अर्थाभिग्रहण या समझदारी की अनुरूपता में ढल जाता है। सहज ज्ञानवादी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी भी सामान्य व्यक्ति की भाँति रचनाकार मे प्रत्यक्षण की योग्यता उसकी जननिक या आनुवांशिक प्रतिभा का हिस्सा होती है, जिस तरह उसका साँस लेना स्वाभाविक है कुछ वैसे ही; लेकिन अनुभववादियो की मान्यता है कि यह पूर्णत उसके अनुभवो और शिक्षा आदि पर आधारित एक अर्जित क्षमता है। इस विषय पर हम पिछले अध्याय मे दोनों शक्तियों के योग को रेखांकित कर चुके हैं।

3.2. प्रत्यक्षण की प्रक्रिया

मनोविज्ञान मे प्रत्यक्षण की प्रक्रिया पर उन्नीसवी सदी के अन्त से लेकर अब तक प्रभूत कार्य हुआ है। सबसे पहले वुट और टिचनर ने, जिनका सिद्धान्त 'सरचनावाद' कहलाता है, इसका रहस्योद्घाटन किया। उन्होने मन और पदार्थ या आत्मा और शरीर के पार्थक्य का खण्डन किया और व्यक्ति की चिन्तना को भी उसकी धडकनो की तरह एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप मे देखा। उनसे पूर्व हाब्स और लॉक जैसे विचारक पहले ही घोषणा कर चुके थे कि सवेद्य-ससार ही हमारा ज्ञान-परिक्षेत्र है। उनसे प्रेरणा पाकर वुट ने, विचार की आधारभूत इकाइयो का पता लगाने के लिए प्रत्यक्षण की प्रक्रिया का अध्ययन किया और यह सिद्ध करना चाहा कि पहली अवस्था पर मूलत. व्यक्ति को विषय का विशुद्ध यथाकारात्मक बोध होता है और तत्सम्बन्धी शेष समस्त जानकारी साहचर्यात्मक होती है। अर्थात् वह विशुद्ध प्रत्यक्षण को, उसकी आणविक सूक्ष्मता मे, साहचर्यो से काटकर देखने पर बल देते थे। मगर उन्ही के शिष्य टिचनर ने प्रत्यक्षित

1. चार्ल्स जी० मॉरिस, साइकॉलॉजी इन इंट्रोडक्शन (न्यूयार्क, एपलटन सेन्चुरी क्राफ्ट्स, 1973), पृ० 287।
2. जेम्स ओ० विटेकर, इंट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी (लन्दन, साउण्डर्स कम्पनी, 1970), पृ० 340।

अनुभव को त्रिसघकटकीय माना जिसमें एक तो भौतिक सवेदनों का, दूसरे अनुभूतियों का और तीसरे बिम्बो (स्मृतियों और स्वप्नो) का संरचित स्वरूप स्वीकार किया। प्रकार्यवादी विलियम जेम्स ने उक्त सरचनावादी सिद्धान्त को यह मानकर त्रुटिपूर्ण कहा कि साहचर्यविहीन सवेदनो का प्रत्यक्षण मे अस्तित्व ही नही होता। हम गुलाब के फूल को गन्ध, सौन्दर्य और शृगार-प्रसाधन आदि साहचर्यों में ही देखते है, महज एक रगदार पदार्थ के रूप मे नहीं। अतः मानसिक साहचर्यो के आधार पर ही हम पूर्वानुभवों से लाभान्वित होते हैं और एक बार का लाभान्वित होना ही आगामी समझदारी का आभासहीन कारण बनता रहता है। व्यवहारवादी वाटसन ने रूसी मनोवैज्ञानिक पॉवलॉव द्वारा कुत्तो पर किए गए प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष दिया कि प्रत्यक्षण-युक्त तमाम मानवीय व्यवहार पर्यावरणात्मक उद्दीपन का अनुकार्य होता है जिसे अनुकूलित किया जा सकता है और जिसमे चेतना या मानसिक जीवन जैसी अमूर्त अवधारणा को घुसाने की कोई जरूरत नही। उनके अनुसार हमारे शब्द भी हमारी सोच के मौखिक अनुकार्य हैं और सवेग भी ग्रन्थिल (ग्लैंडुलर) अनुकार्य होते है।

इसमे सन्देह नही कि वाटसन के सिद्धान्त का तार्किक महत्व है और प्रत्यक्षण, उद्दीपन का अनुकार्य होने की वजह से ही, द्वन्द्वात्मक अभिग्रहण-व्यापार है, मगर उनका विवेचन चेतना का बहिष्कार करता हुआ इतना यान्त्रिक हो जाता है कि मानवीय-व्यवहार की व्यक्ति-विभिन्नता और स्तरीयता में सूक्ष्म अन्तर नही कर पाता। सर्जनशील व्यक्ति का प्रत्यक्षण-व्यापार तो इसी अन्तर के कारण विशिष्ट होता है। इस अन्तर को गाल्टन ने अपने 'आनुवंशिक प्रतिभा' के सिद्धान्त मे अतिवादिता की सीमा तक स्पष्ट करने का प्रयास किया था और कहा था कि सर्जनशील प्रत्यक्षणाएँ वंशागत होने के कारण, व्यक्ति-व्यक्ति के अनुरूप भिन्न-स्तरीय होती हैं। इसी सन्दर्भ मे जेस्टाल्ट मनोविज्ञान की उद्भावनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। इस स्कूल के विचारको ने संरचनावादियो का विरोध इस धरातल पर किया कि प्रत्यक्षण मे सर्वत्र मन ही अपना करतब दिखाता है—मिसाल के तौर पर वह अगति में भी गति और क्रमहीनता मे भी क्रम को पकडकर ऐन्द्रिक सवेदन को और ही अर्थ दे डालता है। 'जेस्टाल्ट' एक जर्मन शब्द है जिसका अर्थ है 'समग्र' या 'रूप' लेकिन प्रत्यक्षण के सन्दर्भ मे इसका अभिप्राय है—विषय को उसकी पृष्ठभूमि से काटकर या पृथक करके नये प्रतिरूप मे देखने की प्रवृत्ति। वर्दिमिर, कोहिलर और कोफ्फका ने इस सिद्धान्त के तहत सिद्ध किया कि प्रत्यक्षण समग्रात्मक होता है और इसका तात्वीकरण नही किया जा सकता। तभी सिगमड फ्रायड ने व्यक्ति के मानसिक जीवन की एक समावेशी मनोविश्लेषणात्मक सैद्धान्तिकी का उद्‌घाटन किया और सिद्ध किया कि उसका तमाम प्रत्यक्षण-जात व्यवहार निगूढ़ अभिप्रेरणाओ तथा अचेतन की इच्छाओ का परिणाम होता है। फ्रायड के बाद 'संज्ञानात्मक मनोविज्ञान' ने उद्दीपन-अनुकार्य और जेस्टाल्ट सिद्धान्तो का समन्वय किया। टॉलमन और ज्याँ पियागे आदि मनोवैज्ञानिको ने इस बात पर बल दिया कि प्रत्यक्षण द्वारा सीखने की प्रक्रिया मे पुरस्कार्य क्रिया के पुनर्बलन (रीइन्फोर्समेंट) तथा अन्तर्दृष्टि, दोनों का योगदान रहता है। इसीलिए

हम उद्दीपन को नयी नज़र से देखना शुरू करते हैं। तब हमारा प्रत्यक्षण हमारे व्यवहार को और हमारा व्यवहार हमारे प्रत्यक्षण को प्रभावित करता है।

3.3. रचना-प्रक्रिया और प्रत्यक्षण

इस सबके आधार पर हम पुन: अपनी प्रारम्भिक प्राक्कल्पना को इस बिन्दु पर प्रत्ययशील पाते हैं कि प्रत्यक्षण वस्तुत चेतना और वस्तु के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का नाम है। इस सम्बन्ध में ही व्यक्ति या रचनाकार के वे भाव बनते और विकसित होते हैं जिन्हें काव्यशास्त्रीय शब्दावली में स्थायी भाव कहा जाता है। लेकिन यहाँ 'स्थायी' को 'स्थिरता' का पर्याय नहीं माना जा सकता क्योंकि रचनाकार की मानसिकता और बाह्य शक्तियों की परिवर्तनशीलता के कारण रति, शोक, साहस, क्रोध, भय, जुगुप्सा और आश्चर्य आदि का अनेक सचारियों समेत रूप बदलता रहता है। ये मनुष्य द्वारा बाह्य सत्य को आभ्यन्तर सत्य के साथ जोड़ने या प्रत्यक्षण के अनिवार्य सूत्र हैं जिनकी न तो सख्या निर्धारित की जा सकती है और न अविकल्पता ही। उदाहरण के लिए युद्ध-रत दो देशों का रचनाधर्मी प्रत्यक्षण किसी शास्त्रोन्मोदित भाव ही को रचनाकार मे जागृत करे, यह ज़रूरी नहीं है। अपने देश-राग के कारण साहस और उत्साह-सहित मर-मिटने के भाव को तो आप वीरता कह सकते हैं लेकिन उस रचनाकार के प्रत्यक्षण-जात भाव को आप कौन-सी निश्चित सज्ञा देंगे जो ब्रेख्त की तरह वैश्विक नर-सहार को देखकर व्यापक मानवीय स्तर पर अपने मन मे इस प्रभाव का अभिग्रहण करता है कि अध आवेश में मातृभूमि के लिए मरना-मारना सम्मानजनक नहीं होता? अत. यह तो निश्चित है कि प्रत्यक्षण की प्रतिक्रिया द्वन्द्वमयी या द्विध्रुवीय होती है लेकिन यह अनिश्चित है कि उसमें कौन-सी भाव-तरगें मनोलोक मे उद्भूत होगी। उनका निश्चित होना तभी सम्भव है जब रचनाकार किसी पूर्वाभ्यन्तरीकृत भाव-तरंग या प्रभाव के ज़रिये बाह्य का प्रत्यक्षण करे। रचना-प्रक्रिया में ऐसा भी होता है और इस अभिप्रायात्मक प्रत्यक्षण को महत्वहीन नहीं समझा जाना चाहिए।

3.3 1 रचनात्मक प्रत्यक्षण

सामान्य प्रत्यक्षण और रचनात्मक प्रत्यक्षण मे बुनियादी नहीं, स्तरीय अन्तर होता है। इस प्रक्रिया की आधारभूत विशेषताएँ सर्वत्र एक-जैसी हैं। जेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जन्मजात या न्यूनायास-साध्य विशेषताएँ हैं—सन्निकटता (प्रक्सिमिटी), समानता (सिमिलेरिटी), रिक्तिपूर्ति (क्लोज़र) और पूर्वापर सम्बन्ध या सन्दर्भ (कांटेक्स्ट)—जिनके कारण पर्यावरणात्मक उद्दीपन के प्रति कोई भी व्यक्ति सहजता से अनुकार्यशील होकर वस्तुओ का विशिष्ट प्रत्यक्षण करता है। जहाँ अधिक सजटिल उद्दीपन-प्रतिरूपों का अभिग्रहण किया जाता है—जैसे कि सौन्दर्यबोधात्मक या रचनात्मक प्रत्यक्षण—वहाँ अनुभव और अन्तर्दृष्टि की महत्वपूर्ण भूमिका के कारण वस्तुओ के विभेदीकरण की योग्यता अधिक समर्थ होती है। इसी प्रकार व्यक्ति ज्यो-ज्यो बड़ा

होता है त्यों-त्यों प्रत्यक्षण की अर्जित विशेषताएँ उभरकर अर्थाभिग्रहण को वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। प्रत्यक्षण और भाषा का सम्बन्ध एक ऐसी ही विशेषता है।

3.3.2. प्रत्यक्षण और भाषा

चूँकि भाषा मूलतः वह क्षमता है जो वस्तुओं, घटनाओं और विचारों को बिम्बों में प्रस्तुत करती है, इसलिए अर्जित भाषा-विकास से प्रत्यक्षण में अद्‌भुत अन्तर आ जाता है।

प्रत्यक्षण में भाषा का कार्य सिर्फ प्रत्यक्षित को संज्ञा प्रदान करके उसे सहज-ग्राह्य बना देना नहीं होता, बल्कि शब्दों का उच्चार भी प्रत्यक्षण की रीति या योग्यता को बदल देता है। संक्षेप में भाषा का विकास और प्रत्यक्षण का विकास एक-दूसरे का हाथ पकड़कर होता है। प्रत्यक्षण में भाषा की दो विशिष्ट विवक्षाएँ होती हैं—एक मानवीय प्रत्यक्षण को पशुओं के प्रत्यक्षण से अलगाती है और दूसरी मानव-मानव के प्रत्यक्षण को भिन्न-भिन्न बनाती है। भाषा के कारण ही मनुष्य का प्रत्यक्षण प्रतीकात्मक होकर पशुओं से अलग हो जाता है क्योंकि 'अच्छाई' और 'बुराई' की अमूर्त अवधारणाएँ जो मनुष्य के मूल्यबोध को विकसित करके उसके व्यवहार में परिवर्तन लाती हैं, वे पशुओं में नहीं होतीं। इसी प्रकार एक भाषा का दूसरी भाषा से भिन्न होना या एक ही भाषा का विशिष्ट ज्ञान भी प्रत्यक्षण के स्तर और आयामों का निर्धारण करता है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी में 'स्नो' और 'आइस' दोनों के लिए हिन्दी में 'बर्फ' का प्रयोग मिलता है जो दोनों के प्रत्यक्षणात्मक अन्तर को तब तक स्पष्ट नहीं करता जब तक कि हम उसका वाक्य में प्रयोग करके बर्फ और बर्फ के अन्तर को स्पष्ट नहीं करते। वास्तव में यही वह ज़रूरत है जो रचनाकार को अपने शब्द-निर्माण के लिए प्रेरित करती है—लिखने की अवस्था से भी बहुत पहले, ताकि प्रत्यक्षित विषय का अर्थ उसकी मानसिक पकड़ में आ सके। इस प्रकार भाषा की अपर्याप्तता या उपयुक्त भाषा की तलाश का क्रम यहीं से आरम्भ हो जाता है जिसके आधार पर कुछ लोग ठीक ही कहते हैं कि रचना-कर्म आद्योपान्त भाषायी व्यापार है।

प्रत्यक्षण करना एक प्रकार से संवादशील रहना है—फूल-पत्तियों की, मौन की, शरीर की, हवा की, साँस की, झरनों की—सबकी भाषा को अपनी मानसिक भाषा में अनूदित करना है। इसीलिए आइंस्टीन ने कहा था—"भाषा या शब्द, अपने लिखित अथवा उच्चरित रूप में, मेरे विचार-तंत्र में कोई विशेष भूमिका अदा नहीं करते।"[1] पाल वेलरी "ध्वन्यात्मक चरों (वेरिएबल्ज) को अर्थ-चरों से जोड़ना"[2] ही काव्य-भाषा

1. अलबर्ट आइंस्टीन, लैटर टु ज्याक हादामार्द, दि क्रिएटिव प्रॉसेस, सम्पा० घिसेलिन, पृ० 43।
2. पाल वेलरी, दि कोर्स इन पोइटिक्स (वही), पृ० 103।

का वास्तविक स्वरूप मानते हैं। फ्रिट्ज ग्रासहॉफ के शब्दो मे—"मैं शब्द और अर्थ की रस्साकशी करता हूँ; मेरा लेखन-कार्य भाषा को मुजाओ मे भर कर निचोड़ना है, उसे नंगा करना और चुमकारना है, उसे ठुड्डा मारना और कचोटना है, उस पर मल फेंकना है, उसके नीचे आग जलाना है।"[1] अज्ञेय ने 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण में "पुनश्च" लिखा है—"आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसका हल पा लेना मैं अपने कवि-जीवन की चरम उपलब्धि मानूँगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है। काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अन्त मे भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है।" रचनाकार द्वारा बाह्य का प्रत्यक्षीकरण—जिसमें रूपाकारमय जगत, इतिहास, संस्कृति, कला, विज्ञान, समाज, राजनीति, शिक्षा-प्रशिक्षा सभी शामिल है—मौन की अलिखित भाषा का व्यापार होता है जो अपनी प्रदीर्घ सजटिलता के कारण लिपिबद्ध करने की अवस्था पर भी समग्रता से मुखर नही हो पाता। तभी तो उसे प्रतीत होता रहता है कि—"है अभी कुछ और है जो कहा नही गया।"[2]

3.3.3. प्रत्यक्षण और संस्कृति

भाषा के अतिरिक्त संस्कृति के अन्य घटक भी प्रत्यक्षीकरण को कई रूपों में प्रभावित करते हैं। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के इस व्यापार मे उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को रेखांकित करते हुए सिद्ध किया है कि उसकी प्रत्यक्षण-जात सदर्शनाएँ और भ्रान्तियाँ मुख्यतः इसी पर निर्भर करती हैं। इसी के कारण वर्ग-वर्ग, देश-देश और काल-काल के विषय-प्रत्यक्षण मे अन्तर आता है। संस्कृति के प्रारम्भिक चरण पर आदिम समाजो ने सूर्य और उसकी रोशनी को जिस मिथकीय रूप मे प्रत्यक्षित किया था वह उनके मनोविज्ञान और साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगम था, लेकिन आज का रचनाकार उन सन्दर्भों का इस्तेमाल तो कर सकता है, उनका उसी तरह प्रत्यक्षण नही कर सकता क्योंकि अपनी सांस्कृतिक यात्रा मे वह बहुत आगे निकल आया है। आज उसकी चेतना पर चिमनियों, पार्कों, सड़कों, काफीघरो, जुलूसो, ट्रेक्टरो, ट्यूबवेलों और व्यापार-केन्द्रो के बिम्ब हावी है। इसी प्रकार 'भारतीय' और 'अभारतीय' रचनाकार का प्रत्यक्षण—समय और स्थान की सिमटती हुई दूरियों के बावजूद—अपनी-अपनी संस्कृति के मूल्यवादी घेरे मे रहने के कारण भिन्न-स्तरीय होगा। इतना ही नही, आवासीय और भौगोलिक स्थितियाँ भी रचनाकार के प्रत्यक्षण को प्रभावित करती है। हिन्दी के आँचलिक साहित्य मे—जिसके रचनाकार मूलतः या प्रधानतः उसी अंचल-विशेष से

---

1. फ्रिट्ज ग्रासहाफ, आई डोट शेयर माई ओपीनिअन, मोटिव्ज वाइ डु यू राइट, पृ० 69।
2. अज्ञेय, जो कहा नही गया, 'बावरा अहेरी' संग्रह की कविता।

सम्बन्ध रखते हैं—प्रत्यक्षण के इस वैशिष्ट्य का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। वास्तव मे संस्कृति मानवीय प्रत्यक्षण की सबसे बड़ी 'प्रशिक्षिका' कही जा सकती है।

3.3.4. प्रत्यक्षण और अन्य कारक

रचनाकार के प्रत्यक्षण को प्रभावित करने वाले अन्य कारको मे उसकी इच्छायें, अभिप्रेरणाएँ, नियमितताएँ (कांस्टेंसीज) अर्थात् रूप-रंग आकार की अभिदृष्टियाँ, निर्देशाधार (फ्रेम ऑफ रेफ्रेंस) और बाह्याभ्यन्तर की अनेक उद्दीपक स्थितियाँ भी परिगणित की जा सकती हैं। इन सबके बावजूद उसके प्रत्यक्षण का एक केन्द्रीय बिन्दु होता है जिस पर वह अवधान करता है और जिस पर उसकी रचना का भावी वृत्त विकसित होता है। जाने या अनजाने मे अवधानित यह बिन्दु ही उसकी रचना-प्रक्रिया का स्थायी सन्दर्भ बनकर बाह्य के विशेषीकृत आभ्यन्तरीकरण के अगले चरण का रूप धारण करता है। जब हम कहते हैं कि अमुक रचना नर-नारी सम्बन्धों पर आधारित है, अमुक की संवेदना अलगाव-जन्य है, अमुक मे सामन्ती व्यवस्था का विरोध किया गया है, अमुक में प्राकृतिक सौन्दर्य मुखर हो उठा है—तब वस्तुतः इस प्रत्यक्षणगत अवधान-विशेष की ओर ही संकेत करते है।

3.3 5 प्रत्यक्षण का व्यावहारिक सन्दर्भ

विशुद्ध व्यावहारिक सन्दर्भ मे देखें तो प्रत्यक्षण रचनाकार और उसके व्यापक परिवेश के अन्तस्सम्बन्ध ही का दूसरा नाम है जो साहित्य-क्षेत्र की चर्चा का आम और स्वीकृत विषय है। यह रचनाकार द्वारा किया गया अपने परिवेश का ज्ञानमुखी साक्षात्कार है जिसमे उसे अपने व्यक्तित्व के अनुरूप कड़वे-मीठे यथार्थ का एहसास होता है। इसीलिए लूकाच मानते है कि सज्ञान के सभी रूपो का आरम्भ बाह्य जगत के साक्षात्कार से होता है।[1] 'रस-मीमासा' मे आचार्य शुक्ल इसे तथ्यों द्वारा भावोत्पत्ति का ज्ञान-मार्ग कहते है—"तथ्य चाहे नर-क्षेत्र के हो, चाहे अधिक व्यापक क्षेत्र के हो, कुछ प्रत्यक्ष होते हैं और कुछ गूढ़। जो तथ्य हमारे किसी भाव को उत्पन्न करे उसे भाव का आलम्बन कहना चाहिए। ऐसे रसात्मक तथ्य आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियां उपस्थित करती हैं। फिर ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उनकी योजना करती है। अत यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावो के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।" शिवसागर मिश्र के शब्दो में—"परिवेश की चेतना से विहीन आत्मा निर्जीव है, अभिव्यक्ति के सर्वथा अयोग्य है। वस्तुत परिवेश विभिन्न-ऋतुओ के समान है। इससे रचना रूपी पौधे को अकुरित, पल्लवित और पुष्पित होनेमे

---

1. जार्ज लूकाच, दि राइटर एण्ड दि क्रिटिक, पृ० 26।

सहायता मिलती है। परिवेश काल का वह सामायिक अंश है, जिससे प्रताडित, पीड़ित अथवा आनन्दित-उद्वेलित और प्रेरित होकर कोई रचनाकार किन्हीं उज्ज्वल शुभ उद्देश्यों की सृष्टि करता है और इस प्रकार अपनी कृति को, सामयिकता की सीमा से परे, काल की परिधि मे ले जाता है।"[1]

3.3 6. प्रत्यक्षण का भाववादी सन्दर्भ

भाववादी दर्शन से प्रेरित साहित्यकार मनुष्य की चेतना के भौतिक आधार में विश्वास नही रखते, वे ज्ञान को अलौकिकता से मण्डित मानते हैं इसलिए कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट स्वर मे यह कहते हुए सुनाई देते हैं कि रचना-प्रक्रिया का या रचनाकार का परिवेश से कोई सम्बन्ध नही होता। स्वयंप्रकाश्यवादियों और अतिशय अध्यात्म-वादियो ने विशुद्ध अनुभूति ही को रचनाकार का प्रामाणिक अनुभव मानकर, एक प्रकार से मानवीय प्रत्यक्षणा की मनोविज्ञान पुष्ट और द्वन्द्व-विकासात्मक वैज्ञानिक जमीन ही को नकारा है। हमारे एक प्रश्न के उत्तर मे रमेश बक्शी ने लिखा है—"सर्जनात्मकता का उपयुक्त परिस्थितियो से कोई ताल्लुक नही है।"[2] इसी से मिलता-जुलता गिरिराज किशोर का यह कथन है कि—"रचना के लिए हर परिस्थिति उपयुक्त होती है।"[3] शेष सभी ने अपनी रचना-प्रक्रिया मे परिवेश अथवा परिस्थितियों की भूमिका को तकरीबन मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है।

इन दो कथनों मे भी परिस्थितियों का नहीं उनकी 'उपयुक्तता' का नकार है; लेकिन यह बात एक सीमा के आगे मान्य नही हो सकती क्योकि इसमें प्रकारान्तर से प्रत्यक्षण की प्रयोजनहीनता अभिव्यजित होती है और यह गलत सकेत मिलता है कि बाह्य जगत मे दबावों और रचनाकारिता के अनुरूप कार्यभारो की कोई भूमिका नहीं होती। हम यह तो कह सकते हैं कि प्रत्यक्षण की प्रक्रिया मे रचनाकार का अपने परिवेश के साथ सम्बन्ध संगतिमूलक भी हो सकता है और विसगतिमूलक भी, लेकिन इस सवाल से नही बच सकते कि उस सगति या विसगति की उपयुक्तता ही रचना की नींव को कमज़ोर या पुख्ता बनाती है अर्थात् उसकी स्तरीयता का मूलाधार होती है। नन्दकिशोर नवल ने ठीक लिखा है कि रचनाकार का प्रत्यक्षण तटस्थ कभी नही होता। तटस्थता तो प्रतिकृति ही को जन्म दे सकती है जबकि रचनाकार अपने प्रत्यक्षित का पुनर्निमाण करता है और ऐसा करते समय वह उसे बदल भी देता है। तथ्य यह है कि ऐसा वह एक उद्देश्य से प्रेरित

---

1. शिवसागर मिश्र, परिवेश और मूल्यबोध, लेखक और परिवेश, सम्पा॰ वचनदेव कुमार (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1978), पृ॰ 9।
2. नन्दकिशोर नवल, लेखक का परिवेश और रचना का ससार (वही), पृ॰ 30।
3. पत्र-प्रश्नोत्तरी द्वारा प्राप्त।

होकर करता है। लेखक कोई तटस्थ व्यक्ति नहीं है। उसकी कुछ भावनाएँ होती हैं, उसके कुछ विचार होते हैं और वह कुछ मूल्यों के प्रति आस्थावान् होता है। वह अपनी रचना के द्वारा अपने परिवेश को बदलना चाहता है और उसे इच्छित रूप देना चाहता है। इस कारण वह कुछ भावनाओ, विचारो और मूल्यो का पक्षधर हो जाता है।"[1] कौन-सी पक्षधरता सुन्दर होती है और कौन-सी विकृत, यह यहाँ विचारणीय नही है; लेकिन इतना अवश्य है कि प्रत्यक्षित अनुभव से उत्पन्न सरोकार ही सिसृक्षण को तीव्रता से अगले चरण में डालता है जिसे मनोविज्ञान की शब्दावली मे समस्या-स्थापन या अभिप्रेरण कहा जाता है और साहित्यकार जिसे अन्त.प्रेरणा कहते हैं।

---

1. पत्र प्रश्नोत्तरी द्वारा प्राप्त।

अध्याय—पांच

विषय-संलिप्ति और विषयाभिप्रेरण

बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की रचना-प्रक्रियात्मक अवस्था का अगला चरण है—प्रत्यक्षित विषय के साथ सकार या नकार के धरातल पर रचनाकार का संलिप्त होना, इस सलिप्ति की अथाह शिद्दत को अनुभव करना और सलिप्ति अथवा सरोकार की समरया से रचनात्मक स्तर पर अभिप्रेरित होना। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो यह अवस्था रचनात्मक अभिप्रेरण (क्रिएटिव मोटिवेशन) की है। इसमे सदेह नही कि प्रत्यक्षण की पूर्व-विवेचित अवस्था मे भी सर्जक-मन की बहुत-सी मूलप्रावृत्तिक तथा अन्य अस्थायी अभिप्रेरणाएँ क्रियाशील रहती हैं लेकिन यहाँ पर एक स्थायी अभिप्रेरण का उदय होता है जो आगे चलकर रचनात्मक विचार की विभिन्न दिशाओ को खोलता है। यही रचनाकार की सृजनेच्छा का उद्गम-स्थल होता है जहाँ उसे लगता है कि जिस सच्चाई का उसने प्रत्यक्षीकरण किया है वह दूसरों की प्रत्यक्षणा के लिए भी उसी वैशिष्ट्य मे उपस्थित की जानी चाहिए। विषय-सलिप्ति से विषयाभिप्रेरण होता है या विषयाभिप्रेरण से विषय-सलिप्ति सघन होती है, यह कह सकना कठिन है क्योंकि दोनों सायुज्य क्रियाएँ हैं, फिर भी रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से सलिप्तिजात अभिप्रेरण ही अधिक महत्वपूर्ण होता है। इसी को रचनाकार की 'प्रथमानुभूति' कहा जाता है।

1. विषयाभिप्रेरण की प्रक्रिया

जागतिक 'वास्तव' जब रचनाकार के सामने किसी महत्वपूर्ण अनुभव के रूप मे उपस्थित होता है तब वह उसका रचनाधर्मा 'यथार्थ' बनकर उसे तीव्रता से अभिप्रेरित करता है। एक समस्या-सी मानो उसे आक्रान्त कर लेती है और वह बेचैन हो उठता है। प्राय देखने मे आता है कि यह बेचैनी जितनी गहरी और व्यापक होती है उसकी रचना भी उतनी ही स्तरीय और प्रभावोत्पादक होती है। इसीलिए बहुत से विचारक और स्वय सर्जक भी सिसृक्षण की प्रक्रिया का प्रारम्भ ही विषय-संलिप्ति और विषयाभिप्रेरण

से मानते हैं। ऐसा मानते समय या तो वे ऐन्द्रिक संवेदन और प्रत्यक्षण को भी इसी में अन्तर्भूत समझ लेते हैं या इस तथ्य को ध्यान में रखते हैं कि पाठक के नाते जो कृति हमारे सामने होती है उसका प्रथम साक्षात्कार भाषा से करते हुए हम उसके रूप-विधान, समग्र प्रभाव और सरोकार के रास्ते से जिस लेखकीय संदर्शना तक पहुँचते हैं वह मूलतः अभिप्रेरणा-जात होती है। वास्तव में यह रचनात्मक बीज के वपन की अवस्था है जो संवेदन और प्रत्यक्षण के समागम का परिणाम होती है और जिसमे बीज धरती को फोड़ कर बाहर निकलना चाहता है। इस प्रकार विषयाभिप्रेरण रचनात्मक व्यवहार का निर्धारक घटक कहा जा सकता है।

1.1. यहाँ हम 'प्रेरणा' शब्द से बचकर 'अभिप्रेरण' का प्रयोग कर रहे हैं। इसके दो प्रमुख कारण हैं। एक यह कि इससे 'प्रेरणा' में जो दिव्यता, रहस्यमयता या विशुद्ध स्वयंप्रकाश्यता की प्रमुखता व्यंजित होती है उसका स्थान लगभग नगण्य रह जाता है, और दूसरा यह कि इससे हम सिसृक्षण को मानवीय व्यवहार की मनोविज्ञान-सम्मत उद्देश्य-निर्दिष्ट कार्यिकी के साथ जोड सकते हैं। मनुष्य केवल भूख-प्यास, सम्भोग, निद्रा, पीड़ा-शमन, ताप-नियन्त्रण, बहिष्करण और स्वेदन-श्वसन आदि की शारीरिक अभिप्रेरणाओं से चालित नही होता, बल्कि उसके व्यवहार मे उन समाज-सांस्कृतिक और व्यक्ति-मानसिक अभिप्रेरणाओं का महत्व कही अधिक होता है जो उसे उच्चतर सतुष्टियों के मार्ग पर बढ़ाती हैं। मनोविज्ञानियो ने इन सब अभिप्रेरणाओ की सख्या निर्धारित करने और उनके वर्गीकरण के प्रयास किये हैं लेकिन इस तथ्य को भी स्वीकार किया है कि इनके अनन्त रूप होते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के सामान्य सामाजिक व्यावहार की अभिप्रेरक शक्तियाँ अनेक हो सकती हैं उसी प्रकार उसके सिसृक्षात्मक व्यवहार को भी किन्ही गिनी-चुनी अभिप्रेरणाओं तक सीमित नही किया जा सकता।

1.2. सिद्धान्त रूप मे यह कहना कठिन है कि रचनाकार किन अभिप्रेरणाओ के वशीभूत रचना-कर्म में प्रवृत्त होता है। उसकी अभिप्रेरणा का विषय एक खास किस्म का चेहरा भी हो सकता है और कोई बहुत बड़ा आन्दोलन भी। सैद्धान्तिक रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि सिसृक्षण के लिए विषयाभिप्रेरण जरूरी है। आधुनिक कथाकार गोविन्द मिश्र ने 'अन्त.पुर' की भूमिका में इसे 'बुलावा' कहा है। लोठार लुत्से के साथ एक भेंट-वार्ता मे उन्होंने स्पष्ट किया है—''बुलावा जरूर होता है। आप इसे इसपिरेशन कहें या कोई टीस कहे जो उठती है—कुछ भी कहे, आखिर लिखने की या लिखने के लिए तैयार होने की या कटिबद्ध होने की कोई चीज़, कोई बिन्दु तो है जहाँ से शुरुआत होती है, लेकिन मेरा ख्याल है कि ये अलग-अलग चीजें होती हैं। उदाहरण के लिए कभी किसी चेहरे को देखकर आप मे कोई खास प्रतिक्रिया होती है'''उस चेहरे की कोई खास भाव-भंगिमा या उसकी आँखो मे कुछ उदासी का रग या कोई और ऐसी चीज देखकर आप एक तरह की निकटता उस चेहरे से स्थापित कर लेते हैं और वह शुरुआत होती है आपके लेखन की।'''मैंने अभी कुछ दिन पहले ग्लासगो मे जार्ज स्क्वेयर पर एक लगड़े व्यक्ति का चेहरा देखा। उसकी गर्दन 45 अंश के कोण पर झुकी रहती थी, और आँखें

खास मुद्रा में रहती थी।'''हमने एक दूसरे की दुनिया में दिलचस्पी लेनी शुरू की—उसने पता नहीं कितनी, लेकिन मैंने जरूर ली। वह मेरी एक कहानी बनेगी। दूसरी जो फैली हुई वेदना की बात मैंने की, जो वातावरण में रिसती है वह शायद 'लाल-पीली ज़मीन' लिखने की शुरुआत जहाँ से हुई वह है। मैं जितनी बार उत्तर प्रदेश के उन इलाकों से गुज़रा, जब-जब परिवारों के साथ रहने का मौका मुझे मिला, मैंने वे छोटी-छोटी चीज़ें देखीं—जिनकी वजह से उनकी ज़िन्दगी नर्क-सी बन जाती है, जिसे वे बेचारे सारे जीवन झेलते रहते हैं। और यहाँ उस पीड़ा से शुरुआत हुई। आप इस पीड़ा को कह सकते हैं बुलावा था जिसने मुझे लिखने को मजबूर किया।'' मेरा यह ख्याल है कि रचना-प्रक्रिया का मतलब सिर्फ बुलावा, जो आपसे लिखवाता है, उससे भरा होना चाहिए। इसके आगे बाकी चीज़ें महत्व की नहीं है।"[1]

1·3 'लेखक की ज़मीन' की चर्चा के अन्तर्गत गोविन्द मिश्र ने रचना-प्रक्रिया की 'बाकी चीज़ों' को यांत्रिक और महत्वहीन मानते हुए यह भी कहा है कि जिन कहानियों में लेखक का "ताल्लुक स्थितियों से या तनाव के मुद्दों से उतने पास का नहीं है, वह बहुत मेहनत करे तो शायद अच्छी कहानी बन जाए, फिर भी वह ताकत नहीं आती।"[2] इन दोनों कथनों से रचनात्मक अभिप्रेरण के विषय में निम्नलिखित महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं।

- रचना-प्रक्रिया में विषयाभिप्रेरण की सर्वाधिक अनिवार्यता।
- विषयाभिप्रेरण के लिए विषय के साथ निकटतम संलिप्ति।
- रचनात्मक अभिप्रेरण की सार्थकता महज़ मनोवैज्ञानिक तनाव में नहीं, बल्कि तनाव या स्थिति जन्य टकराव के मुद्दों के साथ शिद्दत से जुड़ने में होती है। अर्थात् अभिप्रेरण किसी उद्देश्यपूर्ति का साधन है।
- पर्यावरण में बिखरे हुए और पर्यावरण की संरचना करने वाले अनेक विषयों में से किसी एक विषय का, लेखकीय अभिरुचि या अभिप्राय के अनुसार, उभर कर सचेतन केन्द्र में आकर अभिप्रेरित करना; और अनेक अन्य सहायक विषयों का अचेतन या उपचेतन में रह कर उसको पुष्ट करना।
- विधा के अनुसार अभिप्रेरण का तात्कालिक रचना में ढलने के लिए ज़ोर मारना (जैसे कविता में) या उसका स्मृति में निरन्तर बने रहना और आवश्यकतानुसार पुन: उपस्थित हो जाना (जैसे उपन्यास या कहानी में, जहाँ अधिक लम्बे विवरण की आवश्यकता पड़ती है)।

---

1. गोविन्द मिश्र लोठार लुत्से, लेखक की ज़मीन, नया प्रतीक, सम्पा० स० ही० वात्स्यायन (दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जून 1978), अंक-6, पृ० 35-36।
2. वही, पृ० 37।

- आधुनिक या समकालीन रचना-कर्म मे प्रत्यक्षीकृत विषय के साथ विस्वरता की पीड़ा ही रचनाकार को अधिक अभिप्रेरित करती है।

2. अभिप्रेरण : सामाजिक और वैयक्तिक अनिवार्यता

मनोवैज्ञानिक सी० आर० रोजर्स का विचार है कि सिसृक्षात्मक अभिप्रेरण ही रचना-कर्म का उद्गम-स्थल है और इसका सम्बन्ध मनुष्य की आत्मवास्तवीकरण (सेल्फ-एक्चुअलाइज़ेशन) या अपनी शक्यताओ को रूप देने की उस प्रवृत्ति के साथ है जिसे मनश्चिकित्सा मे उपचारात्मक शक्ति के तौर पर गहराई से इस्तेमाल किया जाता है। इसे आत्मसमृद्धि का सन्तोष प्राप्त करने की इच्छा भी कहा जा सकता है। "यह प्रवृत्ति तह-दर-तह जमे हुए मनोवैज्ञानिक बचावो के नीचे दबी हुई या उन पुराभागो के पीछे छिपी हुई भी हो सकती है जो इसके अस्तित्व तक का पता नही चलने देते; लेकिन यह मेरा अनुभव-पुष्ट विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति मे उपस्थित रहकर यह उन्मोचन तथा अभिव्यक्ति की अनुकूल परिस्थितियो का इन्तज़ार करती है। आत्मसम्पूर्णता के प्रयास मे जीव अपने पर्यावरण के साथ नये-नये सम्बन्ध स्थापित करता है और उसकी यही प्रवृत्ति सर्जनात्मक कृत्य की प्राथमिक अभिप्रेरणा होती है।"[1] मनोविज्ञान के नितान्त व्यक्ति-निष्ठ दृष्टिकोण के बावजूद रोजर्स का यह कथन इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमे प्रकारान्तर से रचनात्मक अभिप्रेरण की दोहरी भूमिका को स्वीकार किया गया है—अर्थात् यह पहले रचनाकार के व्यक्तित्व को समृद्ध करती है और फिर उस व्यक्तित्व से उन्मुक्त भी, ताकि उसकी रचना प्रातिनिधिक बन सके।

इससे यह भी पता चलता है कि जिसे हम अभिप्रेरण की आकस्मिकता कहते है वास्तव मे उसके पीछे अचेतन का लम्बा सिलसिला होता है जो अचानक अनुकूल परिस्थितियो मे प्रस्फुटित हो जाने की वजह से आकस्मिक प्रतीत होता है। इससे तीसरा सकेत यह मिलता है कि अभिप्रेरणा उदित होने के बाद समाप्त कभी नही होती बल्कि रचना-प्रक्रिया में पडकर वह निरन्तर विकसित होती है और उसका फैलाव कृति के आविर्भाव तक बना रहता है। दूसरी ओर रोजर्स के कथन की सीमा यह है कि वह रचनात्मक अभिप्रेरण को श्रेयस तथा अश्रेयस के किसी भी मानक के साथ जोड़ना नही चाहते। आगे चलकर वह इसके निर्माणात्मक और विध्वसक रूपो की चर्चा तो करते हैं लेकिन वैयक्तिक मजबूरी के रूप मे; जबकि असलियत यह है कि अभिप्रेरणा रचनाकार की वैयक्तिक ही नही, सामाजिक मजबूरी भी है और साहित्यिक सिसृक्षण मे सामाजिक श्रेयस का वरण ही उसे सार्थक एव चिरजीवी रूप प्रदान करता है। पहली मजबूरी के रूप मे हम बच्चन का वह गीत ले सकते हैं जिसमें वह कहते है—"इसीलिए खड़ा रहा

---

1. सी० आर० रोजर्स, टुवर्ड्स ए थिएरी ऑफ क्रिएटिविटी, क्रिएटिविटी, सम्पा० पी० ई० वर्नन (मिडलसेक्स, पेंगुइन बुक्स, 1975), पृ० 140।

कि तुम मुझे पुकार लो।" और दोनों मजबूरियों के स्वस्थ अन्तस्सम्बन्ध का उदाहरण हमे मुक्तिबोध विरचित 'अँधेरे में' की इन गीतनुमा पंक्तियों में उपलब्ध होता है—

ओ मेरे आदर्शवादी मन,
ओ मेरे सिद्धान्तवादी मन,
अब तक क्या किया ?
जीवन क्या जिया ?

× × ×

ज्यादा लिया और दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश, अरे, जीवित रह गये तुम।

उपर्युक्त अन्तर को स्पष्ट करने का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि अभिप्रेरणात्मक 'मजबूरी' पर रचनाकार का वश होता है; बल्कि यह रेखांकित करना है कि इसका आधार रचनाकार का रचना-बाह्य जीवन भी होता है जिसका निर्माण वर्ग-विभाजित समाज की वह सजटिलता करती है जिसे उसने अपने स्वभाव और अर्जित व्यक्तित्व से जिया होता है। कोशीय हवाला भी यही कहता है कि "प्रेरणा रचनाकार की वह सामाजिक मजबूरी है जो उसे रचना-कर्म के हवाले करती है। 'सामाजिक मजबूरी' और 'हवाले किया जाना'—इसके दो स्रोत-सिद्धान्त हैं। दिक् और काल की परिधि में पहला दूसरे से अधिक व्यापक है। पहले का स्रोत कवि का बाह्य जगत है और दूसरे का उसका अन्तर्मन।"[1] महादेवी वर्मा के शब्दों में—"इस मूलगत एकता के कारण ही साहित्यिक उपलब्धियाँ कालान्तर व्यापिनी हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के स्रष्टा मात्र ही उसके उपभोक्ता कैसे माने जा सकते हैं। जीवन के परिष्कार और परिवर्तन के हर अध्याय से साहित्य के चिह्न हैं, अत. उसे व्यापक सामाजिक कर्म न कहना अन्याय होगा।"[2]

3. अभिप्रेरण की व्यापक अवधारणा

इधर कलात्मक अभिप्रेरण को, अवस्था-विशेष में निबद्ध न मानकर, बहुत व्यापक अर्थ दिया जाने लगा है। वी० कुटास के अनुसार अभिप्रेरण का अर्थ है उन अभिप्रेरणाओं तथा दलीलों का योगफल जो किसी वस्तु को प्रमाणित करने के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह बताते हुए कि "कलात्मक अभिप्रेरण" की अवधारणा साहित्य-कला-समीक्षा में नाटक की सैद्धान्तिकी से आयी है, वह पुन लिखते हैं—"आमतौर पर घटनाओं, पात्रों

1. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ पोइट्री एण्ड पोइटिक्स (लन्दन, प्रिंस्टन पेपरबैक्स, 1963), पृ० 25।
2. महादेवी वर्मा, मेरे प्रिय निबंध (नयी दिल्ली, मेशमल पब्लि० हा०, 1981), पृ० 24।

की क्रियाओं के उद्दीपनों और अभिप्रेरणाओं, इन पात्रों के परिवर्तनों और लाक्षणिक रूप से उद्घाटित तथा अनुमोदित उद्दीपनों की व्याख्या के रूप में कलात्मक अभिप्रेरण को निर्धारित किया जाता है। किसी कलाकृति को ठोस, सत्यमयी तथा विश्वसनीय बनाने का मुख्य साधन ही कलात्मक अभिप्रेरण है। प्रमाणीकरण के अर्थ में अभिप्रेरण के भीतर किसी प्रेषिती (एड्रेसी) की पूर्व-कल्पना रहती है, अर्थात् उस व्यक्ति की जिसे इसके द्वारा विश्वास दिलाया जाता है। अतः इस अवधारणा का विश्लेषण केवल रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से नहीं, प्रत्यक्षण के मनोविज्ञान की दृष्टि से भी पूरी तरह न्यायसगत होता है।"[1]

क्रूटास का मत है कि अभिप्रेरण स्वयं में अति सजटिल प्रक्रिया है। हम प्रायः इसे सत्याभास (प्लाजिबिलिटी) और जीवन-सादृश्य की भ्रान्ति के साथ जोड़ते हैं, लेकिन इसका क्षेत्र इतना भर नहीं है। उदाहरण के लिए हम अन्तर्वस्तु द्वारा रूप के अभिप्रेरित होने की बात भी कर सकते हैं। अभिप्रेरण के कई पहलू होते हैं, जैसे "यथार्थपरक" और "विशुद्ध कलात्मक" होने के पहलू; लेकिन ये एक ही समग्रता के अन्तर्विभाजन हैं जिन्हें समग्र प्रत्यक्षण के दौरान ही समझा जा सकता है क्योंकि ये उस परिज्ञान (काम्प्रीहेंशन) या व्यापकत्व के साथ जुड़े रहते हैं जो सौन्दर्यबोधात्मक प्रत्यक्षण में अपने-आप अन्तर्निहित रहता है।

हालांकि क्रूटास ने कलात्मक अभिप्रेरण का विश्लेषण परिग्राहक पक्ष से अधिक किया है और यह सिद्ध करना चाहा है कि इस अभिप्रेरण तक पहुँचने के कई मानदण्ड हो सकते हैं, फिर भी उन्होंने इस तथ्य को केन्द्र में रखा है कि अभिप्रेरण मूलत- समाकल कलात्मक कारणता है जिसके तत्व किसी कलाकृति में अनेक स्तरों पर अन्तर्विष्ट रहते हैं। यह जरूरी नहीं कि रचनाकार उन्हें अपनी तरफ से या अपने पात्रों के माध्यम से सीधे प्रदर्शित करे; बल्कि आमतौर पर वह उन्हें पाठकीय कल्पना द्वारा बोधगम्य होने के लिए खुला छोड़ देता है। बहुत से रचनाकार परिग्राहक की सर्जनशीलता में अविश्वास के कारण, अपनी रचनाओं में अभिप्रेरणात्मक सूत्रों को इतनी बहुतायत से भर देते हैं कि उसकी अपनी साहचर्य-प्रक्रिया बाधित होने लगती है। इसमें सन्देह नहीं कि रचनाकार अभिप्रेरित करने के लिए अभिप्रेरित होता है लेकिन कुशल रचनाकार अपनी अभिप्रेरणाओं से सम्बन्धित अनेक अर्थान्तरालों अथवा समस्या-स्थितियों को जानबूझ कर नियोजित करता है ताकि परिग्राहक को झकझोर सके। "जिस लेखक के पास बड़ी व्यावसायिक निपुणता होती है वही अभिप्रेरण के दबाव को यथासम्भव रोककर धीरे-धीरे और प्रच्छन्न रूप से पाठकीय चेतना में उन तत्वों का प्रवर्तन करता है जो भावी अर्थ-

1. वी० क्रूटास, आर्टिस्टिक मोटिवेशन एण्ड एस्थेटिक पर्सेप्शन, मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स एण्ड लाइफ, सम्पा० आई० कुलिकोवा और ए० जिस (मास्को, प्रॉग्रेस पब्लि० 1976), पृ० 132।

संश्लेषण के लिए जरूरी होते हैं।"[1]

4. अभिप्रेरण की स्पष्टता/अस्पष्टता और सार्वभौम प्रकृति

प्रारम्भिक अभिप्रेरण की स्पष्टता को लेकर, रचनाकारों की ओर से, दो प्रकार के साक्ष्य मिलते हैं। प्रतिबद्ध लेखकों का कहना है कि लिखना उनकी इच्छा-शक्ति के अधीन है और उन्हे पता होता है कि कौन-सी समस्या किस प्रयोजन से लिखने के लिए अभिप्रेरित कर रही है। उदाहरण के लिए नागार्जुन का कहना है कि—"एक सूत्र हम पकड़ लेते हैं। एक मोटी रूपरेखा बनाकर उस रचना को एक सही सन्तुलित परिणति देने में हमको सुविधा होती है।···कल्पना और यथार्थ का जो चोली-दामन का रिश्ता है, यह असल कला की उत्पत्ति है, चाहे गद्य में हो या पद्य में।"[2] उनका विश्वास है कि जो भी लेखक यथार्थवादी सामाजिक लेखन में आस्था रखता है उसके सामने शोषक और शोषित के सम्बन्ध खुले अभिप्रेरण की तरह पड़े होते हैं जो इतिहास के विभिन्न चरणों पर अपना बाह्य रूप बदलते रहते हैं और जिनसे बचकर निकल सकना उसके लिए असम्भव होता है। जब उनसे यह पूछा जाता है कि इसका मतलब तो यह हुआ कि लेखक अपनी हर रचना मे स्वय को दोहराता है, क्या वह 'बलचनमा' की पुनरावृत्ति करेंगे, तब उनका जवाब आता है—"बलचनमा की कहानी तो चालीस साल पीछे छूट गयी। वह तो कही का पच बन गया होगा, उसकी तो तोंद निकल आयी होगी। बलचनमा को 'रिपीट' नही करेंगे। अगली पीढ़ी को 'पिकअप' करेंगे।"[3]

4.1. इसके विपरीत कुछ रचनाकार मानते हैं कि प्रारम्भिक अभिप्रेरण एकदम अस्पष्ट होता है; वह लगभग निष्प्रयोजन होता है और उसकी स्पष्टता एवं सप्रयोजनता की जितनी भी व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं वे बाद की होती हैं। "अगर कोई लेखक यह दावा करता है कि वह यहूदियों के उत्पीड़न से बहुत गहरे चिन्तित था, या सामाजिक हालात, पिछली पीढ़ियों की असफलता, रूप की तलाश तथा आत्माभिव्यक्ति की इच्छा आदि उसके रचना-प्रवृत्त होने के निर्णायक कारण थे, तो यह लगभग झूठ बोलना है। कारण यह है कि रचना के उद्भव की कोई एक वजह नही होती; उसकी हर विचारित व्याख्या बाद मे प्रकट होती है। यह कई रेशों का रस्सा है: अनुभवों, प्रघातों और दबावों का; कलाभिरुचि, गुणशीलता और भाषा की तमीज़ का, जागतिक घटनाक्रम से आनंदित या पीड़ित होने का; अनेक अन्य उद्दीपनों से मिश्रित कल्पन-कथाओं या सेन्स की चुभनों से लगाव का: बाधाओं, जल्दबाजियों, एक मात्रा तक सुस्ती और बहुमात्रिक कर्मिष्ठता का।"[4]

---

1. वही, पृ० 137।
2-3. रणवीर राग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार (पूर्वोद्धृत), पृ० 167-68।
4. मार्टिन ग्रेगॉर डेलिन, एटेम्प्ट एट स्टिकिंग टु दि ट्रूथ, मोटिव्ज़ वाइ डु यू राइट, पृ० 72।

नागार्जुन और ग्रेगॉर डेलिन दोनों के कथन अपनी-अपनी दृष्टि से सही हैं। वास्तव में अभिप्रेरण की स्पष्टता या अस्पष्टता इस बात पर निर्भर करती है कि रचनाकार के व्यक्तित्व में किन प्रगुणताओं की प्रमुखता है। नागार्जुन के पास एक निश्चित विचारधारा है, अतः स्वाभाविक है कि वह बाह्य जगत के उन्हीं विषयों से प्रभावित होते हैं जो उनकी वैचारिक प्रतिक्रिया की परास में आकर किसी समस्या को उद्भूत करते हैं और फिर उस समस्या के रचनात्मक विश्लेषण की माँग करते है। दूसरी ओर ग्रेगॉर डेलिन का व्यक्तित्व प्रधानतः अन्तर्मुखी है। अन्तर्मुखता में तीव्रता तो होती है लेकिन बिखराव और आत्मरति भी। ऐसा व्यक्ति हर बात को अपने हवाले से देखता और पकड़ता है। उनकी रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है कि मृत्यु-भय और नश्वरता का आतंक तथा अमरत्व की आकांक्षा वहाँ सर्वत्र व्याप्त है और इसीलिए वह शापेनहावर के इस विचार से सहमत हैं कि मृत्यु-भय ही तमाम कला और दर्शन का नियामक अभिप्रेरक है। नागार्जुन के सामने जिन्दगी खुली किताब की तरह है जिसमें से वह उन सदर्भों को पकड़ना चाहते है जिनसे मानव-जीवन बेहतर और खूबसूरत बनता है? ग्रेगॉर डेलिन के सामने जिन्दगी तहखाने की तरह है और वह उसे तहखाना बनाने वाली जीवन-विरोधिनी मृत्यु-शक्ति को ग्लोरीफाइ करना चाहते हैं। फिर भी इन दोनों को लिखने का आलोक जीवन-जन्य अभिप्रेरण ही से प्राप्त होता है; अन्तर इतना है कि एक के सामने वह अभिप्रेरण स्पष्ट है और दूसरे के सामने रहस्यात्मक एव अस्पष्ट।

4 3 इसमें संदेह नहीं कि लेखकीय अभिप्रेरण, जैसा कि डेलिन ने कहा है, अनेक रेशों से बना रस्सा होता है; लेकिन हर रेशे की भूमिका रस्सा बनने ही में सार्थक होती है और रस्से की सार्थकता उसकी ताकत पर निर्भर करती है। अभिप्रेरणा रूपी रस्से की ताकत है उसकी समग्र सहानुभूति अर्थात् सह+अनुभूति। महादेवी वर्मा ने एक स्थान पर इस सहानुभूति का उल्लेख इस प्रकार किया है—"मेरी सहानुभूति ने मुझे समाज के दलित-पीड़ित व्यक्तियों के तादात्म्य की शक्ति देकर ऐसी जीवन-दृष्टि दे दी है जिससे मेरे लेखन को आलोक मिलता है।''' एक ही परिस्थिति सब मे एक सी प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करती, अतः व्यक्ति का भोगा हुआ यथार्थ सीमित तथा वैयक्तिक ही रहेगा। परन्तु मानव-मन की कथा कुछ भिन्न है। शिला कण-कण मे टूट कर भी जल मे नहीं मिल पाती। इसके विपरीत जल की बूंद भी समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया प्रत्येक मन पर भिन्न होगी, किन्तु मन की प्रतिक्रिया दूसरे मन पर वही होगी, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। लेखक इसी से जीवन के उस यथार्थ को भी अंकित कर पाता है जो अन्य का है। उसे अपराधी की मानसिकता का चित्रण करने के लिए अपराध करने की आवश्यकता नहीं होती। इसी जीवन-प्रवृत्ति के कारण एक लेखक युग-युगान्तर के व्यक्ति और समष्टि मन का ऐसा परिचय देता है जो मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा उतरेगा।"[1]

1. महादेवी वर्मा, मेरे प्रिय निबंध (पूर्वोद्धृत), भूमिका।

4 4 इससे स्पष्ट होता है कि बाह्य जगत के आत्मसात्कृत विषयों में से वही लेखकीय अभिप्रेरणा के उद्दीपक बनते हैं जिनमे सार्वभौमिकता का तत्व होता है। दूसरे शब्दो में कहें तो सार्थक रचना-कर्म का प्रारम्भ उस जिज्ञासा से होता है जिसे रचनाकार एक व्यापक सदर्भ में समझना-समझाना चाहता है। इस क्रम मे वह जिज्ञासा की सहजन्या अनुभूति से आविष्ट होता है। यह आवेष्टन मानव-जीवन, मानव-स्वभाव और प्रकृति के उस प्रत्यक्षण का परिणाम होता है जिसके द्वारा बाह्य यथार्थ उसके मन पर 'फतासी चित्रो' को अकित करता है और अकित होने की प्रक्रिया मे वह यथार्थ नितान्त स्वतत्र न रहकर उसका अपना आभ्यन्तर यथार्थ बन कर उसे उद्वेलित-अभिप्रेरित करता है। अरस्तू ने अपने अनुकरण-सिद्धान्त मे इसकी ओर सकेत करते हुए बहुत पहले बता दिया था कि कविता, अर्थात् अनुकरणात्मक कला की सर्वोच्च विधा, मानव-जीवन के सार्वभौम तत्व की अभिव्यक्ति है। अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार एस० एच० बूचर ने इस कथन पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"अगर हम अरस्तू के विचार का उनकी अपनी प्रणाली के प्रकाश मे विस्तार करें तो कह सकते हैं कि ललित कला अनित्य एवं विशिष्ट का बहिष्करण करती है और मौलिक के स्थायी तथा अनिवार्य रूपो का उदघाटन करती है।...एक व्यक्ति मे वह विश्व-व्यक्ति को ढूंढ लेती है। वह प्रकृति-प्रदत्त कोरे यथार्थ की सीमा को लांघ कर यथार्थ के उस विशुद्धीकृत रूप की अभिव्यजना है जो आकस्मिकता से असम्पृक्त तथा अपने विकास को बाधित करने वाली स्थितियो से स्वतत्र होती है।"[1]

4 5 मार्क्सवादी व्याख्याकार इसी को प्रतिनिधिक यथार्थ का चित्रण कहते हैं। अन्य क्षेत्रो मे इसके लिए निर्वैयक्तीकरण, सामान्यीकरण और साधारणीकरण जैसे शब्द प्रचलित हैं। प्राय यह माना जाता है कि अभिप्रेरण की अवस्था मे रचनाकार इस प्रकार के कार्य मे सक्षम नही होता क्योकि वहाँ उसका प्रारम्भिक अनुभव व्यक्तिबद्ध होता है और इस व्यक्तिबद्धता से मुक्ति उसे रचना प्रक्रिया के दौरान बाद की किसी अवस्था पर प्राप्त होती है। हमारे विचार मे इस मुक्ति के बीज अभिप्रेरण मे ही विद्यमान होते है अन्यथा आम आदमी और रचनाकार की अभिप्रेरणाओ मे अन्तर नही किया जा सकता, लेकिन चूंकि यह अवस्था सवेगप्रधान और भावोत्तेजक होती हैं, इसमे रचनाकार की मानसिक प्रतिक्रियाएं अपने शिखर पर होती हैं, इसलिए इसे प्रधानतः व्यक्तिबद्ध मान लिया जाता है।

5. अभिप्रेरण में संवेगों या मनोभावों की भूमिका

रचनात्मक अभिप्रेरण मे मनोभावो या सवेगो की भूमिका मुख्य होती है। रचनाकार की विषय-सलिप्ति के मूल उपादान उसके सवेग होते हैं। वास्तव मे मनो-

1. एस० एच० बूचर, अरिस्टाटल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एण्ड फाइन आर्ट (न्यूयार्क, डॉवर पब्लिकेशन्स, 1951), पृ० 150।

विज्ञान स्वीकार करता है कि अभिप्रेरण और संवेगन में विभाजक रेखा खींचना कठिन है। इन्हें अनुभूति से भी अलगाया नहीं जा सकता क्योंकि कोई सामान्य अनुभूति (फीलिंग) तभी संवेग का रूप धारण कर लेती है जब उसे सर्वतोमुखी उत्तेजकता की तीव्रता का संस्पर्श मिलता है। यहाँ संवेग शब्द का प्रयोग 'इमोशन' के पर्याय-रूप में किया जा रहा है जिसकी व्युत्पत्ति लातीनी शब्द 'इमॉविरे' से मानी जाती है। 'इमॉविरे' का अर्थ है हिला देना, चिढ़ाना या उत्तेजित करना। प्रत्येक संवेग का मूल व्यक्ति की किसी सहज प्रवृत्ति (प्रोपेंसिटी) में होता है लेकिन रचना-प्रक्रिया का सम्बन्ध उन्हीं सहजप्रवृत्तियों से होता है जो रचनाकार को भावात्मक अवस्था में ला सकती हैं। भूख और निद्रा आदि की सहज प्रवृत्तियाँ शारीरिक ज़रूरतों के साथ जुड़ी रहती हैं, अतः उनमें भावात्मकता लगभग नगण्य रहती है। हालांकि प्रत्येक सहजप्रवृत्ति की भाँति इनमें भी एषणा करने, जानने और महसूस करने के तीन आयाम होते हैं, लेकिन महसूस करना—जोकि संवेग का प्राणतत्व है—निर्माणशीलता, वत्सलता, हास्य, शान्ति, प्रतिवेदन, रति, भय, जुगुप्सा और प्रहर्ष आदि की सहजप्रवृत्तियों में, अपनी तीव्रता के कारण आसानी से संवेग का रूप धारण कर लेता है। रचना प्रक्रिया की दृष्टि से संवेग सम्बन्धी तीन बातें महत्वपूर्ण होती हैं—पहली यह कि इसमें एक ही संवेग दो या तीन अन्य संवेगों का मिश्रण होता है, दूसरी यह कि इसमें रचनाकार की सांस्कृतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि के अनुरूप संवेगोत्पत्ति के साथ-साथ संवेग-स्मरण तथा संवेग-नियंत्रण की अतिरिक्त क्रियाएँ भी सम्मिलित रहती हैं, और तीसरी यह कि ये संवेग अपेक्षाकृत अधिक सजटिल एवं दुर्व्यस्थेय होते हैं क्योंकि इनकी उपज मनुष्य के संवेगात्मक जीवन-विकास के उच्चतर अथवा सामान्येतर धरातल से होती है। यहाँ "सहजप्रवृत्तियाँ किसी एक विषय पर केन्द्रित होने के बावजूद उन विषयों तक विस्तार पा जाती हैं जो कि मूल विषय से सादृश्य रखते हैं। इस प्रकार वे उन अर्जित चित्तवृत्तियों का रूप धारण करती हैं जिनका निर्माण कई संवेगात्मक अनुभवों और कार्यिकियों के बीच विकसित होता है। उन्हें भाव (सेंटिमेंट्स) भी कहा जाता है। महान संस्कृत नाटककार कालिदास ने उन्हें 'भावस्थिराणि' या स्थिर संवेग कहा है। ये भाव जीवन-पर्यन्त बने रह सकते हैं और बने रहते हैं। "किसी भाव की उत्तम परिभाषा यह हो सकती है कि वह किसी विषय पर केन्द्रित संवेगात्मक प्रवृत्तियों का व्यवस्थित विधान है। भाव जितना सजटिल होगा, उसके द्वारा उद्भूत संवेगों तथा संश्लिष्ट अनुभूतियों की परास भी उतनी ही व्यापक होगी।"[1]

5.1. उपर्युक्त तथ्य को समझ लेने पर स्पष्ट हो जाता है कि क्यों बहुत से साहित्यकार रचना-प्रक्रिया को भाव-प्रधान या संवेगात्मक अभिप्रेरण की कायिकी मानते हैं। इस सम्बन्ध में वाइटहैड के 'संवेगों का रूपान्तरण' नामक सिद्धान्त का विवेचन

---

1. बी० के० गोकक, एन इंटेग्रल व्यू ऑफ़ पोइट्री (पूर्वोद्धृत), पृ० 59।

सिसृक्षा के इतिहास के अन्तर्गत किया जा चुका है। कालिंगवुड[1] के अनुसार भी कला-व्यापार का सार संवेगाभिव्यक्ति में निहित है, लेकिन कलाकार नितान्त वैयक्तिक संवेगों को नहीं, उन्हीं को अभिव्यक्त करता है जिन्हें वह अन्यों के साथ बाँट सकता है। यह क्रिया उसके सौन्दर्य बोधात्मक अनुभव का अविभाज्य अंग होती है जिसे केवल सम्प्रेषण नहीं; श्रोताओं, अन्य कलाकारों तथा प्रस्तुतकर्त्ताओं के साथ किया गया सहयोगी प्रयास समझना चाहिए। उनके विचार में रचनात्मक अनुभव के तीन स्तर होते हैं—चित्यात्मक, कल्पनात्मक और प्रज्ञात्मक। इन तीनों में संवेगाभिप्रेरण विद्यमान रहता है। अन्तर केवल यह होता है कि रचना की प्रक्रिया में प्राथमिक संवेदनस्तरीय (प्रभावात्मक) संवेगों को धीरे-धीरे विचारात्मक संवेगों के धरातल पर उठा दिया जाता है। उन्हीं की तरह मिडलटन मरे[2] की भी धारणा है कि प्रत्यक्षणजात संवेगाभिप्रेरण का क्रिस्टलीकरण ही रचनाप्रक्रियात्मक प्रतीकान्वेषण है।

5.2. सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा रचनाकार की उच्चतर संवेदनशीलता द्वारा प्रत्यक्षित विषय उसके संवेग का कारण और प्रतीक दोनों होता है। इसी संदर्भ में ई० जी० यकालेव ने कलात्मक रचनाकर्म के संवेगात्मक और विचारात्मक पक्षों के अन्तस्सम्बन्ध पर विचार करते हुए लिखा है—"कलात्मक सिसृक्षण काफी हद तक संवेगावस्था पर निर्भर करता है। इस अवस्था में रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रत्येक अनुषंग किसी वस्तु, विचार या साध्य द्वारा कम्पायमान हो उठता है। क्रेमलिन की लाल दीवारों ने 'स्ट्रेल्ट्सी को प्राणदण्ड' के रूसी चित्रकार सुरीकोव को इसी प्रकार अभिप्रेरित किया था। जिस कलात्मक विचार पर फ्लाबर काम कर रहे थे वह उनके मन पर इस प्रकार हावी हो गया था कि उनका स्वास्थ्य ही बिगड़ गया। एम्मा बॉवेरी को ज़हर दिये जाने का प्रसंग लिखते समय मानो वह स्वयं कल्पनात्मक विषपान से बीमार पड़ गए थे। संखिया का स्वाद, अपच और वमन उनके वास्तविक जीवन के तथ्य बन गए थे। यह भी सर्वविदित है कि रूसी लेखक लियोनिद आन्द्रेयेव जब कभी अपनी कल्पना में किसी भावी रचना के नायक की पुनस्सृष्टि के उद्देश्य से दो-चार होते थे तब गहरी संवेगावस्था में अतल तक डूब जाया करते थे।"[3]

5.3. वास्तव में जो लोग रचनात्मक अभिप्रेरण में संवेगों के बहाव को अतिशय महत्व देते हैं वे इसी महत्व के आधार पर इस अवस्था में किसी प्रयोजन की स्पष्टता को स्वीकार नहीं करते। यह बात एक सीमा तक ठीक भी है। यकालेव के अनुसार इसका कारण यह है कि प्रथम सिसृक्षात्मक आवेग की तीव्र संवेगावस्था का आघात या धक्का प्रयोजन की स्पष्टता प्रदान करने में अक्षम होता है। इसमें रचनाकार का मन

1. आर० जी० कालिंगवुड, दि प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट, पृ० 301-2।
2. मिडलटन मरे, दि प्राब्लेम ऑफ स्टाइल (लन्दन, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, 1976), पृ० 87-88।
3. मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स एण्ड दि आर्ट्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 216-17।

प्रतिवर्ती प्रतिक्रियाओं से आच्छादित रहता है जो उसे विचारित चिन्तना से दूर रखता है। इस चरण पर उसकी रचनात्मक विषय की पहचान स्वय प्रकाश्य ज्ञान प्रधान होती है। यहाँ उसे उपचेतन के स्तर पर प्रभूत सामग्री तो मिलती है लेकिन वैचारिक विश्लेषण की दिशा नही। फिर भी विषयोपलब्धि, विषय-साक्षात्कार और विषयात्मसात्करण की दृष्टि से इस अवस्था का अपार प्राथमिक महत्व है।

6.1. रचनात्मक अभिप्रेरण के स्रोत

रचनात्मक अभिप्रेरण के स्रोतों से तात्पर्य उन द्वन्द्वात्मक अवस्थितियों से है जो संवेदन और प्रत्यक्षण की प्रक्रियाओं में छनकर या अलक्षित सहजता से चुनी जा कर, पहले तो रचनाकार को तीव्रता से उद्वेलित करती हैं और फिर रचना-कर्म के परवर्ती चरणों पर रचनात्मक सन्तुलन का आधार भी बनती हैं। इन स्रोतों की परिगणना सम्भव नही, लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हर रचना का एक मुख्य स्रोत होता है जिसका स्वरूप कई उपस्रोतो के समुच्चय से बनता है और जो रचना प्रक्रिया के दौरान कई धाराओ मे बट जाता है। रचनात्मक स्थापना की उर्जा उसी स्रोत में निहित होती है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को हरकतो को देख कर हम सोचने लगते हैं कि उसका इरादा क्या है या वह कौन-सी मानसिकता है जो उसे इन हरकतो के लिए उकसा रहो है, उसी प्रकार रचना प्रक्रिया की समझदारी के लिए उसके अभिप्रेरणात्मक स्रोत को पहचानना जरूरी होता है। यदि वह स्रोत नितान्त व्यक्तिगत होगा तो रचनाकार की रचनाप्रक्रिया आत्मनिष्ठ आवेग-धाराओं मे फैल जायेगी। उसकी रचनाओ में भावुकता और रोमानियत का प्रसार अधिक होगा और वे किशोर पाठकों मे अधिक लोकप्रिय भी होगी—उदाहरण के लिए प्रसाद का 'आंसू' और भारती का 'गुनाहो का देवता'। इसके विपरीत अगर उसका रचना-कर्म वस्तुनिष्ठ अन्वेषणा के शक्ति स्रोतो से अभिप्रेरित है तो उसकी परिणति अवश्य ठोस, व्यापक और फिर प्रासगिक होगी—जैसे प्रसाद ही की 'कामायनी' और भारती ही का 'अंधायुग'।

वास्तव में यह अभिप्रेरणा-स्रोतों ही का करिश्मा है कि भारतेन्दु, प्रेमचन्द, मुक्तिबोध और निराला जैसे महान रचनाकार अपने युग तथा इतिहास के यथार्थ एवं अन्तर्विरोधो को पहचानकर उन्हे सगत कलात्मक स्थापनाओं में बदल सके हैं। स्थापनाएँ सदैव समाधानात्मक नही होतीं; वे प्रश्न की निरन्तरता को सही परिप्रेक्ष्य में खोल कर प्रायः अधिक गरिमा-मण्डित होती हैं। दिनकर के शब्दो मे—' प्रश्नो के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यो के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल वासना की लहर और रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'[1] यह अभिप्रेरणात्मक दर्द का एक पहलू है जिसे उर्वशी में अभिव्यक्ति मिली है, लेकिन उसका दूसरा पहलू भी

---

1. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी (पटना, उदयाचल, 1961), भूमिका

है जो मुक्तिबोध के 'काव्यात्मन् फणिधर' को जगाने के लिए विवश करता है। एक क्रिया की अनेक रचनात्मक प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं; अभिप्रेरण संगतिमूलक हो तो वे अनुक्रियाएँ भी बन जाती हैं—जैसे निराला की 'जूही की कली में।'

6 1. मनोवैज्ञानिक स्रोत

रचनाकारिता के मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणा-स्रोतों के सम्बन्ध में इर्विंग टेलर[1] ने तीन प्रकार के अभिमतों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मनोविज्ञानियों का एक वर्ग जैवशक्तिवाद (वाइटलिज्म), सहजज्ञानवाद (नेटिविज्म), रोमांसवाद, अवचेतनवाद, संस्कृति और आकस्मिक लाभ-वृत्ति (सेरेंडिपिटि) आदि के प्रतिक्रियात्मक स्रोतों पर बल देता है और मानता है कि सिसृक्षा नामक विलक्षण प्रक्रिया उन भीतरी या बाहरी शक्तियों से उद्भूत होती है जिन पर शक्ति का कोई दायित्वपूर्ण नियंत्रण नहीं बना रह सकता। दूसरा वर्ग आनुभविक (इम्पीरिकल) अन्तर्वैयक्तिक तथा वैयक्तिक स्रोतों को अधिक रेखांकित करता हुआ उनकी अन्योन्य क्रियात्मक (इंटरएक्शनरी) पद्धति का समर्थन करता है, अर्थात् शक्ति और पर्यावरण की अन्योन्य क्रिया में विश्वास रखता हुआ भी, रचनाकर्म को अशतः व्यक्ति की वश्यता से परे मानता है। तीसरा वर्ग सिसृक्षा के सव्यवहारात्मक (ट्रांजेक्शनल) स्रोतों को महत्व देता है अर्थात् रचना-में रचनाकार के सजटिल सव्यवहार और पर्यावरणात्मक उद्दीपनों के द्विध्रुवीय स्रोतों को, उसकी अन्तर्भूत (इनहेरिंट) तथा स्वाभाविक जीव प्रायोगिक—पर्यावरणात्मक (बायोएक्सपेरिमेंटल-इन्वायरमेंटल) प्रक्रियाओं के रूप में विश्लेषित करता है। आज-कल मनोविज्ञान में सिसृक्षा के मनोवैज्ञानिक स्रोतों का अध्ययन इसी सव्यवहारात्मक सिद्धान्त (ट्रांजेक्शनल थिअरी) के आलोक में अधिक किया जा रहा है ताकि उनकी विज्ञानसम्मत विवेचना के माध्यम से उन्हें परिमापन के धरातल पर पकड़ा जा सके।

इन तीनों अभिमतों में क्रमशः प्रतिक्रिया, अन्योन्यक्रिया और स्वाभाविक सव्यवहार को सिसृक्षण के अभिप्रेरणात्मक स्रोत के रूप में केन्द्रस्थ माना गया है जो कि वास्तव में परस्पर-पूरक हैं; अन्तर अथवा वैभिन्न्य इस बात पर है कि सर्जक को चेतन स्तर पर इनकी जानकारी कहाँ तक होती है और किस सीमा तक इसे नियंत्रित कार्यिकी माना जा सकता है। वस्तुतः चेतन और अचेतन का सातत्य इस अवस्था पर भी बना रहता है और इस दृष्टि से, साहित्यसृजन की प्रक्रिया में, दूसरा अभिमत अधिक सगत प्रतीत होता है। फिर भी सिर्फ मनोविज्ञान की सहायता से साहित्यिक सिसृक्षण की अभिप्रेरणावस्था के प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल सकता। इसके लिए हमें

---

1 इर्विंग-टेलर, साइकॉलॉजिकल सोर्सिज ऑफ क्रिएटिविटी, साइकॉलॉजिकल एब्स्ट्रैक्ट्स (पूर्वोद्धृत), वाल्यूम 63, जून 1980। जर्नल ऑफ क्रिएटिव बिहेवियर, 1976, वाल्यूम 10 (3), पृ० 193-202 भी देखें।

रचनाकारों और रचनाओं के व्यावहारिक हवाले से भी अभिप्रेरणा-स्रोतों की वास्तविक तफ़्तीश करनी होगी। यह भी ध्यान में रखना होगा कि ये स्रोत इतिहास के साथ-साथ मिटते, बनते और नये-नये रूप धारण करते हैं। इतना ही नहीं, एक ही रचनाकार की रचना-यात्रा के विकास में इन स्रोतों का अभिग्रहण अपनी मुख्यताओं से विचलन करता हुआ भी दिखायी देता है। ऐसे ही कुछ स्रोतों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

6.2 वास्तविक अनुभव-भोग

अनेक रचनाकारों की कृतियों की तुलना उनके उपलब्ध जीवन-तथ्यों के साथ करने या उनकी आत्म-स्वीकृतियों पर विचार करने के उपरान्त पता चलता है कि वास्तविक अनुभव-भोग उनके रचनात्मक अभिप्रेरण का मुख्य स्रोत रहा है। अपने जीवन प्रसंगों से अभिप्रेरणा प्राप्त करने की प्रवृत्ति उन रचनाकारों में अधिक लक्षित होती है जिनकी रचना-प्रक्रिया में रचना की रूपरेखा पहले से नहीं बनायी जाती, जो आत्माभिव्यक्ति ही को अपने रचना-कर्म का निर्धारक तत्व या प्रयोजन मानते हैं, जो चेतन पर स्वतः स्फूर्त अवचेतन को तरजीह देते हैं, विचार को अनुभूति से बहुत ठिगना समझते हैं और जिनकी प्रतिबद्धता अपने साथ सबसे पहले होती है और इस आत्मरति को 'अनुभव की प्रामाणिकता' में लपेट कर प्रस्तुत करते हैं।

6.2.1 छठे-सातवें दशक के हिन्दी साहित्य में वास्तविक अनुभव-भोग पर लिखने ही की नहीं, इतराने की मिसालें भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं, खैर यह विवाद का विषय है कि भोक्ता बनकर रचनाकार ने जिस यथार्थ को सम्पृक्ति से अनुभव किया है वह अधिक प्रभाविक होता है या अपने जीवन-प्रसंग से बाहर के यथार्थ को विश्लेषक की तरह हस्तामलकवत् देख कर अभिप्रेरित होना; लेकिन इतना निश्चित है कि चाहे कितनी ही क्षीण और अचेत-स्तरीय क्यों न हो, वास्तविक अनुभव-भोग की अभिप्रेरणा प्रत्येक रचनाकार को किसी-न-किसी रूप में उद्वेलित अवश्य करती है। रचनाकार की कुशलता इसमें होती है कि वह वह कहाँ तक इसे छद्म रखकर दूसरों के अनुभव में रूपान्तरित करने की क्षमता रखता है।

6. 2.2 हालांकि यह अनिवार्य नियम नहीं है फिर भी वास्तविक अनुभव-भोग की मुख्यता, काल-क्रम की दृष्टि से रचनाकारों की प्रारम्भिक रचनाओं में, और साहित्य-रूपों की दृष्टि से कविता अथवा छोटी कथात्मक विधाओं में अधिक अनुस्यूत रहती है। कुछ रचनाकारों में यह आद्योपान्त प्रखरता से उपस्थित रहती है और कविता, कहानी या ललित निबन्ध जैसी छोटी विधाओं के अतिरिक्त उपन्यास तथा नाटक जैसी बड़ी विधाओं में भी उनके निजी जीवन-संदर्भों के विस्तार को देखा जा सकता है। उदाहरणतः मोहन राकेश के विषय में अक्सर कहा जाता है कि अपनी लगभग सभी छोटी-बड़ी रचनाओं में वह स्वयं अभिव्यक्त हुए हैं—'एक और ज़िंदगी' हो या 'न आने वाला कल', 'आषाढ़ का एक दिन' हो या 'आखिरी चट्टान तक'। "निराला अपनी कृतियों के अन्दर ही जिस तरह पूरे-पूरे व्यक्त हुए हैं और गहराई से जाने-समझे जा सकते हैं,

मोहन राकेश को भी एक व्यक्ति, एक मनुष्य एक लेखक के रूप में जानने-समझने के लिए उनका अपना सम्पूर्ण साहित्य ही आईना है, मुख्य आधार है।"[1] इस कथन को पलटकर यों भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति, मनुष्य और लेखक मोहन राकेश का जीवन उनके साहित्य का मूल सदर्भ है।

6 1.3 शिव प्रसाद सिंह भी मानते हैं कि उनके प्रारम्भिक कथा-लेखन में इकाई के निजी अनुभव की प्रधानता रही है—"मैंने पहली कहानी किस मूड या प्रेरणा या मन स्थिति मे लिखी, यह तो आज स्पष्ट नही है, पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उसमे इकाई के निजी अनुभव की प्रमुखता थी।····'दादी माँ' ग्राम-जीवन की पहली कहानी थी जिसमे निजी अनुभव और भोगे हुए सत्य की व्यथा को व्यक्त किया गया था। कुछ लोग सस्मरणात्मक होना इस कहानी का दोष मानते हैं, किन्तु निजी अनुभूति की प्रखरता और उसकी सही अभिव्यक्ति की माँग के कारण, इस कहानी का संस्मरणात्मक हो जाना स्वाभाविक है।"[2] इसी प्रकार 'उर्वशी' के रचनाकार का कथन है—"युक्ति तो यही कहती है कि नकाब पहन कर असली चेहरे को छिपा लेने से पुण्य नही बढता, फिर भी हर आदमी नकाब लगता है क्योंकि नकाब पहने बिना घर से निकलने की समाज की ओर से मनाही है। किन्तु उस प्रेरणा पर तो मैंने कुछ कहा ही नही जिसने आठ वर्ष तक ग्रसित रह कर यह काव्य मुझ से लिखवा लिया। अकथनीय विषय! शायद अपने से अलग करके मैं उसे देख नही सकता; शायद वह अलिखित रह गयी; शायद वह इस पुस्तक मे व्याप्त है।"[3] 'बीज' उपन्यास के सम्बन्ध मे अमृतराय लिखते हैं—" 'बीज' मेरा पहला उपन्यास है। पहले उपन्यासों के विषय मे अक्सर कहा जाता है कि लेखक उनमे विशेष रूप से उपस्थित रहता है। एक सीमा तक 'बीज' के लिए भी यह बात कही जा सकती है।"[4] रमेश उपाध्याय, जो कि अब निजी या वास्तविक अनुभव-भोग की अभिप्रेरणा को स्वस्थ प्रवृत्ति नही मानते, स्वीकार करते हैं कि अपने दूसरे उपन्यास 'दण्डद्वीप' तक उनके लेखन मे निजी अनुभव की प्रधानता थी जिसके परिणामस्वरूप इस कृति की नायिका मनीषा, नाम बदलकर, उनकी अपनी मनीषा ही की प्रतिच्छाया है। "आज यह स्वीकार करने मे मुझे कोई सकोच नही है कि 'दण्डद्वीप' उस काल की रचना है जब 'अनुभूति की प्रमाणिकता' का भूत मुझ पर भी सवार

---

1. गिरीश रस्तोगी, मोहन राकेश और उनके नाटक (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, 1976), पृ० 31।
2. शिवप्रसाद सिंह, मुरदा सराय (कलकत्ता, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1966), पृ० 10-11।
3. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी (पूर्वोद्धृत), भूमिका।
4. अमृतराय, बीज. अन्तर्बीज, आधुनिक हिन्दी उपन्यास; सम्पा० भीष्म साहनी, रामजी मिश्र, भगवती प्रसाद-निदारिया (नयी दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1980), पृ० 79।

था।"' इस उपन्यास का अधिकांश भाग मेरे निजी अनुभवों की डायरी के चुने हुए अंशों का संकलन कहा जा सकता है। ये अनुभव मोटे तौर पर मेरी चौदह से बाईस वर्ष की उम्र तक के अनुभव हैं।"[1] 'अठारह सूरज के पौधे' की रचना प्रक्रिया को उद्घाटित करते हुए रमेश बक्षी लिखते हैं—"एक बार पिकासो की रचना 'गुएर्निका', जो युद्ध की विभीषिका का सर्वाधिक निर्मम चित्र है, किसी मिलिटरी अफसर के सामने पड़ गई। उसने सहज पिकासो से पूछा—'यह चित्र तुमने बनाया है? पिकासो ने दाँत पीस कर उसकी तरफ देखा और धीरे से कहा—नहीं, मैंने नहीं इसे तुमने बनाया है'। अगर आज मुझसे मेरे पिता, जिन्हें मरे कई वर्ष हो गए हैं, और तलाकशुदा पत्नी यह पूछें कि यह उपन्यास तुमने लिखा है तो दाँत पीसकर मैं भी वही जवाब दूंगा क्योंकि इस उपन्यास के पौधे अब दरख्त बन गए हैं।'''उपन्यास की भूमिका में लिखी एक पंक्ति—'बाद को मेरा ही विकास रमेश बक्षी के रूप में हुआ है'—लोगों को साफ यह भ्रम देने लगी है कि यह मेरी आत्मकथा है। स्वीकृति, जाहिर है, कि वह कई अंशो में है। लेकिन आज मैं उस सब से दस साल दूर आकर उसे इस रूप मे देखता हूँ कि जैसे यह सब किसी और के जीवन मे घटा है।"[2] लेकिन दस साल बाद भी रमेश बक्षी ने 'देवयानी का कहना है।' नाटक में देवयानी को अवतारणा अपने जीवन-साक्ष्य से की है, इस तथ्य को उन्होने इस नाटक मे स्वीकार किया है।

6 2.4. विश्व-साहित्य से पेटरार्क, बायरन, वाल्तेयर और हाफमन आदि के अनेक उदाहरण देकर भी सिद्ध किया जा सकता है कि किस प्रकार वैयक्तिक जीवन-प्रसंग रचनाओं में प्रतिफलित होते हैं। लेकिन ऐसे उदाहरण भी बहु-संख्या मे जुटाए जा सकते हैं जहाँ रचनाकारो के जीवन या उनकी मानसिक बनावट या उनके वर्ग-चरित्र का उनकी रचनाओ के साथ कोई तालमेल नही बैठता।

अत. यहाँ यह स्पष्ट करना जरूरी है कि वास्तविक अनुभव-भोग की परिणति अनिवार्यत व्यक्तिवादी लेखन मे नही होती। व्यक्तित्व की अभिप्रेरणात्मक उपस्थिति और व्यक्तिवादिता को पर्याय नही समझना चाहिए; बल्कि अनेक बार इनका सम्बन्ध विलोमपरक भी होता है। 'सरोज-स्मृति' मे निराला का शोकार्त्त पितृ-रूप अपनी दर्दनाक विपन्नता के साथ उपस्थित है; लेकिन यह रचना फिर भी व्यक्तिवादी न होकर सामाजिक महत्व रखती है। व्यक्तिगत अभिप्रेरण से व्यक्तिवादी रचना तब उपजती है जब रचनाकार की विशुद्धत. निजी भावनाएँ युगीन सन्दर्भों अथवा व्यापक मानव-समाज के सत्यो से एकान्तवास लेकर उसकी कलात्मक गुणशीलता को विखण्डित अथवा तबाह कर देती है। जो रचनाकार वैयक्तिक अनुभव-भोग को अपनी रचना-प्रक्रिया में हजारो-लाखो अप्रत्यक्ष लोगो के साथ साझा करते हुए उसे अपनी तलाश का माध्यम बनाता है उसकी आत्मबीतियाँ भी जगबीतियो में बदल जाती हैं। यही कारण है कि ऊपर जिन रचनाओं का हवाला हमने दिया है वे वैयक्तिक अभिप्रेरणा-स्रोतो से जन्म लेकर भी अपनी-अपनी

1. रमेश उपाध्याय, दण्ड-द्वीप और मैं (वही), पृ० 257-58।
2. रमेश बक्षी, अठारह सूरज के पौधे : दस साल बाद (वही), पृ० 224-25।

तलाश के अनुरूप व्यक्तिवादी रचनाएँ नही हैं। इनका रचना-संसार अपने-अपने सर्जकों के व्यक्तित्व से पृथक नही है, मगर उनके समग्र वैयक्तिक अनुभवो का एकत्रीकरण भी नही है। वैयक्तिक अनुभव-भोग महत्वपूर्ण होता है, लेकिन उस कच्चे लोहे की तरह जो द्रवीकरण की शोधन-प्रक्रिया से गुज़र कर ही सही रूपाकार धारण करता है।

6 3. प्रतिक्रियात्मक निषेध और निषेधात्मक प्रतिक्रिया

आमतौर पर प्रतिक्रियात्मक निषेध और कभी-कभी निषेधात्मक प्रतिक्रिया भी रचनात्मक अभिप्रेरण का महत्वपूर्ण स्रोत बनती है। यों तो प्रतिक्रिया, हर आदमी की तरह, रचनाकार की भी वस्तुओ के वास्तव को अभिग्रहण करने की व्यक्तिस्वभाव-मूलक शक्ति है, लेकिन सही रचनाकार अभावात्मक निषेध से अभिप्रेरित नही होता। वह अपनी विशिष्ट मूल्य-दृष्टि के अनुरूप अस्वस्थ का निषेध और स्वस्थ का समर्थन एक-साथ करता है। निषेध और समर्थन की यह तमीज़, एक सीमा तक, रचनाकार-सापेक्ष होती है। फिर भी मनुष्य के इतिहास, उसकी परम्परा और सस्कृति ने इस तमीज़ को सम्पन्न करने के लिए जो फैसले सुनाए हैं, उन्हें कोई भी सही रचनाकार आसानी से अन-सुना नही कर सकता। इनमे से कुछ फैसले पुराने पड़ कर वर्तमान के लिए अप्रासगिक हो जाते है और कुछ चिर-प्रासगिक बने रहते है। जो चिर-प्रासगिक है उसे हर रचनाकार का समर्थन मिलता है, लेकिन जो अप्रासगिक हो चुका है उसका निषेध और उसके स्थान पर स्वस्थ-नूतन का सघटन करना किसी महान रचनाकार ही के लिए सम्भव होता है। कारण यह है कि इसके लिए उसे भविष्य मे जाना पडता है और भविष्य मे जाने का अर्थ है वर्षों तक अचीन्हे पडा रहना। बहुत से महत्वपूर्ण रचनाकारो को इसीलिए अपने जीवन-काल मे समुचित मान्यता प्राप्त नही होती। जिस विघटनशील का वे निषेध करते हैं उसकी जड़ें इतनी पुरानी होती हैं कि सामाजिक उसके मोह से, रचनात्मक स्तर पर, मुक्त नही हो पाते, और जिस नव-संघटनशील का वे समर्थन करते हैं उसका स्वरूप इतना अपरीक्षित एव कौतूहलमय होता है कि वह तब तक विश्वस्त नही बन पाता जब तक वर्तमान भविष्य मे संक्रमण नही कर जाता। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के दर्शन-पक्ष का निषेध किया था क्योंकि हर तरह की निष्क्रियता के प्रति निषेध और विद्रोह का भाव उनके साहित्य की मूल अभिप्रेरणा-शक्ति है; लेकिन 'कामा-यनी-सर्वस्व' आशसको-आलोचको को विलम्ब-प्रतिष्ठित मुक्तिबोध अभी तक अप्रिय लग रहे हैं—इस तथ्य के बावजूद कि समकालीन साहित्य-धारा 'कामायनी' की नही, निराला और मुक्तिबोध की लीक पर बह रही है।

6 3 1 प्रतिक्रियात्मक निषेध कई स्तरो और प्रकारों से रचनात्मक अभिप्रेरण का स्रोत बनता है। कबीर-तुलसी-नानक ने अपने समय की समाज-धार्मिक रूढ़िवादिता का निषेध किया था; अधिकांश रीतिकालीन दरबारियों ने सामन्ती अभिरुचियों के विनोदार्थ काम-सम्बन्धो की गार्हस्थ्य मर्यादाओं का तिरस्कार किया था; भारतेन्दु ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियो और भारतीय दास-मनोवृत्ति के विरोध मे लेखनी उठायी थी;

प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता के शोषक-स्वरूप और परतंत्रता की प्रतिक्रिया में समानता और स्वतन्त्रता का सपना देखा था; मैथिलीशरण गुप्त और नाटककार प्रसाद ने अराष्ट्रीय तत्वों से खीझकर भारत की महान परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहा था; छायावादियों ने स्थूल, असुन्दर और अकरुण के बहिष्कार के लिए नयी सौन्दर्य-चेतना को व्यक्त किया था; और प्रगतिवादियों ने हर प्रकार के दमन के खिलाफ विद्रोह के अनेक स्वरों को मुखरित किया था। स्पष्ट है कि यह प्रतिक्रियात्मक निषेध अपने भिन्न-भिन्न रूपों में भी, द्वन्द्वजात और निर्माणोन्मुखी होता है।

6.3.2 स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त, पिछले लगभग चार दशकों के हिन्दी-साहित्य की रचना-प्रक्रिया में प्रतिक्रियात्मक निषेध का स्वरूप उत्तरोत्तर सजटिल और बहु-आयामी होता गया है। राष्ट्रीय परतन्त्रता का सन्दर्भ ज्यों-ज्यों आर्थिक विषमता, राजनैतिक पद-लोलुपता, चारित्रिक ह्रास और स्वप्न-भंग में बदलता गया है, त्यों-त्यों एक नये प्रकार के असन्तोष की प्रतिक्रिया तीव्रतर होती गयी है। आज़ादी-प्राप्त देश की ज्वलन्त समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में, अतीत के गौरव-गान और आरोपित देश-प्रेम का राग धीरे-धीरे अप्रासंगिक और अप्रभावोत्पादक हो चुका है। यही कारण है कि 'राष्ट्र-कवियों' की परम्परा अब तकरीबन समाप्त हो चुकी है। मोटे तौर पर, रचनाकारों के तीन वर्ग उभरकर सामने आ चुके हैं—

एक वर्ग वह है जो सुविधा की सत्ता के साथ जुड़कर वायवीय मानवता का राग अलाप रहा है क्योंकि इस अलाप में एक तो कोई खतरा नहीं है और दूसरे, यह भोथरी प्रतिक्रिया और रचनात्मक साहसहीनता को छिपाने के लिए अच्छा आवरण है।

दूसरा वर्ग वह है जो अपने अभिजात्य के कारण समर्थन और निषेध के बीच का समझौतावादी मार्ग अपना कर ऐसे बौद्धिक अथवा तथाकथित शाश्वत प्रश्नों को उछाल रहा है जिनका जन-सामान्य के साथ कोई रिश्ता नहीं है। इस वर्ग के अनुसार साहित्य से न कोई बड़ा परिवर्तन आया है और न लाया जा सकता है, कि साहित्य हमेशा राज-नीति से ऊपर उठता है कि जिन्हें देश की ज्वलन्त समस्याएँ कहा जाता है वे काल के मिटते-बनते अस्थायी चरण-चिह्न हैं, कि सबसे बड़ी और चिरन्तन समस्या तो मृत्यु के आतंक, अकेलेपन तथा अस्ति-नास्ति के बीच लटकी हुई मानवीय नियति की है। इस-लिए उन्हें असंख्य भारतीय मतदाताओं की यन्त्रणाएँ तो अभिप्रेरित नहीं करतीं, मगर अपनी इच्छा के विरुद्ध जन्म लेकर अनिच्छा ही से मर जाने वाले मनुष्य की यातना आसानी से अभिप्रेरित कर जाती है।

तीसरे बहु-सख्यक वर्ग का प्रतिक्रियात्मक निषेध अभी प्रखर है क्योंकि समाज-बाह्य यथार्थ को वह अयथार्थ समझता है। घिनौनी असामाजिकता के खिलाफ उसकी सारी प्रतिक्रिया सामूहिक मनुष्य को समर्पित है—वह मनुष्य जिससे प्रकृति को जो भर-कर देखने की आँख छीन ली गयी है, जो आज़ादी में रहकर भी आज़ाद नहीं हो सका है, जो शिक्षा के प्रसार में भी अशिक्षित है, जिसे अनेक संगठन-विरोधी ताकतें बरगला रही

हैं, जो जुलूसों मे गोलियां खा रहा है—लेकिन इस सबके बावजूद जिसके भीतर की मनुष्यता जीवित है क्योंकि उसके नव-निर्वाण का सकल्प कभी मर नही सकता। इस विभ्रान्त मगर विराट्-व्यापक मनुष्य की यथास्थिति और काम्यावस्था की परिकल्पना ने ही सदैव स्वस्थ साहित्य-सृजन को अभिप्रेरित किया है। हिन्दी के सार्थक समकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करें तो उसके माध्यम से जिन वस्तुओं, विचारो और घटनाओ के प्रति असतोष व्यक्त किया जा रहा है उनके मूल मे इसी मनुष्य की मगल-कामना का व्रत प्रतिक्रियाशील है। यह उस प्रातिनिधिक प्रेमचन्दीय परम्परा का विकास है जिसके अनुसार—

> "हम जीवन मे जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुज़रती है, वही अनुभव और चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दर्जे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममे शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जागृत हो—जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयो पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है। वह साहित्य कहने का अधिकारी नही।"[1]

अधिक उदाहरण देना, प्रत्यक्ष को प्रमाणित और सूत्र को विस्तारित करना ही होगा, इसलिए आधुनिक रचनात्मक अभिप्रेरण के उपर्युक्त स्रोत की दृष्टि से दुष्यन्त कुमार का यह हवाला ही काफी है—

> सिर्फ़ हंगामा खडा करना मेरा मकसद नही,
> मेरी कोशिश है कि यह सूरत बदलनी चाहिए।
> मेरे सीने मे नही तो तेरे सीने मे सही,
> हो कही भी आग लेकिन आग जलनी चाहिए।[2]

6 3 3. प्रतिक्रियात्मक निषेध और निषेधात्मक प्रतिक्रिया मे कुछ अन्तर तो होता है लेकिन रचना की दृष्टि से यह अन्तर इतना बड़ा नही कि दूसरी को दूसरे दर्जे के लेखन की धात्री मान लिया जाए। साहित्यिक रचनाओ के खण्डन या जवाब मे कलम उठाने के लिए भी, रचनाकार अभिप्रेरित होते रहे हैं। अगर इस अभिप्रेरण के पीछे किसी प्रकार का वैमनस्य न होकर वैचारिक मत-भेद है तो इसे रचना-प्रक्रिया की अस्वस्थ शुरुआत या अमौलिकता नहीं कहा जा सकता। इससे रचना-कर्म मे, सचेत और सायास का अतिरेक, स्वत स्फूर्ति को बाधित कर सकता है; लेकिन इसके परिणाम-स्वरूप अधिक ठोस और विचारोत्तेजक कृतियाँ प्रकाश मे आकर तुलनात्मक आशसन को

1. प्रेमचन्द, कुछ विचार (इलाहाबाद, सरस्वती प्रेस, स० 1973), पृ० 9।
2. दुष्यन्तकुमार, साये मे धूप (नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1981), पृ० 30।

परितृप्त भी कर सकती हैं। उदाहरण के लिए अज्ञेय की कविता 'आपने दस वर्ष हमे और दिए, बड़ी आपने अनुकम्पा की' भगवतीचरण वर्मा के इस कथन की प्रतिक्रिया है कि नयी कविता दस वर्षों तक चलेगी, उसके बाद कविता को छन्द की ओर लौटना ही होगा।[1]

इसी प्रकार अज्ञेय की अपनी कविता 'नदी के द्वीप' के जवाब में 'हम नही हैं द्वीप' भारत भूषण अग्रवाल ने लिखी। जब भारत भूषण अग्रवाल से यह प्रश्न किया गया कि जिस प्रकार उनके मित्र रांगेय राघव के उपन्यास 'विषादमठ' और 'सीधा-सादा रास्ता' प्रतिक्रियात्मक कृतियाँ है उसी प्रकार क्या उनकी यह कविता भी "मूल रचनाओ की सामर्थ्य और प्रतिक्रियात्मक लेखन के नम्बर दो होने का प्रमाण नही है?" तब उनका उत्तर यह था—"साहब आपने कैसे मान लिया कि प्रतिक्रिया का साहित्य नम्बर दो का होता है?...अज्ञेय की कविता मुझे घोर व्यक्तिवादी और समाज विरोधी लगी।...मैं यह मानने को कतई तैयार नहीं कि मेरी कविता 'हम नही है द्वीप' अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' से किसी भी प्रकार घट कर है।...साहित्य के प्रति समर्पित होने का मतलब है जीवन के प्रति समर्पित होना।"[2] दूसरी ओर अज्ञेय की धारणा है कि भारत भूषण ने अपनी ओर से भले ही करारा जवाब दिया है "लेकिन मुझको यह लगा कि उस प्रश्न को उन्होंने कही छुआ ही नही। एक तरह का छाया-युद्ध उन्होंने किया है।"[3]

नासमझी से उपजी हुई काल्पनिक प्रतिक्रिया अथवा "छायायुद्ध" की यह शिकायत अज्ञेय ही को नही, लगभग उन सभी रचनाकारो को रही है जिनकी कृतियो के विरोध मे कृतियाँ रची जाती है। लेकिन जितनी स्वाभाविक यह शिकायत है उतनी ही स्वाभाविक यह हकीकत है कि रचना की काट किसी दूसरी रचना के आविर्भाव का अभिप्रेरक तत्व होकर भी उसका प्रयोजन नही बन सकती, अगर बनती है तो प्रतिक्रियावाद की शिकार होकर शीघ्र समाप्त हो जाती है। अत सार्थक प्रतिक्रियात्मक रचनाकर्म मे "छाया युद्ध" की सम्भावना सदैव रहेगी ही। प्रतिक्रियात्मक निषेध की भूमिका सिर्फ मनस्तरगे उत्पन्न करने तक होती है और ये मनस्तरगे हमेशा छायाभासी हुआ करती हैं; उपर्युक्त सन्दर्भ मे उन्होंने भारत भूषण के मस्तिष्क मे बैठी हुई किसी विचार-चिंगारी को मात्र हवा दी है। अज्ञेय की कविता पढ़ने से पूर्व ही उनकी धारणा बन चुकी थी कि कविता को व्यक्तिवादी नही होना चाहिए। अत अपनी कविता मे वह जिस

---

1. अपरोक्ष : अज्ञेय के सात सवाद (नयी दिल्ली, सरस्वती विहार, 1979), पृ० 114।
2. रणवीर राग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार (पूर्वोद्धृत), पृ० 296-98।
3. अपरोक्ष (वही), पृ० 114।

परितोष को ढूँढ रहे थे उसकी उपलब्धि उन्हें अज्ञेय की काट में नही, अपनी धारणा के आदर्शीकरण में हुई होगी।

दूसरी बात यह है कि अज्ञेय की कविता के प्रकाश में आने के लगभग पाँच वर्ष बाद, सन् 1954 मे, जो कविता भारत भूषण ने लिखी उसके मूल में सिर्फ एक कविता नही बल्कि अज्ञेय काव्य के पूरे साहित्यिक मिज़ाज के प्रति असन्तोष का भाव रहा होगा। तीसरा तथ्य यह भी है कि 'हरी घास पर क्षण भर' संग्रह की यह कविता "घोर व्यक्तिवादी" नही भी हो सकती है, और यदि उन्होंने इससे हटकर 'बावरा अहेरी' सग्रह की 'यह दीप अकेला' जैसी अन्य कई कविताओं पर ध्यान दिया होता तो उन्हें अज्ञेय-साहित्य का एक हाशिया ऐसा भी दीख जाता जिसे लेखक की सामाजिक अर्हता मे अविश्वास नही है। और चौथे, यह भी नही भूलना चाहिए कि एक ही कविता की अनेक प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं, कि विशेषत. बिम्ब प्रधान या प्रतीकात्मक कविता अर्थ-सम्प्रेषण में छायाभास से मुक्त नही होती क्योकि गृहीता या पाठक के पास ऐसा कोई पैमाना नही होता जिससे वह कविता के ध्वन्यार्थ को शत-प्रतिशत पकड़ सके। यहाँ तक कि रचनाकार के अपने रचना-बाह्य वक्तव्य भी इस 'न पकड सकने' का एक कारण बन जाते है। उदाहरण के लिए अज्ञेय स्वय एक ओर मानते हैं कि किसी वर्ग पर संकट आने की प्रतिक्रियास्वरूप 'सालिडैरिटी' या हितैक्य की अभिप्रेरणा से रचना करना खतरनाक बात है (क्योकि उसमे "रचनात्मक सम्भावना" नही होती),[1] और दूसरी ओर 'आपने दस वर्ष हमे और दिए' लिखकर उन्होने एक प्रकार के हितैक्य ही का परिचय दिया है। अतः निषेध की अभिप्रेरणा पर विचार करते समय इन सब बातो को दरगुज़र नही किया जा सकता।

6 3 4 दूसरे की रचना का निषेध यदि अपने दृष्टिकोण की स्पष्ट स्थापना को अभिप्रेरित करता है तो दूसरे के व्यक्तित्व का निषेध प्रायः उस व्यक्तित्व की छाया-रूप अवतारणा मे भी प्रतिफलित हो सकता है। ऐसा करते समय रचनाकार उस व्यक्ति का प्रत्यक्ष निषेध नही करता, बल्कि उसे पात्र-रूप देकर दूसरे पात्रो के बीच इस तरह सयोजित करता है कि उसकी चरित्रगत विशेषताएँ पाठकीय सहानुभूति को खो देती है। उदाहरण के लिए उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यास 'गिरती दीवारें' का रामदास और 'बड़ी-बड़ी आँखें' का दारजी ऐसे ही व्यक्तियो की छायाएँ कही जाती हैं जिनसे व्यक्ति-अश्क को जीवन मे कटु अनुभव प्राप्त हुए थे। हो सकता है कि दूसरे लोगो के लिए वही व्यक्ति सुखद अनुभवो का कारण रहे हों। अत रचना मे आकर ऐसे व्यक्ति भी वस्तुतः काल्पनिक रूप धारण कर लेते हैं। तुर्गनेव के मित्रो और सस्मरण-लेखको का कहना है कि वह अत्यन्त विनम्र और शालीन थे; मगर उनकी किसी बात पर रुष्ट होकर दॉस्तॉएव्स्की ने उन्हें 'दि पज़ेस्ड' का स्फीत-अहकारी कैरेमज़िन नामक उपन्यासकार-पात्र बना दिया। इस प्रकार उन्होंने तुर्गनेव पर अपना गुबार निकाला। मुक्तिबोध के

1. वही, पृ० 149।

अनुसार—"गुबार दूर करते समय निश्चय ही दास्ताएव्स्की तुर्गनेव को दम्भ और अहंकार का पुतला समझता रहा, यानी, दूसरे शब्दों में; उसने दम्भ और अहंकार के एक प्रतीक का खूबसूरत चित्रण किया। यह चरित्र-चित्रण इतना मार्मिक और मनोवैज्ञानिक हुआ है कि दास्ताएव्स्की की तारीफ करते बनती है। लेकिन मजा यह है कि उसकी मनोवैज्ञानिकता और मार्मिकता काल्पनिक है'''। ठोस मालूम होने के कारण ही यह है कि दास्ताएव्स्की को चोट पहुँची है और यह लेखक की चित्रणात्मक विश्लेषण और विश्लेषणात्मक चित्रण की सहायता से काल्पनिक को मूर्तिमन्त कर सकी।"[1] लेकिन मुक्तिबोध यह भी स्वीकार करते हैं कि केरेमजिन जिस प्रकार की बौद्धिक खिलवाड़ करता है वह सामान्यतः दम्भियों में पायी ही नहीं जाती, कि दास्ताएव्स्की ने राई का पहाड़ किया है क्योंकि उन्हीं की तरह उनके पात्र भी एब्नार्मल होते हैं। "असल यह है कि हर लेखक अपनी संवेदना का आदर्शीकरण करता है। आदर्शीकरण करते समय यह जरूरी नहीं है कि उसने संवेदित वस्तुस्थिति या व्यक्ति के सभी पहलुओं पर और उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित अपनी स्थिति पर ध्यान दिया हो।"[2] हिन्दी में रांगेय राघव ने इस प्रकार का लेखन काफी किया है। निषेधात्मक प्रतिक्रिया में निस्संग आत्मान्वीक्षण और वस्तुनिष्ठ निरीक्षण का बहुत कम अवकाश होता है। यही इसकी सबसे बड़ी सीमा है।

6.4. तादात्म्य या समानुभूति

रचनात्मक अभिप्रेरण का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत है तादात्म्य का अनुभव। इसमें प्रत्यक्षित विषय या घटना या विचार आदि के साथ समानुभूति रचनाकार को रचनाकर्म के लिए अभिप्रेरित करती है। यह अभिप्रेरण अन्योन्यक्रियात्मक होता है, विषय रचनाकार के मन पर सौन्दर्यात्मक वैशिष्ट्य की छाप अंकित करता है और रचनाकार अनुक्रियात्मक ढंग से विषय को नये-नये अर्थों की समृद्धि देकर अनेक प्रकार से अपने तादात्म्य-सुख को अभिव्यक्त करना चाहता है। युगीन साहित्यिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों के अनुसार इस तादात्म्य के आधार एवं स्वरूप में परिवर्तन आता रहता है। उदाहरण के लिए अधिकांश प्रकृति-काव्य इसी अभिप्रेरण की उपज रहा है लेकिन आज के युग में प्रकृति-चित्रण बहुत कम किया जाता है, जो किया भी जाता है उसका स्वरूप नितान्त समकालीन होता है। इसी प्रकार प्रेम में विरह-मिलन के स्थान पर अस्मिताओं के साथ और दाम्पत्य में समर्पण के स्थान पर नयी समस्याओं के साथ तादात्म्य की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। मतलब यह कि आज तादात्म्य का स्रोत राग-प्रधान न रहकर ठोस यथार्थ की पहचान में बदल गया है। यही कारण है कि आज का साहित्य भावनाओं की अपेक्षा विचारों को अधिक उत्तेजित करता है।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली (पूर्वोद्धृत) भाग-4, पृ० 37।
2. वही, पृ० 36।

6.4.1. साहित्यिक आन्दोलन

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एकाधिक रचनाकार, किन्ही मुद्दो को लेकर एक ही प्रकार के तादात्म्य का अनुभव करने लगते हैं। तब अपने-आप किसी साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात हो जाता है। लेकिन ऐसा प्रायः तभी होता है जब रचनात्मक सौन्दर्य-चेतना मे कर्तव्य-भाव उग्र हो उठता है। हिन्दी मे राष्ट्रीय-सास्कृतिक, प्रगतिवादी और जनवादी आन्दोलन इसी अभिप्रेरणा के उदाहरण हैं। व्यक्तिवादियो, क्षणवादियों और विशुद्ध सौन्दर्यवादियो का कहना है कि रचनाकार की स्वतःस्फूर्त मनस्तरगो की अवहेलना करने वाले इस आन्दोलनात्मक साहित्य की अभिप्रेरणा आरोपित एव यात्रिक है, जबकि उनके प्रतिपक्षियों की मान्यता है कि दायित्वहीन मनस्तरगो से शाब्दिक ऐयाशी ही की जा सकती है। बहस पुरानी, मगर अभी तक गर्म है। साहित्य के इतिहास और बदलते हुए तेवर को ध्यान मे रखकर विचार करें तो पता चलता है कि मानवीय सरोकारो तथा कार्यभारो से चालित तादात्म्य-स्रोत से अपनी अभिप्रेरणाएँ ज्यादा ताकत और उम्र वाली रचनाएँ देती है। "इसलिए यह तर्क बिल्कुल निस्सार है कि समाज से हमे कोई मतलब नही।···लिखना इन दिनो एक सामाजिक कर्त्तव्य हो गया है। सामाजिक कर्त्तव्यो से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।"[1]

6 4 2 विचारधारा-प्रसंग

यही पर विचारधारा-विशेष से अनुप्राणित, वादबद्ध और सगठनात्मक अभिप्रेरण की भूमिका का सवाल विचारणीय हो जाता है। जिस प्रकार आर्थिक व्यवस्था और राजनीति को अब साहित्य-बाह्य शक्तियाँ नही माना जाता, उसी प्रकार वादबद्ध अथवा संगठनात्मक लेखन को लेखक की आज़ादी के साथ टकराने वाली प्रवृत्ति कहकर सुतर्क नहीं दिया जा सकता। हिन्दी के औसत समीक्षक की यह ट्रैजेडी है कि वह राजनैतिक परतन्त्रता की सामूहिक खिलाफत का तो 'देशप्रेम' के नाम पर समर्थन करता है मगर देश की आज़ादी के उपरान्त आर्थिक परतन्त्रता के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई में लेखक की रचनात्मक हिस्सेदारी को 'पार्टी-साहित्य' मात्र समझकर उसी सामूहिक खिलाफत का अवमूल्यन करता है। लेखक को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राण-वायु की तरह चाहिए, लेकिन स्वतन्त्रता, सामूहिक मुक्ति के साथ तादात्म्य के बिना, वैसी ही वैयक्तिक और निरर्थक होती है जैसे किसी भारतीय पत्नी का पति-परिवार से कट कर नितान्त स्वतन्त्र होने की घोषणा करना। "लेखक के लिए स्वतन्त्रता की खोज समाज से कटने मे नही है, समाज से और गहरे जुड़ने मे है। जितना अधिक वह जुडता है उतना ही अधिक वह स्वतन्त्र भी महसूस करता है। गहरे लगाव के बिना लेखक की स्वतन्त्रता की कल्पना नही की जा सकती।···हर प्रकार की सत्ता को काला और हर लेखक को दूध का धुला

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विचार और वितर्क (पूर्वोद्धृत), पृ० 287।

मानना भी उतना ही गलत है जितना हर सत्ता को माई-बाप और हर लेखक को चापलूस।"[1] चूँकि साहित्य का जन्म मनुष्य के भीतर रह कर, मनुष्य द्वारा मनुष्य ही के लिए होता है, इसलिए हर विचारधारा, मतवाद या संगठन जो मनुष्य की बेहतरी को लक्ष्य बनाता है अथवा वस्तु-स्थिति से पर्दा उठाता है, साहित्यकार के तादात्म्य का *विषय बन सकता है। इसका मतलब यह नहीं है कि साहित्यकार बाह्य दबावों के अधीनस्थ* हो जाता है। तादात्म्य मूलतः रागात्मक संगति का नाम है और इसमें केन्द्रीय महत्त्व रचनाकार के व्यक्तित्व ही का होता है। इसका स्वरूप बहुत कुछ उन रागों में निर्मित होता है जिनकी रचनाकार में प्रधानता रहती है। वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तियों और विचारों आदि के सम्पर्क में आकर वे राग उद्दीप्त भी होते हैं और उन्नत भी। इसलिए अभिप्रेरित होकर अन्यों को अभिप्रेरित करने में उनकी प्राथमिक भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता।

लेकिन कई रचनाकार बाह्य हलचल के लिए अपने राग-द्वारों को बहुत खुला नहीं रखते; रखते भी हैं तो उसके प्रवेश को खास महत्व न देकर, अपने भीतरी सम्कारों ही को रचनात्मकता का उपजीव्य बनाते हैं। वे या तो वैयक्तिक प्रकार की विशुद्ध रागप्रधान गीतियाँ लिखते हैं—करुणा की, विरह-मिलन की, क्षण-भंगुरता की, आत्म-विषाद की, आदि-आदि—या फिर दार्शनिक की मुद्रा में रहस्यवादी रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। वैसे तो हर रचनाकार के विषय में कहा जाता है कि वह रचना में कहीं-न-कहीं पलायन करता है; मगर उपर्युक्त प्रकार का पलायन सिर्फ एक विशिष्ट कविता-कोटि ही में देखने को मिलता है। यदि इसके लिए *कहीं अन्य स्थान* होता तो रहस्यवादी उपन्यास या नाटक भी प्रकाश में अवश्य आते। कारण यह है कि अतीव अमूर्त अभि-प्रेरणाएँ यथार्थवादी विधाओं की पकड़ से बाहर हो जाती हैं।

6.5 कला क्षेत्रीय प्रभाव

रचनात्मक अभिप्रेरण के स्रोतों पर विचार करते समय रचनाकार पर पड़ने वाले कलाक्षेत्रीय प्रभावों की अनेकरूपता भी विचारणीय है। "कलाकृतियाँ शून्य में नहीं रची जातीं। प्रत्येक कृति एक ऐसे वृत्त से घिरी रहती है जिसे हम कला-क्षेत्र कह सकते हैं, और इस क्षेत्र में क्रेता, विक्रेता, आलोचक, कलात्मक परम्पराएँ, साहित्यिक आन्दोलन, समकालीन दार्शनिक विचार, राजनैतिक-सामाजिक संरचनाएँ और बहुत सी दूसरी चीजें समाहित रहती हैं। ये तमाम कारक किसी कृति के आविर्भाव को प्रभावित कर सकते हैं। कला के इतिहास और साहित्याध्ययन सम्बन्धी *प्रभूतमात्रिक शोध* के विरोध में कई बार यह शिकायत की जाती है कि जब विद्वत्वर्ग प्रभाव की समस्याओं का विवेचन करता है तब वह इस क्षेत्र के बहुत छोटे-से अंश ही को विचार का विषय

---

1. भीष्म साहनी, लेखक की स्वतन्त्रता का सवाल, लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, सम्पा० महीपसिंह, पृ० *41, 43*।

बनाता है। निस्सन्देह यह शिकायत आमतौर पर सच होती है।"[1] इनमे से कुछ प्रभावों का उल्लेख प्रसंगवश किया जा चुका है। शेष प्रभावो पर एक विहगम दृष्टिपात अपेक्षित है।

6 5 1 अनेक साहित्यकारों की रचनात्मक अभिप्रेरणा को दूसरे रचनाकारो के सम्पर्क में आकर या उनकी किसी रचना से प्रभावित होकर भी अनुसरणात्मक बल मिलता रहा है। यह प्रभाव प्राय: उन प्रबन्धकाव्यो या कथात्मक रचनाओ मे सर्वाधिक मिलता है जो किसी प्रख्यात ऐतिहासिक-पौराणिक कथानकों पर आधारित होती है। तुलसी वाल्मीकि से और मैथिलीशरण गुप्त तुलसी के अतिरिक्त अपने समकालीन पत्रकार-लेखक महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रेरणात्मक प्रभाव ग्रहण करते रहे हैं। उर्वशी-कार दिनकर ने ऋग्वेद से लेकर कालिदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अरविन्द तक से अभिप्रेरणा प्राप्त की है। 'बोलते खण्डहर' की भूमिका में रागेयराघव ने लिखा है— "प्रस्तुत उपन्यास मैंने 1937 में लिखा था। इसका कथानक विदेशी उपन्यासो मे से प्रभावित है किन्तु इतने वर्षो के उपरान्त अब उसे स्पष्ट बताना मेरे लिए असम्भव है। मेरे साहित्य के विकास मे इस पुस्तक का अपना महत्व है।"[2] मोहन-जो-दडो की प्राचीन सभ्यता को 'मुर्दो का टीला' मे कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते समय रागेयराघव अग्रेजी उपन्यासकार लार्ड लिटन के 'दि लास्ट डेज़ ऑफ पॉम्पि आई' से बहुत दूर तक प्रभावित रहे हैं।

हिन्दी रगमच पर पिछले दिनो बहुत सफलता अर्जित करने वाली 'खामोश अदालत जारी है' नामक विजय तेंदुलकर की मराठी नाट्य-कृति की कथात्मक सरचना, सोवियत नाटककार चिंगीज़ ऐतमॉतॉव के नाटक 'एसेंट ऑफ फूजियामा' से हूबहू मिलती है। यह सुखद सयोग भी हो सकता है। क्योंकि भारतीय नाट्य-समीक्षकों या स्वय नाटककार ने अभी तक इस विषय मे कोई चर्चा नही की है, लेकिन 'खामोश अदालत जारी है' के पाठकों के लिए 'एसेंट आफ फूजियामा' के विषय मे ये पक्तियाँ विचारणीय हो सकती हैं— 'काल्ताइ मुखामेदजहॉनॉव के सहयोग से लिखित यह नाटक सोवियत प्रेस मे लम्बी चर्चा का विषय रहा है। (मनुष्य अपनी मनुष्यता को कैसे बनाए रख सकता है, यह इस नाटक का नैतिक मोटिफ है)। इस नाटक मे एक छोटी टोली किर्ग़ीज़िया के एक पहाड की चोटी पर यात्रा के लिए जाती है। जापान के एक पहाड की नकल पर, मज़ाक-मज़ाक मे, इस चोटी का नाम 'फूजियामा' रख दिया गया है, जहाँ लोग परमात्मा की मुखाकृति के सामने आत्म-पवित्रता के लिए आते हैं। यह टोली अप्रत्याशित रूप मे स्वय को एक प्रकार के मुकद्दमे मे भाग लेता हुआ पाती है: उन्होने ज़मीर की एक अदालत बनाली है जो उन कर्मों पर निर्णय सुनाती है जिनकी सुनवाई

1 गॉरन हेरमेरिन, इनफलुएस इन आर्ट एण्ड लिटरेचर (प्रिंसटन, यूनि० प्रेस, 1975), पृ० 3।

2. रागेय राघव, बोलते खण्डहर (इलाहाबाद, किताब महल, 1955) भूमिका

सामान्य अदालत में नहीं होती मगर जिनके विषय मे लोग जानते हैं कि गलत हैं। यह वैयक्तिक ईमानदारी से विचलन है जो स्वयं हमारे और दूसरे लोगों के जीवन पर बहुत बडा असर डालता है।"[1] क्या 'खामोश अदालत जारी है' में भी कथा और कथ्य का स्वरूप लगभग यही नहीं है ?

इसी प्रकार उपेन्द्रनाथ अश्क ने बताया है कि कैसे अज्ञेय ने एक मोटी फाइल उन्होंने दिखायी थी, "जिसमें उन्होंने अंग्रेजी मे छपी बहुत सी पुस्तकों के उद्धरण इकट्ठे कर रखे थे। उन्होंने बताया कि इस तमाम सामग्री का उपयोग वे अपना उपन्यास लिखने मे करेंगे। उन्ही से मैंने रोमा रोला और उसके उपन्यास 'ज्याँ क्रिस्ताफ' का नाम सुना था और जाना था कि अज्ञेय अपना उपन्यास उसी के पैटर्न पर लिख रहे थे। (बाद मे मैंने जाना कि अधिकांश उद्धरण उन्होंने इसी पुस्तक से इकट्ठे कर रखे थे।)···तब मुझे यही लगा था कि यह तो सरीहन दूसरों के खजानों ने मोती चुराना है और मैंने तय किया था कि मैं ऐसा नही करूँगा।"[2] लेकिन बाद में अश्क स्वीकार करते है कि अज्ञेय से मुलाकात ने, और फिर 'ज्याँ क्रिस्ताफ' पढने से उन्हे भी उपन्यास का पैटर्न ढूँढने मे मदद मिली थी।

6.5 3 एक कला-क्षेत्र का प्रभाव भी दूसरे कला-क्षेत्र के रचना-कर्म को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए "ज्यों ही क्यूनिज्म का आविर्भाव हुआ त्यों ही उसका प्रभाव दूसरी कलाओ पर भी फैलने लगा।"[3] इसी प्रकार हिन्दी काव्य-क्षेत्र की राम-कथा और कृष्ण-कथा ने यदि चित्रकला को एक लम्बी परम्परा के रूप मे प्रभावित किया तो चित्रकला की बिम्बात्मकता भी अनेक कवियो के लिए अभिग्राह्य रही है। नाट्य, नृत्य और संगीत की परस्पर-पूरकता भी किसी से छिपी नहीं है। हिन्दी का बहुत सा मध्य-युगीन काव्य संगीतात्मक ही नही, रागो मे निबद्ध भी किया जाता रहा है। आधुनिक और समकालीन हिन्दी-कविता में भी अनेक संगीतात्मक प्रयोग हुए हैं। निराला की 'ताक कमसिन वारि' संगीतात्मक आवृत्तियों का अद्भुत उदाहरण है। रघुवीर सहाय ने—"यह मानते हुए कि आधुनिक कविता के संसार में नये संगीत का विशेष स्थान है और वह आधुनिक संवेदना का एक आवश्यक अंग है, अपनी कुछ कविताओं मे

---

1. नाइन गार्डन सोवियत प्लेज, सम्पा० विक्टर कॉमिसॉरज़ह्वेस्की (मास्को, प्रोग्रेस, पब्लि० 1977), पृ० 10।
2. उपेन्द्रनाथ अश्क, गिरती दीवारें · एक संस्मरणात्मक टिप्पणी, आधुनिक हिन्दी उपन्यास सम्पा० भीष्म साहनी आदि (पूर्वोद्धृत), पृ० 43-44
3. जॉन गोल्डिंग, क्यूनिज्म : ए हिस्टरी एण्ड एन अनालिसिस (लन्दन, फेनर एण्ड फेनर, 1959), पृ० 59।

संगीत की खोज की है।"[1] उनकी मैदान मे शीर्षक कविता स्वरलिपि के नये प्रयोग का परिणाम है।

6 5 4 रचनाकार अपने जमाने के प्रचलित साहित्य-कलात्मक मुहावरे अथवा रूप विधान मात्र से अभिभूत होकर भी कलम-कागज के मैदान मे उतरते रहे हैं। हिन्दी के पिछले सतसई-काव्य, शतक-काव्य और समस्या-पूर्ति काव्य के अतिरिक्त आज की लम्बी कविताएँ, गजलें, क्षणिकाएँ और एब्सर्ड प्रकार की रचनाएँ इसी अभिप्रेरणा का सकेत देती हैं। विभिन्न व्यावसायिक पत्रिकाओ के स्थायी स्तम्भो मे छपने वाला प्रचुर साहित्य भी प्राय: इसी कोटि का होता है।

6 5.5 पाठकीय रुचि, कवि-सम्मेलनी श्रोताओं की माग, रेडियो-टेलिविज़न-फिल्म-रगमच की अपेक्षाओ, सम्पादकीय आग्रहशीलता, प्रकाशन-व्यवसाय के दबावों, मसि-जीवन की अपरिहार्य शर्तों और पुरस्कार-प्राप्ति के आकर्षण आदि ने भी आधुनिक रचनात्मक अभिप्रेरणा को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। आज के बहु-धन्धी रचनाकार के मनोविज्ञान में ये सब इस प्रकार रच-पच गए हैं कि उसकी रचना प्रक्रिया पर विचार करते समय इन्हें बाह्य प्रभाव मात्र समझना या सरसरी अकलात्मक नजर से देखना न्याय-सगत नही है।

6 5.6 कला क्षेत्रीय प्रभावात्मक अभिप्रेरण की परिणतियों पर अगले अध्याय मे विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा क्योंकि रचनात्मक कृति की शर्तें उसी का विवेच्य विषय होंगी, लेकिन सिसृक्षण की दृष्टि से यहाँ दो बाते उल्लेखनीय हैं। कला और साहित्य में प्रभावाभिग्रहण की समस्या और तुलनात्मक अध्ययन का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन करने वाले विद्वान गॉरन हेरमेरिन[2] ने इन बातों पर विशेष बल दिया है। पहली बात यह है कि कोई भी रचनाकार किसी दूसरे रचनाकार या कलाक्षेत्रीय प्रवृत्ति से सामान्य रूप मे अथवा समग्रतः प्रभावित न होकर कथ्य, कथा, तकनीक, शैली, अभिव्यक्ति तथा प्रतीकात्मकता आदि मे से किसी एक बिन्दु पर विशिष्टतः अभिप्रेरित होता है—और वह भी इस शर्त के साथ कि उसमे प्रभावित होने की रचनात्मक गुणवत्ता अवश्य हो। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार के अभिप्रेरण मे प्रायः निम्नलिखित चार सम्भावनाओं के अन्तर को समझ लेना चाहिए—

(क) इकाई द्वारा इकाई का प्रभावित होना।

(ख) इकाई द्वारा समुदाय का प्रभावित होना।

---

1. रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरुद्ध (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1967), पृ० 7।

2. गॉरन हेरमेरिन, इनफ्लुएंस इन आर्ट एण्ड लिटरेचर (पूर्वोद्धृत), पृ० 11, 15।

(ग) समुदाय द्वारा इकाई का प्रभावित होना।
(घ) समुदाय द्वारा समुदाय का प्रभावित होना।

ये सम्भावनाएँ इतनी स्पष्ट हैं और उपर्युक्त उदाहरणो मे इनका समावेश इतना पर्याप्त है कि और दृष्टान्त प्रस्तुत करना पुनरावृत्ति मात्र होगा। यह भी याद रखना चाहिए कि रचनात्मक अभिप्रेरण के अन्य स्रोतों की भाँति ये प्रभाव प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और अप्रत्यक्ष भी; सकारात्मक भी और नकारात्मक भी; यहाँ तक कि कलात्मक भी और अकलात्मक भी।

अध्याय—छह

रचनात्मक अनुभव या अनुभूति

संवेदन या बिम्बग्रहण, प्रत्यक्षण या मानसिक भावन-अनुभावन और अभिप्रेरण या बहुस्रोतात्मक उद्दीपन से जो प्रभाव-वृत्त मानसिक घटनाओ का सर्वयोग बनकर अन्तश्चेतना मे समाकलित होता है उसे रचनात्मक अनुभव या अनुभूति कहते हैं। वैसे तो रचनात्मक अभिप्रेरण और उसकी पूर्वावस्थाओ मे भी हम सामान्य विचारो, संवेगो और अभिरुचियो के साथ क्षणिक अनुभूतियो की भूमिका का उल्लेख कर चुके हैं, मगर यहाँ अनुभूति से तात्पर्य अभिप्रेरणा-जात उस विशिष्ट, अपेक्षाकृत चिरोत्तेजक, भावना-प्रधान, मुख्यत आत्मनिष्ठ, सौन्दर्यबोधात्मक, मौलिक तथा रचनाधर्मी समग्रानुभव से है जिसे बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की अवस्था का अगला महत्वपूर्ण चरण कहा जा सकता है। यह एक प्रकार का अनुभूति-पुंज होता है—एक प्रमुख अनुभूति में कई अनुभूतियो का साकल्य, जो रचनाकार के रचनाकर्म और आशंसक के आशसन का मूल उपजीव्य बनता है। शब्दार्थमयी रचना इसकी कल्पनात्मक मगर विचार-सापेक्ष पुनस्सृष्टि होती है।

1. अनुभव या अनुभूति का स्वरूप

साहित्य मे 'अनुभूति' एक बहुव्यवहृत शब्द है। भिन्न सन्दर्भो मे भिन्न विशेषणो और उपसर्गों के साथ जुड़कर इसके अर्थानुषग बदलते रहते हैं, किन्तु मूलतः है यह अनु+भूति ही—अर्थात् 'होने' की अनुरूपता अथवा किसी अस्तित्वमान् या मूर्त्त की अमूर्त्त मानसिक अभिग्राह्यता जो पूरी तरह विचार की पकड़ मे नही आती; इसलिए एकाधिक भाषायी उपकरणो द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से गुजर कर इसे फिर से मूर्त्त और नूतन स्वरूप प्रदान किया जाता है। यह मान्यता भारतीय दर्शन मे उपलब्ध अनुभूति के इस स्वरूप-विवेचन के भी निकट पड़ती है कि "पदार्थ के सन्निकर्ष से, इन्द्रियो के माध्यम से, मन मे जो एक बिम्ब या आकार उत्पन्न हो जाता है वह 'भूति' या 'भव' है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा मे जो अनुवर्ती चेतना जाग्रत होती है वही 'अनुभूति' या 'अनुभव'

है।"[1] साहित्य-रचना की प्रक्रिया में तीव्र अभिप्रेरणा-जाल अनुभव होने के कारण इसका एक छोर चेतन-स्तरीय होता है और दूसरा अचेतन-स्तरीय। अतः इस संवेदनात्मक तथा सवेद्य ज्ञानानुभव के आविर्भाव मे दीप्ति, स्फुरण या कौंध—अर्थात् उन अभिघटकों का भी महत्त्व होता है जो प्रत्यक्ष कार्य-कारण की अपेक्षाओं से परे, तात्कालिक और स्वयं-चालित कहे जा सकते हैं। यही कारण है कि क्रोचे, बर्गसाँ और ज्याक मारितें जैसे स्वयप्रकाश्यज्ञानवादी, आत्माभिव्यजनावादी या अध्यात्मवादी विशुद्ध तथा सहज रचनात्मक अनुभूति—अर्थात् विचार और तर्क के प्रदूषणों से बचे हुए उसके खालिस रूप ही को तमाम कलाओं का सारसर्वस्व अथवा साधन एव साध्य दोनो समझ बैठते हैं। यह समझ एकांगी है, लेकिन रचनात्मक अनुभूति को महत्त्वान्वित अवश्य करती है।

11. अनुभूति 'विशुद्ध' नहीं होती

खालिस अनुभूति नाम की कोई चीज़ नही होती; होती भी है तो उसे एक प्रकार का विक्षेप ही कहा जा सकता है; विक्षेप न भी हो तो रचनाप्रक्रिया मे पडे रचनाकार—विशेषत आज के रचनाकार के सन्दर्भ मे उसकी विशुद्धता की मान्यता गलत ठहरती है क्योंकि ऐसा मान लेने पर उसकी शिक्षा-दीक्षा और अर्जित बौद्धिक गुणों की भूमिका के साथ वस्तु या पदार्थ को अस्वीकार करना पड़ेगा। अतः अनुभूति की भाव-प्रधानता मे भी बौद्धिकता का सूत्र अवश्य संग्रथित रहता है।

वास्तव मे अनुभूति का काम ऐसी सामग्री प्रदान करना है जिसे विधायक कल्पना छान-चुनकर नई सार्थकता के साथ प्रस्तुत करती है। अनुभूति के साथ-साथ कल्पना का उदित होना ही सिद्ध करता है कि वह तत्काल-सीमित नही, अतीत और भविष्य मे भी प्रसार करती है; और यह प्रसार रचनाकार के व्यक्तित्वार्जन का परिणाम होता है जिसमे उसकी भाव-बुद्धि-समन्वित अन्तश्चेतना और भाषिक उत्पादन की सामर्थ्य भी शामिल रहती है। उदाहरण के लिए लम्बी साहित्यिक विधाओं मे तो अनुभूति की विशुद्धता के लिए वैसे ही कोई गुंजाइश नही रहती क्योंकि उनमे रचनाकार का मूल अनुभव कई पड़ावों पर दूसरे अनुभवों के साथ टकराता और विकसित-परिवर्तित होता रहता है; लेकिन पुराने ढग के छोटे गीतो या नवगीतो में जिस एक ही अनुभूति या अनुभव को प्रमुखता रहती है—और जिसके आधार पर उसकी विशुद्धता को रेखांकित किया जाता है—वहाँ भी अनुभूति परोक्षत' कई विचार-साहचर्यों के सम्बल से ही आगे बढती है, हालांकि ये कल्पनात्मक साहचर्य गीत की प्रथम पंक्ति मे सन्निहित अनुभव ही को भिन्न-भिन्न बिम्बो मे पुनरावृत्त या उद्घाटित करते है, फिर भी उनमे बुद्धि का वह योग तो रहता ही है जो वस्तुओ या अनुभवों को अनेक सादृश्यों से पकड़ता है। इसके बिना एक-बिम्बात्मक मूल अनुभूति अनेक-बिम्बात्मक फैलाव को धारण नही कर सकती। बात को

1. नगेन्द्र, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका (पूर्वोद्धृत), पृ० 95।

और स्पष्ट करें तो नीरज के एक गीत की प्रथम पंक्ति है—

तुम्हारे बिना आरती का दिया यह
न बुझ पा रहा है न जल पा रहा है।

किसी अनुभव को तीव्रता से आत्मसात करने की वजह से यह पंक्ति तात्कालिक या विशुद्ध स्फुरण का परिणाम हो सकती है; माना जा सकता है कि किसी की जुदाई या कमी के शिद्दत-भरे एहसास से शब्दो का सोता अपने-आप फूट पड़ा होगा। लेकिन गीत के अगले जितने भी पद हैं उनमे विचारित भावुकता और भाषा-सामर्थ्य के आधार पर इस 'होकर भी न होने' के अनुभव को अनेक बिम्बो मे अभिव्यक्त किया गया है। जैसे—

कहाँ दीप है जो किसी उर्वशी की
किरण-उँगलियो को छुए बिना जला हो?
बिना प्यार पाए किसी मोहिनी का
कहाँ है पथिक जो निशा मे चला हो?

अचम्भा अरे कौन फिर जो तिमिर यह न गल पा रहा है न ढल पा रहा है?

× × ×

किसे ज्ञात था धूल के इस नगर मे
कहाँ मृत्यु वर-माल लेकर खड़ी है?
किसे था पता प्राण की लौ छिपाए
चिता मे छिपी कौन-सी फुलझड़ी है?

इसी से यहाँ राज़ हर ज़िन्दगी का, न छिप पा रहा है न खुल पा रहा है।

1.2. अनुभूति की सार्वत्रिकता

उपर्युक्त गीतांशो में देखा जा सकता है कि किस प्रकार इष्ट की अनुपस्थिति का अखरना पहले वाचक-रचनाकार की अपनी स्थिति के औचित्य, फिर अनिश्चय-बोध और तदोपरान्त जीवन-मरण के सामान्यीकृत दार्शनिक अन्दाज़ मे बदलता गया है। अगर हम अनुभूति को मात्र 'फीलिंग' का और अनुभव को 'एक्सपीरिएन्स' का पर्याय मानकर चलें तो भी यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुभूति का बार-बार विविध सन्दर्भों मे दोहराया जाना ही रचनाकार के लिए रचनात्मक अनुभव बनता है। इसी क्रम मे वह कल्पना और विचार-तत्व की सहज सहायता से आत्म को अनात्म तक ले जाता है। अत: रचनाकार के अनुभव मे आत्म से अनात्म मे गमन करने की सम्भावना महत्वपूर्ण होती है। यह अनुभव प्राय: अलिखित स्तर पर शब्दो के माध्यम से सम्पन्न होता है और शब्दबद्धता मे ढलना चाहता है। बाद मे, शब्दो में ढलते समय, यह शब्दो द्वारा स्वय समृद्ध होता

है और शब्दों को भी समृद्ध करता है। इस प्रकार सिसृक्षण में जितनी भी उर्वरकता रहती है वह शब्दापेक्षी अनुभव के उपादान से आती है। कल्पना, स्मृति, बौद्धिकता, सकेन्द्रण आदि रचनातन्त्र के सभी अभिघटक इस अनुभव के उपस्कारक बनकर इसे घनत्व, अखण्डता, सर्वग्राह्यता और वांछनीयता प्रदान करते हैं।

1.3. अनुभूति के आयाम

अनुभूति या अनुभव का एक रूप वह होता जो अपने आवेग-मात्रात्मक प्राचुर्य में बहता है और बहाकर ले जाता है; दूसरा वह है जो अपने गुणात्मक गाम्भीर्य में तटवर्ती रहकर विचारण के लिए बाध्य करता है, एक तीसरा रूप भी है जो इन दोनों के सलयन का परिणाम होता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अलग-अलग चरणों या इन तीनों में से किसी-न-किसी की प्रधानता रही है। हालांकि पहला रूप—जिसकी प्रव्यक्ति उपर्युक्त गीत में हुई है, और जो रीतिकाल के बाद अधिकारवादी या स्वच्छन्दतावादी साहित्य में आवृत्त हुआ है—अब साहित्य-मच से लुप्तप्राय है, तथा शेष दोनों अपेक्षाकृत सजटिल एवं असपाट होने के कारण आज भी अनुकरणीय बने हुए हैं; फिर भी कौन कह सकता है कि आने वाले समय में कौन-सा रूप पुनरावृत्त नहीं होगा ? अत. इन तीनों में कौन-सा रूप उपादेय है और कौन-सा अनुपादेय, यह सवाल रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि रचना-मूल्यांकन के प्रतिमानों की दृष्टि से। कहा जा सकता है कि जो अन्तर महादेवी वर्मा, भुवनेश्वर और मुक्तिबोध में है वही अनुभव के इन तीनों रूपों की मोटी विभाजक रेखा है।

1 4 अनुभूति की सापेक्षता

रचनात्मक अनुभूति आयु-सापेक्ष भी होती है और परिवर्तित युग-चेतना के अनुरूप भी ढलती है। किसी एक ही रचनाकार की रचनाओं को कालक्रमानुसार तुलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। 'सेवासदन' के रचनात्मक अनुभव में इसीलिए वह बात नहीं है जो 'गोदान' को अधिक ठोस बनाती है। 'तारसप्तक' के मुक्तिबोध और 'अँधेरे में' के मुक्तिबोध में भी यही अन्तर है। 'शेखर—एक जीवनी' का तीसरा भाग यदि अब प्रकाशित नहीं किया जा रहा है तो हो सकता है कि आज के अज्ञेय को अपना उस समय का अनुभव किसी दूसरे अज्ञेय का अनुभव लग रहा हो। यही नहीं, कोई एक रचना जब लम्बी खिच जाती है तब समाप्ति के उपरान्त उसे सशोधित करने के पीछे भी यही कारण हो सकता है। काफ्का के बारे में तो यहाँ तक कहा जाता है कि अपनी हर रचना की समाप्ति पर अनुभव का अधूरापन उन्हें इतना अखरता था कि वह रचना को छपवाना ही नहीं चाहते थे। अत. रचनात्मक अनुभव को कभी 'ठहरा हुआ' अनुभव समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। कई रचनाकार इसकी सत्यात्मकता से इतने आतंकित रहते हैं कि एक बार जो उनसे शब्दबद्ध हो

जाता है उसे पलट कर देखने की हिम्मत नहीं करते; छपने के बाद ही उसकी तरफ झांकते हैं।"

2. अनुभूति और प्रामाणिकता

रचनात्मक अनुभूति या अनुभव, विशेषरूप से काव्यानुभूति को लेकर, 'ईमानदारी' और 'प्रामाणिकता' की बात भी उठाई जाती रही है। इस प्रश्न के दो प्रमुख पहलू हैं—रचनाकारों ने कहा कि अनुभूति भावुकता का प्रदर्शन नहीं, आत्मान्वेषण है, आत्मान्वेषण ही ईमानदारी है; और आलोचकों ने कहा कि अनुभव के प्रक्रियात्मक द्वन्द्व को आरोपित समाहिति या परिणति का रूप दे डालना सबसे बड़ी अप्रामाणिकता है। नामवर सिंह ने (जो एक जमाने के रचनाकार भी हैं) 'कविता के नये प्रतिमान' में लिखा—"मैं कहना चाहूँगा कि आलोचना के क्षेत्र मे यह नयी माँग थी और सीधे उसी काव्य से उपजी थी जो एक ओर छायावाद की भावुक प्रतिक्रियाओं का प्रत्याख्यान करता है और दूसरी ओर प्रगतिवाद की नारा-कविताओं का विरोध करके कवि के अपने आन्तरिक अनुभव की माँग करता है। कवि की ओर से 'आत्मान्वेषण' की घोषणा और आलोचक की ओर से 'प्रामाणिक अनुभूति' की माँग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह माँग उस खरेपन की माँग है जो कवि के ईमानदार व्यक्तित्व (ऐसा व्यक्तित्व जो न छायावादी की तरह स्फीत किया गया हो और न प्रगतिवादी की तरह अनुकूलित) के जटिलतम स्तरों का अनुभव होता है।"[1] उनके अनुसार—"द्वन्द्व यदि काव्य की अनुभूति में है तो जबरदस्ती समाहिति में बदल देना कवि-कर्म की ईमानदारी या सच्चाई नहीं बल्कि बेईमानी है। जबरदस्ती समाहिति के सम्पादन से अभिव्यक्ति कितनी 'सफल' होती है, इसका उदाहरण पंत की 'नौका-विहार' है।[2]

नामवर सिंह के ये कथन नयी विचार-प्रधान कविता के पक्ष में और 'सस्ते रोमानी गीत' या उस नगेन्द्रीय 'भावाभिव्यक्तिवादी' आलोचना के विपक्ष में कहे गए हैं जो "अनुभूति के दायरे से 'बौद्धिकता' अथवा 'ज्ञानात्मक अवयव' को बाहर रख कर कविता का विश्लेषण करना चाहती है।"[3] इनके पीछे यह सही मान्यता भी है कि प्रक्रिया तथा परिणति में, या अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अनावश्यक साधन-साध्य-सम्बन्ध आरोपित करने की बजाए उनके सायुज्य अथवा अखण्ड हीरक-रूप को उद्घाटित करना चाहिए। यह भी पता चलता है कि नामवर सिंह के अनुसार कवि-सम्मेलनी रस-सेवन या समाहिति की कविताओं में काव्योचित ईमानदारी नहीं होती क्योंकि सार्थक रचना-कर्म के मूल में सामंजस्य नहीं द्वन्द्व और तनाव की शिद्दत रहती है—"मुक्तिबोध

1. नामवर सिंह, कविता के नये प्रतिमान (पूर्वोद्धृत), पृ० 197।
2. वही, पृ० 191।
3. वही, पृ० 184।

की कविताएँ निश्चय ही चित्त की इस समाहिति के लिए घातक हैं क्योंकि उनमें आज के परिवेश की जो दहशत-भरी तस्वीर उभरती है उससे स्नायु-तन्तुओं के टूटने या रक्त-चाप बढ़ने का खतरा पैदा हो सकता है।"[1]

2.1 ये सब बातें आलोचनात्मक नव-मूल्यांकन के संदर्भ में सही हो सकती हैं लेकिन इनसे रचना-प्रक्रियात्मक वस्तु-स्थिति में अनुभूति की प्रामाणिकता या ईमानदारी की समस्या हल नहीं होती। अगर भावाभिव्यक्तिवादी समीक्षक अनुभूति में 'ज्ञानात्मक अवयव' का अवमूल्यन करते हैं तो नामवर सिंह भी 'भावात्मक अवयव' के बहिष्कार ही को ईमानदारी समझने की सीमा को पार नहीं कर पाते। रही रचनात्मक द्वन्द्व या तनाव और समाहिति को विरोध में खड़ा करने की बात। यह विरोध भी आरोपित दृष्टि का परिणाम है क्योंकि आज का रचनाकार जहाँ गहरे *तनाव-केन्द्रित अनुभव* का परिचय देता है वहाँ रचना-कर्म को तनाव-विमुक्ति की प्रक्रिया भी मानता है, जो कि एक प्रकार की समाहिति ही का नया स्वीकार है—भले ही यह हद से बढ़े हुए दर्द को दवा मान लेने की समाहिति है। सवाल पाठक की नसें टूटने के खतरे का उतना नहीं है जितना कि लेखकीय उत्तेजना के अपने शमन का है। हेमिंग्वे की रचनाएँ पढ़कर या वॉन्गॉग के चित्र देखकर शायद ही किसी ने दम तोड़ा होगा; लेकिन अनुभव को समाहित न कर सकने के कारण इन दोनों ने आत्महत्या अवश्य कर ली थी। अत: मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी रचनाकार समाहिति के बिना रह नहीं सकता, रचना को परिसमाप्ति तक पहुँचा ही नहीं सकता, हाँ, उस समाहिति का स्तर अपना-अपना होता है। वास्तव में नामवर सिंह *समाहिति-विरोध के नाम पर एक तरह की समाहिति को दूसरी तरह की समाहिति* पर तरजीह दे रहे हैं। वैसे भी परिग्राहक-पक्ष से बात को अधिक उठाने के कारण वह समाहिति को उस रचनात्मक सश्लेषण के रूप में नहीं देख पा रहे हैं जो कि रचना-प्रक्रिया का प्रथम प्राप्तव्य होता है और जिसकी प्रच्छन्न कामना रचनात्मक अनुभूति में निरन्तर बनी रहती है। दूसरे रचनाकारों में तो विसंगतिबोध के विश्लेषणात्मक धरातल पर वह कामना अलक्षित रह सकती है, मगर समस्या को समाधान या सिद्धान्त को कर्म तक ले जाने की व्याकुलता उनके प्रिय कवि मुक्तिबोध से ज्यादा किस रचनाकार में है?

2.2 इसलिए 'प्रामाणिकता' और 'ईमानदारी' रचनाकार-सापेक्ष शब्द हैं। कोई भी रचनाकार इनके लिए आलोचना से आदिष्ट होना नहीं चाहेगा। अनुभूति के संदर्भ में इनका सर्वसामान्य अर्थ एवं महत्व इतना ही है कि ये आत्मा या ज़मीर द्वारा समर्थित अनुभव की सार्थकता को रेखांकित करते हैं—कि अगर अनुभव के पीछे चरित्रबल की *प्रामणिकता या ईमानदारी* नहीं है तो अनुभव में रचनात्मक सम्भावनाएँ नहीं हो सकती; कल्पना के इधर-उधर हाथ मारने और शब्दों द्वारा चौंका देने की सम्भावना हो सकती है। जाहिर है कि यह समर्थन की सामर्थ्य रचनाकार को कई रास्तों से प्राप्त होती है

---

1. वही, पृ० 191-92।

जिनमें उसकी विवेकशीलता, मूल्य-दृष्टि, समानुभूति, ऐतिहासिक तमीज़, सामाजिक जीवन में हिस्सेदारी और विचारधारा आदि प्रमुख हैं। रचनाकार रघुवीर सहाय के अनुसार आत्मानुभूति वास्तविकता को आत्मसात् करने की दशा है और इस आत्म-सात्करण में ईमानदारी का मतलब है—किसी बाह्य आदेश की बजाए आभ्यन्तर की आवाज़ को सुनना। "मेरे लिए ईमानदारी अनुभूति की है, धर्म या मत या कर्त्तव्य की नहीं—जो यही चीज़ है कि कोई भी रचना, चाहे वह किसी से व्यवहार करना हो, चाहे कहानी लिखना, मेरे द्वारा तभी हो सकती है जब मेरा मन गवाही दे। बौद्धिकता और आत्मानुभूति मे कोई विरोध नही देखता, बौद्धिकता अधिक-से-अधिक एक तैयारी है, एक इक्विपमेंट है, मानवीय जीवन के अभी तक के इतिहास को—जो अनुभवो की अनेक परम्पराओं का भण्डार है—समझने और आगे रचने का साज-सामान है। समवेदना, जो कि काव्य का उत्स है, उससे कैसे विलग्ट हो सकती है, यह नही समझता। जिससे अपनी रक्षा करनी है वह निर्ममता है और निर्ममता अन्ततः वास्तविकता को आत्मसात न कर पाने की दशा है।"[1]

3. अनुभूति और रस

सस्कृत काव्यशास्त्र के विवेचकों के अनुसार इस शास्त्र में काव्यानुभूति ही को 'रस' की *सज्ञा दी गई है; लेकिन काव्यशास्त्र का यह अद्भुत अनुभूति-विवेचन* इतना रसिकगत व्यापार के रूप मे लिया गया है कि रचना-प्रक्रिया में प्रवृत्त रचनाकार के पक्ष से इसके स्वरूप पर बहुत प्रकाश नही पड़ता। फिर भी रसास्वाद की अखण्डता के सन्दर्भ मे *आनन्दवर्धन ने माना है कि यही वह तत्त्व है जिसकी प्रतीति कवि से सहृदय तक* अखण्ड रूप मे होती है। अन्य आचार्यो ने इसकी आस्वादरूपता, सत्तोद्रेकक्षमता और निर्विघ्नता आदि जिन विशेषताओ का उल्लेख किया है उन्हे भी रचनाकार के साथ जोडा जा सकता है। ऊपर जिस विवाद को नामवर सिंह ने उठाया है उसका जवाब भी काव्यशास्त्रियों ने, रसानुभव को आनन्द-ज्ञान-स्वरूप कह कर, बहुत पहले दे दिया था। फिर भी अनुभूति की यह 'ब्रह्मानन्द सहोदरता', रचनात्मक द्वन्द्व को समेटने की बजाए, *काव्यानुभव को महिमामण्डित प्रभामण्डल से ही अधिक घेरती हैं।*

4 अनुभूति और सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव

वास्तव मे 'सौन्दर्यानुभव', 'रचनात्मक अनुभव' और 'कलात्मक अनुभव' जैसी अवधारणाओ पर जब विभिन्न-क्षेत्रीय पाश्चात्य चिन्तन के परिणामस्वरूप छानबीन प्रारम्भ हुई और परिग्राहक की अपेक्षा कलाकृति या कला की समग्रता को केन्द्र मे रखा गया तब बहुत से विचारको को प्रतीत हुआ कि अन्ततोगत्वा अनुभव या

---

1. रघुवीर सहाय, लिखने का कारण (दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज़, 1978), पृ॰ 37।

अनुभूति का सम्बन्ध सर्जक के सर्जन-व्यापार के साथ पहले जुड़ता है। "अकेला अनुभव (एक्सपीरिएंस) ही उस गर्भाशय को उर्वर बना सकता है जिसमें कलाकृति गर्भ धारण करती है। जिसे कलाकार की कल्पना या उसके रचनातन्त्र का वह हिस्सा कहा जाता है जिस पर कलाकृति की सृष्टि का दायित्व उतना नहीं होता जितना कि उसे आमने-सामने देखने का, केवल एक मशीन है जो जीवनानुभव को छाँटती है और उसके साथ निपटती है। कलाकार कुछ अनुभवों को अनुपयोगी समझ कर त्याग देता है और कुछ को विशेष रूप से मूल्यवान् समझ कर उनसे लाभान्वित होता है। अन्त में, जब वह स्वयं में देवता की शक्ति का दर्प पालकर अपने सप्रत्ययों को कलाकृतियों में बदलता है तब उसकी रचनाओं को अनुभव के अभिलेखों के रूप में पहचानना बहुत कठिन हो जाता है—वैसे ही जैसे कि चुने हुए मोतियों की माला को देख कर शुक्ता-तट की, या ब्राँडी की बोतल को देखकर अंगूरों के बाड़े की अस्पष्ट सी याद ही आ सकती है।"[1]

4.1 अतः एरिक न्यूटन के अनुसार रचनाकार का भीतरी रचनात्मक अनुभव, बाह्य या सामान्य अनुभवों की उपज होकर भी उनसे विशिष्ट होता है। मनोविज्ञान जिसे 'परिचित को अपरिचित' बनाना कहता है एरिक न्यूटन उसे सामान्य अनुभवों का आसवीकरण या तीव्रीकरण कहते हैं जिससे रचना के नये संसार का निर्माण होता है। चूँकि वह नया होता है इसलिए हम सब पाठकों-दर्शकों या परिग्राहकों का इसके साथ एक विशिष्ट रिश्ता स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए एक सामान्य वृक्ष और एक चित्रित वृक्ष के प्रति हमारी सम्बन्ध विभिन्नता का कारण यह है कि सामान्य वृक्ष उन्हीं शक्तियों द्वारा बनाया गया होता है जो कि हमें भी बनाती हैं, और इसलिए हम उस वृक्ष की आलोचना नहीं कर सकते, लेकिन चित्रित वृक्ष को किसी हम-जैसे ने, अपनी प्रक्रियागत वरीयताओं से निर्दिष्ट होकर बनाया होता है, इसलिए हम उसकी प्रशंसा या आलोचना करने का अधिकार रखते हैं। चित्रित वृक्ष चित्रकार के अपने विशिष्ट सौंदर्यानुभव का परिणाम है—वह अनुभव जिसके पीछे अनेक अभिप्रेरणाएँ होती हैं, और हमारा आशंसन हमारे अपने आशंसकीय अनुभवों से निर्मित उस सौंदर्य-क्षुधा का परिणाम होता है जिसके पीछे हमारे संस्कार या पिछले कलानुभव सक्रिय रहते हैं। सौन्दर्यक्षुधा रचनाकार के अनुभव में भी होती है; लेकिन एरिक न्यूटन के अनुसार, रचनाकार जिस बिन्दु पर अपनी क्षुधा को शान्त करता है यदि उसकी रचना को देखने-पढ़ने पर हमारी क्षुधा का शमन नहीं होता तो हमें उसका अनुभव असुन्दर लगता है। तब हम भूल जाते हैं कि हमारे लिए जो असुन्दर है अथवा औसत दर्जे का अनुभव है, आने वाले आशंसकों के लिए वही सुन्दर और अभूतपूर्व हो सकता है। "हमारे अनुभव में कुछ भी ऐसा नहीं है जिसने मानवीय कल्पना की वैसी प्रव्यक्ति के लिए हमें तैयार किया हो। उस प्रकार के हृदयात्मक भोजन के लिए हमारे भीतर भूख नहीं है, इसलिए हम उसे अस्वीकार कर देते हैं और अपने अस्वीकार को इस साधारण सी प्रक्रिया द्वारा संगत मान बैठते हैं

1. एरिक न्यूटन, दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी (लन्दन, पेंगुइन बुक्स, 1962), पृ० 70।

कि वह प्रव्यक्ति असुन्दर है।"[1] पुराने दिग्गज कलाकारों के साथ यह दिक्कत खड़ी नहीं होती थी क्योंकि उनके अनुभवों में वैसी जटिलता और अन्तर्विरोधात्मकता नहीं थी जैसी कि आज के यंत्र-युग ही मे सम्भव हो सकती है।

4.2 इससे स्पष्ट है कि अनुभव जितना अधिक कटा हुआ अथवा असामान्यतः अन्तर्मुखी होगा त्यों-त्यों उसमे संजटिलता एवं क्लिष्टता आ जायेगी और वह कुछ चुने हुए लोगों तक ही सम्प्रेषित हो सकेगा। अतः अनुभव की अतिसम्प्रेष्यता आज के रचनाकार के सदर्भ मे अनुभव की उत्कृष्टता की कसौटी नही रह गई है। वह जिस विसवादी माहौल मे जी रहा है सम्प्रेषणीयता की समस्या यदि उस माहौल की दृष्टि से विचारणीय है तो यह भी सोचना होगा कि यह असम्प्रेषणीयता ही आज का सम्प्रेष्य यथार्थ नही है ?

4.3 हम देख चुके हैं कि सौन्दर्यानुभव किस अर्थ में सामान्य जीवनानुभव से भिन्न होता है और किस व्यापक अर्थ मे अभिन्न। हालांकि इस सम्बन्ध मे अतिरेकवादी मत भी उपलब्ध होते हैं—क्रोचे, काण्ट, रोजर फ्राई और क्लाइव बैल आदि विद्वान अपने-अपने आग्रहो के कारण दोनों की भिन्नता पर बल देते हैं तो आई० ए० रिचर्ड्स, जान डयुई और बहुत से समाजवादी विचारक भी अपने-अपने उपागम से इस भिन्नता का खण्डन करते हैं, एरिक न्यूटन, बिम्सार और सूज़र लेंगर मध्यम मार्ग को अपनाते हैं—फिर भी निष्कर्षत: यही कहना पड़ता है कि कलात्मक निर्माण अगर जीवन के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से अभिगृहीत यथार्थ का पुनस्सृजन है तो सृजन और आस्वाद की दोनो दृष्टियों से कलात्मक अनुभव को जीवनानुभव ही का विस्तार मानना पड़ेगा। केसरी कुमार के शब्दो मे कहे तो 'काव्य-सत्य और जीवन-बोध के एक देह' हो जाने का नाम ही रचनात्मक 'अनुभूति की विभुता' है—"साहित्य की कथा समूचेपन की कथा है। उदाहरण के लिए 'स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है' मे काव्य-सत्य और जीवन-बोध के एकदेह हो जाने के कारण एक देहादेह-सेतु रच गया है और अनुभूति विभुता पा गयी है। इसी प्रकार, प्रेमचन्द के होरी को आदर्श बनने की आवश्यकता नहीं हुई। स्थिति और आचरण की आत्यन्तिकता उसकी समस्त दुर्बलताओं और गुनाहों के साथ उसकी कहानी को एक आध्यात्मिक झंकार की कहानी बना जाती है। दिलचस्प बात है कि न तो निराला अपने भक्तिपरक गीतों मे वह विभुता ला सके और न प्रेमचन्द अपनी आदर्शवादी कथाओं मे वह आध्यात्मिक गूँज या आहट भर सके।"[2]

4.4 इस सम्बन्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का स्पष्ट अभिमत है कि—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से पृथक कोई अन्तर्वृत्ति नही है, बल्कि उसी

---

1. वही, पृ० 73।
2. केसरी कुमार, साहित्य के नये धरातल : शंकाएँ और समाधान (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1980), पृ० 12।

का एक उदात्त और अवदात्त स्वरूप है।"[1] शुक्ल जी के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए निर्मला जैन ने लिखा है कि इसके पीछे एक तो कलावादी दृष्टिकोण का विरोध सक्रिय है और दूसरे, भारतीय काव्यशास्त्र की अपेक्षा "उनकी यह मान्यता रिचर्ड्स के कितनी निकट है, यह प्रमाणित करना व्यर्थ है।"[2] उनके अनुसार भारतीय काव्यशास्त्रीय मनीषा *अनुभूति को लोक-भिन्न मानकर उसकी विलक्षणता को रेखांकित करती है जबकि शुक्ल* जी रिचर्ड्स की तरह दोनों की आधारभूत समानता पर बल देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि निर्मला जैन को भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र की प्रभूत जानकारी है और उनके विवेचन मे स्पष्टता का दुर्लभ गुण भी है, मगर उनके विशालकाय तुलनात्मक शोध-ग्रंथ मे लगभग प्रत्येक निष्कर्ष भारतीय दृष्टिकोण की पूर्वचिन्तित वरीयता के आग्रह से भी अभिप्रेरित है। इसलिए वह स्थान-स्थान पर, रचनाकारों के अनुभवों पर केन्द्रित पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की स्थापनाओ का उल्लेख तो करती हैं, *लेकिन उन्हें अपर्याप्त मानकर उनका विशेष उपयोग नही करतीं।* वह इस 'सुखद संयोग' की तलाश मे अधिक रहती हैं कि पाश्चात्य विचारकों ने कहाँ-कहाँ ऐसी मताभिव्यक्तियाँ की हैं जो कि भारतीय चिन्तन में सदियों से विद्यमान रही हैं। अत उपर्युक्त संदर्भ मे आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण निश्चित रूप से अधिक संगत, समावेशी और सन्तुलित है।

5. अनुभूति और अध्यात्म

रचनात्मक अनुभूति की जीवनानुभूति से भिन्नता अथवा उदात्तता, दोनो मान्यताओं का एक परिणाम यह हुआ कि उसे कभी-कभी आध्यात्मिक रंग भी दिया जाता रहा है। कि रचना करना एक दिव्य अनुभव है जिसके लिए पराशक्तियो की अनुकम्पा चाहिए—*यह आस्तिक आस्था रूप बदल-बदल कर, भारतीय और अभारतीय* लेखकों में शुरू से लेकर आज तक किसी-न-किसी स्तर पर, और मात्रा मे विद्यमान है। जो रचनाकार धर्म और दर्शन से अभिप्रेरणा ग्रहण करते हैं अथवा जिनकी रचना-यात्रा भीतर से बाहर की ओर चलती है, वे अनुभव की आध्यात्मिकता का उल्लेख अधिक करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रीय मनीषा ने तो रसानुभूति के विवेचन मे खुलकर आध्यात्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है। हालांकि इससे पूरी तरह यह सिद्ध नही होता कि रचनात्मक अनुभूति आध्यात्मिक अनुभूति है, फिर भी इन दोनों के विलक्षणता-सूचक सादृश्य की ओर ध्यान अवश्य जाता है। रस-सिद्धान्त को *आज भी प्रासंगिक सिद्ध करने वालों ने काव्यानुभूति की ब्रह्मानन्द सहोदरता को प्रतीकात्मक शब्द-प्रयोग* मात्र मानकर यह स्पष्ट करना चाहा है कि अनुभूति की अनिर्वचनीयता को रेखांकित

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि (पूर्वोद्धृत), पृ० 253।
2. निर्मला जैन, रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र (पूर्वोद्धृत), पृ० 101

करने का यह एक तत्कालीन तरीका था, मगर यह मत पूरी तरह स्वीकार्य नही हो सकता क्योकि अधिकांश सस्कृत-काव्यशास्त्रियो की स्थापनाएँ धर्म-दर्शन की स्पष्ट चेतना से अनुप्राणित हैं। उदाहरण के लिए अभिनव गुप्त की स्थापनाओं को हम प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की अध्यात्मवादी पृष्ठभूमि से काटकर नही देख सकते। "सच तो यह है कि दार्शनिक चिन्तन को उपजीव्य बनाए बिना न तो यहाँ की काव्य-सर्जना का पक्ष ही स्पष्ट किया जा सकता है और न काव्यास्वाद की प्रक्रिया को ही बोधगम्य करना सम्भव है। यहाँ के वाड्मय-विमर्श मे न्याय, मीमासा, योग, शैव, बौद्ध तथा जैन दर्शन की मान्यताओ का पद-पद पर प्रभाव प्रदर्शित हुआ है।···भारतीय दार्शनिक चिन्तन और काव्य साधना के अध्यात्म परक सम्बन्ध को भले ही समय-बाह्य कहकर उपेक्षित करने की चेष्टा की जाए, किन्तु यहाँ के काव्यदेवता के चेतनाश में दर्शन का जो प्रकाश-पुज आलोकित है वह सदैव शाश्वत और अमर रहेगा।"[1] भारतीय काव्यशास्त्र के आधार पर 'काव्यसर्जना और काव्यास्वाद' विषय पर विचार करने वाले विद्वान वेंकट शर्मा का यह कथन अपने उत्तराश मे विवादास्पद है, लेकिन इसे उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्रीय काव्य-सर्जना के विवेचन मे काव्यानुभूति की अध्यात्मपरकता को 'पद-पद पर प्रदर्शित' किया गया है।

5.1 काव्यानुभूति या रचनात्मक अनुभव के सन्दर्भ मे पाश्चात्य विवेचन भी ईसाई धर्म से कम प्रभावित नही रहा है। धर्म के अतिरिक्त विभिन्न दार्शनिकों की छाप भी उस पर पडी है। कालान्तर से इस दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया भी वहाँ हुई। अत. पश्चिम मे अनुभूति की आध्यात्मिकता के स्वीकार और नकार दोनो के स्वर बहुत तीव्र है। टी० एस० इलियट जैसे आधुनिकतावादी रचनाकार ने भी अपने 'काव्यात्मक आस्था' और निर्वैयक्तिकरण' आदि के सिद्धान्तो मे आध्यात्मिक दृष्टि से काम लिया है। वह पाल वालेरी की इस बात से सहमत नही हैं कि दार्शनिक या आध्यात्मिक अनुभूति के साहित्य को किसी पिछले युग मे तो मान्यता देना सम्भव था मगर आज के विशेषज्ञता प्रधान समय मे इसकी स्वीकृति लगभग असह्य है। रिचर्ड्स की तरह वह आध्यात्मिक अनुभव की कविता को 'मिथ्या उक्ति' के धरातल पर स्वीकार करने के पक्ष मे नही है। वह एरिक हेलर की इस स्थापना का भी खण्डन करते हैं कि पाठक यदि रचनाकार के अध्यात्मवाद अथवा दर्शन का काव्यस्वादन करना चाहता है तो उसे इनको मान्यता देनी ही होगी। वास्तव में, जैसा कि निर्मला जैन ने उनके हवाले से लिखा है—"इलियट ने कैथलिक आस्था स्वीकार करने के बाद स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि कलात्मक भाव-बोध धार्मिक भाव-बोध से परित्यक्त होकर दरिद्र हो जाता है और इसलिए कलात्मक भावबोध का आध्यात्मिक अभिज्ञान मे विस्तार जरूरी है।"[2]

---

1 वेंकट शर्मा, काव्यसर्जना और काव्यास्वाद (दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्ज, 1973), पृ० 2।

2. निर्मला जैन, रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र (पूर्वोद्धृत), पृ० 106।

5 2 स्टीफन स्पेंडर की भाँति इलियट भी आस्था को रचना-कर्म में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं, लेकिन वह इस तथ्य पर भी बल देते हैं कि रचनाकार की आस्था तर्क अथवा सिद्धान्त-निरूपण के तौर पर नहीं बल्कि 'अवलोकित वस्तु' के रूप में प्रयुक्त होती है; उसके आस्वादन के लिए पाठक की निजी आस्था-अनास्था का ज्ञानपरक निलंबन जरूरी होता है। दूसरे, रचनाकार की ओर से "दर्शन का मूल-रूप काव्यमय नहीं हो सकता, लेकिन काव्य में दार्शनिक विचार का अन्तर्भाव हो सकता है। ऐसा तब सम्भव होता है जब विचार तुरन्त मान्य होने की अवस्था को पहुँच चुका हो।" उसका भौतिक रूपान्तर हो चुका हो।"[1] इलियट के अतिरिक्त मैथ्यू आर्नल्ड, डी०एच० लारेंस और एफ० आर० लीविस आदि अनेक साहित्यकारों ने भी रचनात्मक अनुभूति को अध्यात्म-दर्शनवादी कोण से विवेचित किया है। उदाहरण के लिए आर्नल्ड[2] का स्पष्ट मत है कि अच्छी कविता धर्म-दर्शन से अभिप्रेरित रही है, और अगर विज्ञान ने धर्म का नाश कर दिया तो कविता धर्म का स्थानापन्न हो जायेगी। उनके अनुसार अध्यात्म-वादी दृष्टि नैतिकता का उत्स है और नैतिकता से विद्रोह का मतलब जीवन से विद्रोह करना और उदासीन हो जाना है। धर्म की शक्ति कवित्व में है और कवित्व की अध्यात्म में। इसलिए एक समय आयेगा जब मानव-जाति को जीवन की व्याख्या तथा आत्मतोष के लिए कविता की ओर लौटना होगा।

5 3 पश्चिम के आधुनिक प्रख्यात लेखकों में, वैसे तो बर्टरेंड रसेल[3] ने भी दार्शनिक स्तर पर रहस्यवाद और तर्कशास्त्र में संगति बैठायी है, मगर रचनात्मक स्तर पर एल्डस हक्सले ने अध्यात्मवादी अनुभव का समर्थन सर्वाधिक किया है। 'मोक्ष' नाम से सन् 1980 में सम्पादित उनके चेतनाप्रसारी (साइकेडेलिक्स) और सदर्शनात्मक (विजनरी) अनुभव से सम्बन्धित वृहदाकार लेख-संग्रह के अतिरिक्त उनका अन्तिम उपन्यास 'आइलैंड (1962) अध्यात्मवादी स्वप्न दर्शिता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसमें वह लिखते हैं —"अपनी आँखें फिर खोलो और वेदिका पर नटराज की ओर देखो। अपने ऊपरी दायें हाथ में उसने डमरू पकड़ रखा है जो सृष्टिकारी है, और उसके ऊपरी बायें हाथ में विध्वंसकारी अनल है। जीवन और मरण, संघटन और विघटन की निष्पक्षता। अब शिव के दूसरे हस्तयुग्म की ओर देखो। निचला दाहिना हाथ उठा हुआ है और हथेली नीचे को मुड़ी हुई है। यह भंगिमा क्या अभिव्यंजित करती है? यही कि

1. टी० एस० इलियट, दि सेक्रिड वुड (लंदन, मैथ्यून एण्ड कम्पनी; 1969), पृ० 162-62।
2. मैथ्यू आर्नल्ड, एस्सेज़ इन क्रिटिसिज्म · सेकेंड सीरीज़ (लन्दन, मैकमिलन कम्पनी, 1956), पृ० 1-2।
3. बर्टरेंड रसेल, मिस्टिसिज्म एण्ड लॉजिक (लन्दन, पेंगुइन बुक्स, 1953), पृ० 9-37।

'डरो मत; सब ठीक है।' लेकिन कोई भी होश-हवास वाला व्यक्ति डरने से कैसे बचा रह सकता है? कैसे कोई बहक सकता है कि बुराई और कष्ट ठीक हैं, जबकि असल में वे अनिवार्यत: गलत हैं? नटराज के पास जवाब है। अब उसके निचले बायें हाथ की ओर देखो। इसका प्रयोग वह अपने चरणों की ओर सकेत के लिए कर रहा है। उसके चरण क्या कर रहे है? निकट से देखो तो पता चलेगा कि उसका दाहिना पांव एक भयानक तथा तुच्छ अमानवीय प्राणी को—शैतान को दबाये हुए है'''जो कि अज्ञान, लोभ और संचयात्मक स्वार्थ का प्रतीक है। उसका मर्दन करो, उसकी कमर तोड़ डालो। वस्तुत. यही है जो कि नटराज कर रहा है।'''लेकिन ध्यान दो कि वह अपने इस मर्दनकारी दायें पैर की ओर हाथ से इशारा नहीं कर रहा है। इशारा बायें पैर की ओर किया जा रहा है—वह पांव जो नृत्य के दौरान जमीन से उठा हुआ है।''' क्यो? वह उठा हुआ चरण, गुरुत्व-शक्ति की वह नृत्यात्मक अवहेलना—वही विमुक्ति का प्रतीक है, मोक्ष का, स्वातन्त्र्य का। नटराज सभी लोको मे एक-साथ नृत्य करता है—भौतिकी और रसायनशास्त्र के लोक मे, सामान्य अतिमानवीय अनुभव-लोक में; और अन्तत तथता, मानस तथा स्पष्ट प्रकाश के लोक में '''।"[1]

5.4 हक्सले का विचार है कि ऐसी सदर्शना ही वास्तविक रचनात्मक अनुभूति है। अपने आखिरी दिनो में, रचनात्मक उद्दीपक-द्रव्यों पर काम करने वाले मित्र अल्बर्ट हॉफमन को, एक पत्र मे उन्होंने 'प्रायोगिक रहस्यवाद' की प्रविधि के सम्बन्ध मे एक पत्र लिखा था—"यह एक तकनीक है जिससे व्यक्ति अपने लोकोत्तर अनुभव से अधिकाधिक सार्थकता ग्रहण कर सकते हैं और 'उस ससार' की अन्तर्दृष्टियों का 'इस ससार' के संदर्भ में प्रयोग कर सकते हैं।'''ध्यान प्रार्थना से जो ग्रहण किया जाता है उसे प्रेम के माध्यम से दिया ही जाना चाहिए। वस्तुत यही है जिसका कि विकास करना चाहिए। सदर्शन, और ब्रह्माण्ड के साथ एकात्मता के आत्म-मनन के अनुभव से, जो लिया जाता है उसे प्रेम एव बुद्धि से दे डालने की कला।"[2] इसलिए हक्सले के 'आइलेंड' मे द्वीप-वासी एक उद्दीपक द्रव्य का इस्तेमाल करते हैं जिसे उन्होंने 'मोक्षौषधि' का नाम दे रखा है। इसके सेवन से वे पलायनवादी नही बनते, बल्कि अपनी उस वास्तविकता की पहचान करते है जो दुनियादारी के झंझटो में अनपहचानी रह जाती है। कलाकार के रचनात्मक अनुभव को भी हक्स्ले इसी प्रकार की अतिक्रान्त अवस्था मानते हैं। डा० कर्णसिंह को लिखित एक पत्र मे उन्होंने इसे योरुप की और भारत की अन्तर्दृष्टियो की कल्पित एव वांछनीय सगति कहा है।[3]

---

1. एल्डस हक्स्ले, मोक्ष, सम्पा० माइकेल हॉरोविट्ज़ और सिंथिया पामेर (लन्दन, चट्टो एण्ड विण्डस, 1980), प्रारम्भिक पक्तियां।
2. वही, अल्बर्ट हॉफमन की भूमिका।
3. वही, पृ० 236, 22-12 1962 का एक पत्रोत्तर।

5 5. रचनात्मक अनुभव की अध्यात्मपरकता स्वयं में व्यक्ति-उत्थान का कारण हो सकती है और श्रेष्ठ मानवतावादी साहित्य की भूमिका भी, लेकिन जिन रचनाकारों ने इसकी धर्माश्रितता की सकीर्ण, विखण्डतावादी और शोषणमयी सामाजिक प्रव्यक्तियों के मानव-विरोधी इतिहास को आत्मसात किया है, वे इसमें किंचित भी विश्वास नहीं रखते। उनके मत में सार्थक रचनात्मक अनुभूति और कुछ भी हो सकती है, धार्मिक एवं आध्यात्मिक नहीं। ग्राहम ग्रीन और हैनरिक बॉइल जैसे प्रसिद्ध रचनाकारों का तमाम लेखन कटु-तिक्त धार्मिकता के तीव्र विरोध में सम्पन्न हुआ है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म में अध्यात्म का प्रतीक 'चर्च' रहा है और अनुभव की आध्यात्मिकता का मतलब वहाँ, किसी-न-किसी स्तर पर 'चर्च' द्वारा प्रचारित आदर्शों की स्वीकृति है— ठीक वैसे ही जैसे कि भारत में देव-पूजा। लेकिन हेनरिक बॉइल के अनुसार, राज्य और व्यवस्था की तरह, 'चर्च' ने भी आदमी के साथ विश्वासघात किया है; इसलिए आध्यात्मिक अनुभूति की तान अन्ततोगत्वा या तो व्यक्तिनिष्ठता या मनुष्य की निरीहता *और नियतिवादी असमानता पर टूटती है। 'वर्जिन मेरी' ही के आदर्श को लिया जाए* तो काल के किसी चरण पर उसने रचनात्मकता को महत्वपूर्ण आध्यात्मिक बल दिया होगा, लेकिन धर्म-नेता पोप ने इस धार्मिक मिथक का जिस तरीके से प्रचार और प्रसार किया, वह आज के रचनाकार की सहानुभूति का विषय नहीं हो सकता—"ध्यान दीजिए कि 'वर्जिन मेरी' के पूजन की अनेक विधियाँ वास्तव में पोप-सत्ता-स्वीकार ही के अनेक रूप हैं।···विश्व रूपी 'आँसुओं की घाटी' में जो सुविधा-सम्पन्न थे, उनके द्वारा लोगों को स्वर्गिक आनन्द का आश्वासन दिया गया—ऐसे लोगों को जिनके लिए जीवन *सचमुच आँसुओं की घाटी था। यह सब कितना विडम्बनापूर्ण है।* इसलिए आज के लोग अगर पृथ्वी के अपने हिस्से की माँग करते हैं तो यह सर्वथा उचित है। पोप के पास अपने धर्माधिकारी थे जो राजनयिक थे, धमकियाँ फैलाते थे, अच्छे-बुरे अंकों, पदकों और सुविधाओं को बाँटते थे। सत्ता की राजनीति के इन धर्मनुमा खेलों और आतंक-*प्रयासों का अब तक पर्दाफाश हो जाना चाहिए था।*"[1]

5 6 बीसवीं शताब्दी के अनेक हिन्दी रचनाकारों ने भी अपनी अनुभूति का आध्यात्मिक शब्दावली में बखान किया है। अनुभूति में ईश्वरीय साक्षात्कार की *अनिर्वचनीयता*—जिसे तुलसी ने *'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहा था*, जयशंकर प्रसाद की आस्था भी रही है।[2] उनके लिए "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।···आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप से अभिव्यक्त होती है, वह निस्संदेह *प्राणमयी और सत्य के उभय लक्षण प्रेय और श्रेय* दोनों से परिपूर्ण होती

1. हेनरिक बॉइल, रेशनैलिटी ऑफ पोइट्री (पूर्वोद्धृत), पृ० 35।
2. जयशंकर प्रसाद, अभिषेक, सम्पा० रत्नशंकर प्रसाद (वाराणसी, हिन्दी प्रचारक संस्थान, 1978), पृ० 19।

है।'''सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है, या चिन्मयी ज्ञानधारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है।"[1] वह कई बार इस मान्यता को व्यक्त करते हैं कि "काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने मे प्रयत्नशील है क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। 'अयमात्मा वाङ्मय', मनोमय, प्राणमयः (वृहदारण्यक)'। उपविज्ञात प्राण, विज्ञात वाणी और विजिज्ञास्य मन है। इसीलिए कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं।"[2] इसी प्रकार सुमित्रानन्दन पन्त के लिए अरविन्द-दर्शन का 'महाजीवन' ही प्रमुखतः उनकी रचनात्मक अनुभूति का आदर्श रहा है, ठीक वैसे ही जैसे 'नदीय समाज' (उस भगवान् के भक्तो का समाज) की स्थापना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुभवों और वैष्णव आस्था मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य मे केन्द्रीय महत्व रखती है। पन्त के परवर्ती काव्य मे धरती से आकाश, या मृणमय से चिन्मय तक उठने की अनुभूति सर्वत्र ओत-प्रोत है—

> दीपित होता अंधकार नव
> जड़ मे चेतन का निखार नव
> काय रूपमय निराकार नव
> सार्थक सृजन-कला![3]

5 7. मैथिलीशरण गुप्त का कहना है—"बाह्य परिस्थितियो ने नही, अन्तः परिस्थितियो ने ही मेरी सच्ची सहायता की। मेरी अनुभूतियों ने ही मुझे ठोक-पीट कर कवि बनाया।"[4] अन्त.परिस्थितियों से उनका तात्पर्य अपनी संस्कारी आध्यात्मिक आस्थाओ से है जिनका एक प्रमाण 'साकेत' के मुख-बंध पर उद्धृत उन संस्कृत-श्लोको से मिलता है जिनमे गीता के "सम्भवामि युगे-युगे" के आदर्श के अतिरिक्त राम-कथा का यह माहात्म्य भी सम्मिलित है कि—"इस पवित्र, पापघ्न और वेद-सम्मित रामचरित का पाठ जो भी करता है वह सर्वपापो से विमुक्त हो जाता है।" उनके अनुज और हिन्दी के प्रसिद्ध गांधीवादी रचनाकार सियारामशरण गुप्त ने भी स्वीकार किया है कि—"'बापू' लिखते समय मैंने स्पष्टत अनुभव किया कि किसी परम सत्य की उपलब्धि मुझे हो रही है। जिस दिन मैंने 'बापू' की अन्तिम पंक्तियाँ लिखी उस दिन अपने भीतर मैंने सम्भवत उस आनन्दमयी परितृप्ति की अनुभूति की जो बड़े-बड़े साहित्यकारो को यदा-कदा ही उपलब्ध होती है।"[5] 'नारी' उपन्यास के सन्दर्भ मे वह इस अनुभूति को

---

1. वही, पृ० 172-73।
2. वही, पृ० 172।
3. सुमित्रानन्दन पन्त, शिल्पी (इलाहाबाद, सेंट्रल बुक डिपो, 1952), पृ० 14।
4 रणवीर रांग्रा, साहित्यिक साक्षात्कार (पूर्वोद्धृत), पृ० 1-2।
5. वही, पृ० 14-15, 16।

'बोधि-सत्व' कहते हैं जो आत्मा में अविश्वास करने वालों के जीवन-दर्शन से भिन्न है। इसी प्रकार 'इन्दुमती' नामक वृहदाकार उपन्यास के लेखक सेठ गोविन्द दास के लिए यह वेदान्तवादी धारणा कि 'विश्व मे निज का व्यक्तित्व ही सब कुछ है', इस कृति का वास्तविक रचनात्मक अनुभव है जिसका किसी जीवित व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं।[1] जैनेन्द्र कुमार की भी मान्यता है कि यथार्थ अनुभव की कसौटी नहीं हो सकता क्योंकि उसमे सदैव यथार्थातीत का सन्निवेश रहता है—"वास्तविक का धरातल उससे उठेगा जो स्वय ऊँचा होगा। इससे उपन्यास की वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर होना होगा।"[2] आज के सशक्त रचनाकारों में अज्ञेय ने अपनी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में 'देवता', स्रष्टा के 'अकेलेपन' और 'मौन' आदि शब्दों की बहुत आवृत्ति करते हुए अध्यात्म की बात को भी इस अन्दाज मे कहा है कि वह आध्यात्मिक प्रतीत नहीं होती। वह 'आस्था' को अहेतुक ज्ञान भी मानते हैं, लेकिन उनकी 'असाध्य वीणा' का प्रियवद अपनी कलात्मक तल्लीनता के विषय मे स्पष्ट कहता है—

"सुना आपने जो वह मेरा नहीं,
न वीणा का था :
वह तो सब कुछ की तथता थी—
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है।"

कथा-वाचक अज्ञेय-कवि के अनुसार तन्मयता के उस अनुभव में "अवतरित हुआ संगीत/स्वयम्भू/जिसमे सोता है अखण्ड/ब्रह्मा का मौन/अशेष प्रभामय/डूब गए सब एक साथ/सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।" अपने रचनात्मक अनुभव की इस अध्यात्मपरकता को अज्ञेय ने अनेक निबन्धों में भी व्याख्यायित किया है, मगर उन सबका सार यही है कि "जिसे धर्म कहा गया उसकी परिधि मे रह सका हूँ तो अपने को धन्य ही मानता हूँ।··· संसार के किसी धर्म ने मनुष्य के मानस को उतनी स्वाधीनता का वातावरण नहीं दिया जितना भारतीय धर्म ने; किसी ने स्वस्थ जीवन की उतनी गहरी नींव नहीं डाली जितनी भारतीय धर्म ने।···यहाँ तक पहुँचकर मुझे जो सुख मिला है उसे वे ही लोग समझ सकते हैं जो निष्ठापूर्वक तीर्थ-यात्रा करके घर लौटते हैं।"[3] अज्ञेय का विश्वास है कि अध्यात्म

1. वही, पृ० 31।
2. वही, पृ० 108।
3. अज्ञेय, जोग लिखी (पूर्वोद्धृत), पृ० 30।

का सवाल मूलतः बुनियादी मूल्यों या तत्वो का सवाल है जिनमें सत्य, ऋत, धर्म और तप प्रमुख हैं।

6 अनुभूति की ससीमता

रचनात्मक अनुभव की अध्यात्मपरकता को निर्दशित करने वाले उपर्युक्त सभी उद्धरणो का प्रयोजन, वास्तव मे, अनुभव की विराटता और रचनाकारो की अपनी निष्ठा के महत्व को रेखांकित करना है। इधर रचना-प्रक्रिया पर विस्तारपूर्वक या फुटकर विचार करने वाले कुछ हिन्दी के लोगो ने रचनात्मक अनुभव को योग के साथ भी जोड़ा है और आधुनिक महर्षियो के दार्शनिक सिद्धान्तो से शब्दावली लेकर इस प्रक्रिया को अपनी ओर से तो सुलझाया है मगर वह सामान्य जिज्ञासु के लिए अहेतुक माथा-पच्ची का विषय अधिक बन गयी है। इससे यह आभास मिलता है कि हर चीज़ की सीमा होती है लेकिन रचनात्मकता या उसके अनुभव की बिल्कुल नही। इसीलिए रोलो मे ने रचनात्मकता की सीमाओ पर विचार करते हुए लिखा है कि अगर हम यह मानकर चलें कि 'मानवीय सम्भावनाएँ असीम हैं' या 'अन्तरिक्ष ही सीमा है' फिर तो कोई भी समस्या शेष या विचारणीय नही रहती। "मैं अपने विवेचन में इस प्राक्कल्पना की खोज करूँगा कि मानव-जीवन मे सीमाएँ दुर्निवार ही नही, मूल्यवान् भी होती हैं।...स्वय सिसृक्षा को सीमाओ की आवश्यकता होती हैं क्योंकि सिसृक्षात्मक कृत्य का उद्‌भव ही मनुष्य की उस सघर्षशीलता से होता है जो उसे ससीम बनाती है।"[1] इस सम्बन्ध मे वह दैहिक अवसान की, रुग्णता की, तन्त्रिका-सम्बन्धी, बुद्धि-विषयक, सांवेगिक तथा पर्यावरणात्मक सीमाओं का उल्लेख करते हुए आध्यात्मिक सीमाओ को भी रेखांकित करते हैं। उनका विचार है कि अध्यात्मवादी अनुभव लौकिकता की उपेक्षा और उसके पूर्ण अतिक्रमण की प्राक्कल्पना पर आधारित होता है; लेकिन मनुष्य द्वारा अपने परिवार, देश और इतिहास की विकल्पहीन सीमाओं का पूरा अतिक्रमण, रचना के स्तर पर कभी मुमकिन नही होता। और फिर अध्यात्म मे भी चेतना का उदय सीमा-बोध ही से होता है।

"चेतना वह बोध है जो सम्भावनाओ और सीमाओ के द्वाद्विक तनाव से उपजता है।" लेकिन अध्यात्मवादी इन सीमाओं को अश्रेयस्कर मानकर उस द्वन्द्वहीनता में विचरण करना चाहता है जिसमें एक काल्पनिक आनन्द के लिए आकर्षण तो रहता है लेकिन सृजनापेक्षी तनाव को लुप्तप्राय कर दिया जाता है। यही कारण है कि रोलो मे 'महर्षि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय' द्वारा प्रचारित साधना को सिसृक्षा का विज्ञान नही मानते। इस सस्थान की ध्यान-पूजाओ मे हिस्सा लेने के बाद वे अध्यात्मवादी प्रशिक्षण को सिर्फ विश्रान्ति के लिए लाभदायक मानते है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानी फ्रैंक बैरेन के साथ 'टी०एम०' (ट्रांसेंडेंटल मेडिटेशन) की प्रादेशिक सगोष्ठियो मे अपनी उपस्थिति और

---

1. रोलो मे, दि करेज टु क्रिएट (पूर्वोद्धृत), पृ० 35।

वैरेन के शोधकार्य से उन्हें पता चला कि स्वयं 'टी०एम०' के प्रशिक्षक—जोकि अध्यात्म के रास्ते से सिसृक्षा के प्रशिक्षण का दावा करते हैं—सिसृक्षा के मनोवैज्ञानिक परीक्षणो पर यथेष्ट अंक प्राप्त करने मे असफल रहते हैं।

अतः कहा जा सकता है कि रचनात्मक अनुभव को आध्यात्मिक रंग देने का कोई तर्क-सम्मत आधार नही है। रचनाकार की अपनी प्रकृति और अपने विश्वासो के अनुरूप, आध्यात्मिक अनुभव की किसी विशेष रचना के विकास का एक बिन्दु हो सकता है; लेकिन इस स्थिति मे वह अनुभव का एक प्रकार ही कहलायेगा। अनुभव के क्षण की सम्पूर्ण सामान्येतरता को बहिर्जगत से काटकर अध्यात्म-लोक के सीमाहीन रहस्य में उलझा देने की प्रवृत्ति गलत है।

अध्याय—सात

रचनात्मक विचारण

अनुभूति या उद्वेलनपरक रचनात्मक अनुभव के उपरान्त रचना की प्रक्रिया विचारण के चरण पर पहुँचती है। अभी तक इस प्रक्रिया की जिन अवस्थाओं का विवेचन किया गया है उनमें रचनाकार की आत्मसम्पृक्ति प्रधान होती है। रचनात्मक अनुभव के निमित्तों—व्यक्तियो, विचारो, घटनाओ, मूल्यो-विश्वासो, प्रतिक्रियाओं आदि के साथ उसका सम्बन्ध अन्तर्भावितता या गहरी 'इन्वाल्वमेंट' का होता है। यह अन्तर्भावितता घनिष्ठ परिचयात्मक होती है जिसमे उसके आत्मतत्व, उसकी अपनी रुचियों-विरुचियो का प्राधान्य रहता है। मनोविज्ञान में इसी को 'अपरिचित को परिचित बनाने' की अवस्था कहा जाता है जिसका उल्लेख 'साइनेक्टिक्स' की स्थापनाओ के अन्तर्गत किया जा चुका है। लेकिन विचारण के चरण पर रचनाकार को अपने वैयक्तिक मूलो से हटकर, सम्पूर्ण प्रत्यक्षित तथा अनुभूत को एक व्यापक और सतुलित या आत्मेतर परिप्रेक्ष्य मे देखना होता है। अगर वह ऐसा नही करता तो उसका अनुभव रचना में ढलकर भी अनास्वाद्य रह जाता है; अथवा वैचारिक दृष्टि से अपरिपक्व वर्ग ही मे ग्राह्य होता है। उदाहरण के लिए आज का कोई रचनाकार वैयक्तिक स्तर के अपने प्रेमानुभव को रचना का रूप देते समय उस पर सामन्तयुगीन आदर्शों से विचार नही कर सकता। उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने परिचित या मुक्त अनुभव को पुन. अपरिचित बनाए; एक दूरी पर खड़ा होकर उसे विवेक, सामाजिक यथार्थ, बाह्य स्रोतो से अर्जित जानकारी और समकालीन रचना के प्रचलित मुहावरे की विचार प्रधान कसौटी पर परखे।

1. विचारण और दूरी

रचनात्मक विचारण में दूरी वस्तुतः सही सामीप्य के लिये बनायी जाती है। वाल्टर बेंजामिन ने इसी के लिए ब्रेख्त को सराहा है (क्योंकि ब्रेख्त नाट्यात्मक दूरी या अजनबीकरण के सिद्धान्त के लिए प्रसिद्ध हैं) और बादलेयर की प्रशसा के प्रसग मे लिखा

है—"एक दृष्टि-पात जितनी अधिक गहरी दूरस्थता को पार करता है, उससे उत्पन्न सम्मोहन उतना ही अधिक शक्तिशाली होता है। वे आँखें जो हमे दर्पण जैसी सपाटता से देखती हैं उनमें यह दूरी बहुत पूर्ण होती है। यही कारण है कि वे आँखें अपरिचय से अपरिचित होती है।"[1] अनुभव की पुनर्रचना के लिए उससे मानसिक दूरी पर जाना जरूरी होता है। इसीलिए कुछ रचनाकार अपने अनुभवगत परिवेश से हटकर पहाड़ आदि पर चले जाते हैं और परिवर्तित परिवेश मे लिखना अधिक पसद करते हैं। कुछ रचनाकार अभ्यासवश वैसे ही दूर हटने मे जल्दी सफल हो जाते हैं, जबकि कुछ दूसरे, अपने प्रभावातिरेकों से बाहर आने में इतना समय लेते हैं कि मूल अनुभव का तीखापन नष्ट हो जाता है। मायाकोव्स्की के शब्दों मे—"जितनी बड़ी वस्तु या घटना होगी उतनी ही अधिक दूरी तक आपको पीछे हटना होगा। कमजोर कलाकार जहाँ-के-तहाँ बने रहकर यह प्रतीक्षा करते है कि घटना अतीत की बात बन जाए ताकि वे उसका चित्रण कर सकें। जो बलवान हैं वे समय पर काबू पाने के लिए आगे निकल जाते हैं।"[2]

स्पष्ट है कि विचारण की अवस्था मे रचनाकार का भोक्ता-रूप पुनर्द्रष्टा के रूप में बदलता है। यहाँ व्यक्तिप्रधान अनुभवो का सघनन एव सम्पीडन होता है। अनुभव विचार की यात्रा पर निकलते है, अनुभूतियाँ बँटने लगती हैं। विचारण अन्ततोगत्वा अनुभव के निर्वैयक्तीकरण का चरण है। यह प्रक्रिया किन साधनों से घटित होती है?

2 विचारण में चयन का महत्व

रचना, जीवन या समाज के यथार्थ से उपज कर भी जीवन या समाज नही होती। जीवन की अनन्तता या सामाजिक बहुरूपता, पूरी-की-पूरी और वैसी-की-वैसी, न तो किसी एक रचना मे बाँधी जा सकती है और न इस तरह की फोटोग्राफिक अपेक्षा करने का कोई महत्वपूर्ण अर्थ हो सकता है। रचना-कर्म सौन्दर्यबोधात्मक विचार-प्रक्रिया है और विचारणा के लिए मुख्य सन्दर्भ जरूरी होते हैं। ये सन्दर्भ रचनाकार की चयन-क्षमता से उभरते हैं। यह क्षमता रचनात्मक अनुभव से उसे अपेक्षित दूरी पर ले जाती है और वह अनुभव के मुख्य सन्दर्भों का पुनरसृजन करता है, उन्हे अपने विचार प्रदान करता है। ऐसा करते समय वह विचारणा के सायास और अनायास, दोनो तत्वों से काम लेता है। तब अनावश्यक का बहिष्कार और आवश्यक का समावेश हो जाता है। अनुभव की बिखरी हुई तफ्सीलें छँट जाती है और विचार-शक्ति अभीष्ट का सश्लेषण कर देती है, ताकि एक रचनात्मक 'समग्र' के आधान से पुन. उसके विभिन्न आयामों की कल्पनात्मक सृष्टि द्वारा यथार्थ को उद्घाटित किया जा सके। अत. चयन-शक्ति या विकल्प-विचार की क्षमता, विचारण की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण साधन होती है।

---

1. वाल्टर बेंजामिन, इल्यूमिनेशन्स (लन्दन, जोनाथन केप, 1970), पृ० 192।
2. व० मयाकोव्स्की, कविताएँ कैसे बनायी जाएँ, लेखनकला और रचनाकौशल, पृ० 179-80।

2.1. किसी रचना के वस्तु-पक्ष का ढांचा और उसकी अभिव्यक्ति पद्धति, दोनों का निर्धारण वस्तुतः इसी चयन-क्रम में हो जाता है। "अभिव्यक्तिपद्धति का सीधा सम्बन्ध विषयी के अनुभव-ससार से है और इस अनुभवगत ससार की प्रकृति अनुभव-रीतियो की अपनी विशिष्टता द्वारा बाधित और नियन्त्रित होती रहती है। वस्तु-पक्ष के रूप मे यथार्थ एक-रूप होता है। पर सृजनात्मक प्रक्रिया के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि अनुभव-रीतियाँ यथार्थ के अविछिन्न रूप के विभिन्न पक्षों पर बल देती हैं। पर सचेत वैज्ञानिक अथवा सजग साहित्यकार यथार्थ-खण्ड से ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपने अनुभवगत ससार से बाधित यथार्थ-खण्ड का सहारा ले यथार्थ के अखण्ड रूप को अपने सिद्धान्त अथवा कृति मे बाँधने का सर्जनात्मक प्रयास भी करता है।"[1]

2 2 विचारण मे चयन की भूमिका के कई आयाम हो सकते हैं। घटनाओ का चयन, प्रतिपाद्य विषय का चयन, प्रातिनिधिक पात्रो का चयन, ऐतिहासिक दिक् और काल का चयन, समकालीन प्रासंगिकता के क्षेत्र का चयन, विधा का चयन—ये सब वास्तव मे रचनाकार की विचारणा से उद्भूत होते हैं। इसीलिए सिसृक्षण को मूलतः रचनात्मक विचारण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। चयन सदैव और सर्वत्र नियन्त्रित नही होता। यह 'जरूरत' से उद्भूत होता है लेकिन इसमे 'सयोग' अथवा अनियन्त्रित विकास से भी इन्कार नही किया जा सकता। जीव-विज्ञानी तक मानते हैं कि जीवों का विकास वास्तव मे सयोग तथा अनिवार्यता के द्वन्द्व का नाम है। मनोविज्ञान के अनुसार अचेतावचेत मे किया गया विकल्प-विचार ही सयोग है, उसमे भी अलक्षित चयन-वृत्ति का योग रहता है। अतः रचनात्मक विचारण मे चयन को आरोपण या स्वतन्त्र उत्क्रान्ति का बाधक तत्व नही समझना चाहिए। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जिससे रचनात्मक द्वन्द्व और तनाव के उपशमन, दोनो की उपलब्धि होती है।

2 3. विचारण मे चयन की भूमिका महत्वकेन्द्रित और रचनाकार-सापेक्ष होती है। आकार मे छोटी दिखाई देने वाली वस्तुओ या घटनाओ के गिर्द भी नये और बडे विचार को बुना जा सकता है जबकि विस्तीर्ण-बहु वस्तुएँ या बड़े-बडे प्रचलित विचार भी किसी रचनाकार की विचारण-परास से इसलिए बाहर रह सकते हैं क्योंकि उनका उसके लिए विशेष रचनात्मक महत्व नही होता। कुछ रचनाकार दृश्य-प्रपच (फिनॉमिनन) से नये विचार-सूत्रो को विकसित करते हैं और कुछ दूसरे, अतीत के अनुभवो से अर्जित विचारो के आलोक मे घटनाओ को देखकर उन्हें मौलिक अर्थ प्रदान करते हैं। वाल्टर बेंजामिन के अनुसार आभास (एपियरेंस) का विस्मय ही विचारों के सन्दर्भ-चयन का मूल कारण होता है, पहले से विद्यमान विचार-विशेष नही। प्रसिद्ध जर्मन विचारक हन्नाह अरेंट ने उनकी विचार-पद्धति के विषय में लिखा है—"जो चीज़ शुरू से ही

---

1. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, शैलीविज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका (आगरा, केन्द्रीय हिन्दी सस्थान, 1972), पृ० 17।

बेंजामिन को बहुत खीचती रही वह कोई विचार नहीं बल्कि परिदृश्य था। उसने खुद कहा है—*सकारण सुन्दर कही जाने वाली प्रत्येक वस्तु का विरोधाभास यह है कि वह* 'आभासित' होती है। और यह विरोधाभास—या आसान शब्दों में, आभास का यह विस्मय ही उसकी तमाम दिलचस्पियों के केन्द्र में देखा जा सकता है।"[1] वास्तव में 'आभासित' होने का यह क्रम ही, विचारणा के दौरान, यथार्थ को पकड़ने की पृष्ठभूमि बनता है। तब अनेक उपमा-रूपक रचनाकार के मानस-पटल पर उभरने लगते हैं।

2.4. रचनात्मक विचारण में चयन या विकल्पात्मक खोज को आज की रचना के सन्दर्भ में, विशेष रूप से महत्वांकित करने की आवश्यकता है। आज साहित्य के क्षेत्र में विचारवादियों, रूपवादियों, भाववादियों, भाषावादियों—और न जाने किन-किन 'वादियों' ने अपने-अपने झण्डे उसी तरह उठा रखे हैं जिस तरह चुनाव लड़ने वाली राजनीतिक पार्टियों ने। ऐसे में विकल्प की अवहेलना होना स्वाभाविक है। रचनाप्रक्रिया की दृष्टि से यह मानसिकता दुराग्रह-पूर्ण ही नहीं, नितान्त कृत्रिम तथा आरोपित भी है। "*विकल्प की खोज हमेशा मानवीय है और वयस्क कर्म भी*। उसमें न पैगम्बर होने का भाव है और न शहीद होने की आत्मदया। यह खोज सोचने को व्यर्थ नहीं मानती, बल्कि सच्चाई को समझने-बूझने और बदलने के लिए सोचना अनिवार्य समझती है, वह सोचने का संकल्प करती है। यही खोज साक्षात्कार की खोज है।"[2] यह सच है कि जो भटकता नहीं वह कुछ तलाश भी नहीं कर सकता। रचनात्मक विचारण में विकल्पात्मक चयन की यही भूमिका होती है। अनुभव के सज्ञानात्मक निर्वैयक्तीकरण का रास्ता यहीं से हो कर जाता है; जो नहीं जाता वह किसी ब्रह्मज्ञानी का अतर्क-तंत्र है।

3. विचारण और वास्तविकता का अन्वेषण

वास्तविकता का क्रमिक अन्वेषण और उद्घाटन रचना-प्रक्रिया का मुख्य प्रयोजन होता है। मानसिक स्तर पर इस प्रयोजन की सिद्धि विचारों के घात-प्रतिघात से होती है और भाषिक स्तर पर बिम्बन तथा प्रतीकन आदि के औजारों से। चूंकि "प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के बाद के धारणात्मक ज्ञान वाले चरण में 'विचार' की अवस्थिति है"[3] इसलिए धारणात्मक ज्ञान से वास्तविकता का अन्वेषण होता है और वास्तविकता का अन्वेषण धारणात्मक ज्ञान को समृद्ध करता है। *यह अन्योन्यक्रिया विचारण की क्रिया* को सन्तुलित रखती है और रचनाकार के प्रारम्भिक विचारों को निर्वैयक्तीकरण की ओर धकेलती है। यहाँ आत्मानुभवों के तथ्य, अन्य स्रोतों से प्राप्त तथ्यों के सम्पर्क में आकर

---

1. *हन्नाह अरेंट, बेंजामिन की 'इल्यूमिनेशन्स' (पूर्वोद्धृत) की भूमिका।*
2. अशोक वाजपेयी, फिलहाल (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन), पृ० 140।
3. रमेश कुन्तल मेघ, काव्य-रचना-प्रक्रिया : सामाजिक और सांस्कृतिक···, काव्य-रचना-प्रक्रिया, सम्पा० कुमार विमल, पृ० 61।

अपनी सीमा तथा शक्ति को पहचानते हैं। इसमे सन्देह नही कि रचनाकार द्वारा किया गया वास्तविकता का अन्वेषण सचेष्ट अनुसंधित्सु के कर्म से भिन्न होता है, मगर यह भी गलत नही कि तथ्यो की व्यापक जानकारी के बिना वह रचना के सौन्दर्यबोधात्मक सत्य की तह तक नही पहुँच सकता। अन्तर यह है कि एक तो वह अपनी विकसित अन्तर्दृष्टि और भावनात्मक पद्धति के कारण अपने तथ्य-सकलन के स्रोतों का प्रत्यक्ष पता नही चलने देता; और दूसरे, रचना-प्रक्रिया मे पड कर ही उसके सामने धीरे-धीरे वास्तविकता का स्वरूप स्पष्ट होता है। फिर भी उसके चित्रित विषयों की बारीकियों के विकासात्मक अध्ययन से पता लगाया जा सकता है कि वह किस आशय और किन तथ्यों की सहायता से वास्तविकता का अन्वेषण कर रहा है और यह अन्वेषण-कार्य किस प्रकार उसकी विचारणा को क्रमश: प्रभावित, पुष्ट, समजित, संशोधित या परिवर्तित करता है।

3.1. वैसे तो गद्य-पद्य की सभी छोटी-बड़ी विधाओं मे वास्तविकता का उपर्युक्त अन्वेषण ही सब तरह की रचनात्मक परिणतियो में प्रवाहमान रहता है; लेकिन जैसाकि रैल्फ फॉक्स ने लिखा है, उपन्यास का सम्बन्ध वास्तविकता के साथ सर्वाधिक होता है। उनके अनुसार उपन्यास आधुनिक बुर्जुआ समाज का महाकाव्य है; पूंजीवादी व्यवस्था मे मनुष्य के जीवन की वास्तविकताओ को सर्वांगीण रूप में जितना उपन्यास चित्रित कर सकता है, उतना साहित्य का कोई दूसरा रूप नही। "यह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध, व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है। और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता था जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच सन्तुलन नष्ट हो चुका है। और जिसमे मानव का अपने सहजीवी साथियो अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो।"[1] व्यक्ति और समाज के इस नष्टप्राय सन्तुलन के रचनात्मक अन्वेषण की महत्वपूर्ण मिसाल हमें समकालीन उपन्यासकार बदी उज़्ज़माँ के 'एक चूहे की मौत' मे बहुत स्पष्ट तथा मार्मिक रूप में उपलब्ध होती है। यह उपन्यास काफी हद तक लेखक के वैयक्तिक अनुभवो पर आधारित है। वैषम्यपूर्ण सामाजिक व्यवस्था में मध्यवर्गीय व्यक्ति की उमगहीन नीरसता इसका मुख्य विषय है। इसका कार्यक्षेत्र आधुनिक दफ्तरी जीवन है जिसमे फाइलों से जूझना हुआ आदमी स्वयं एक फाइल बनकर रह गया है। उपन्यास का प्रारम्भ इस विचार से होता है कि दफ्तरो में काम करने वाला तबका इतना शुष्क, चापलूस, दम्भी, रीढ़हीन, आत्मकेन्द्रित, तुच्छताओ मे उलझा हुआ, भावनाशून्य तथा आदमियत की अस्मिता से वचित हो गया है कि उसे आसानी से 'चूहामार' वर्ग की संज्ञा दी जा सकती है। कि क्लर्क से लेकर अवरसचिव आदि अलग-अलग दर्जे के 'चूहेमार' हैं, फाइलें 'चूहे' हैं, सचिवालय बडा 'चूहाखाना' है, रिहायशी क्वार्टर 'चूहों' की बस्ती' हैं, रोज़नामचा 'चूहानामा' है, रिकार्डरूम 'मुहाफिज़खाना' है जिसमें मरे हुए 'चूहों' को सम्भाल कर

---

2. रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोकजीवन, (नयी दिल्ली, पीपुल्स प० हा०, 1980), पृ० 33।

रखा जाता है—यह इस उपन्यास का 'चूहा-तन्त्र' या रूपक मे लिपटा हुआ केन्द्रीय विचार है जिसका अवलम्ब लेकर बदीउज्जमाँ वास्तविकता की तलाश पर निकलते हैं। तलाश के दौरान वह बहुत से तथ्य संकलित करते है जिनके आधार पर उन्हें 'चूहाखाना' के विशद यथार्थोद्घाटन में सफलता मिली है। इस तलाश का निष्कर्ष यह निकलता है कि आज की सारी समाज-राजनैतिक व्यवस्था ही चूहेखाना है जिसमें हर व्यक्ति चूहे की नियति को भोग रहा है। जो नही भोग सकता वह इतना अकेला पड़ जाता है कि 'ग' की तरह या तो आत्महत्या पर विवश हो जाता है, या 'द' की तरह बेईमानी की सुविधाओं को एकत्र करने लगता है, या फिर कथा-नायक 'वह' की तरह विवश 'एक चूहे की मौत' मारा जाता है। लेकिन इस दम-घोटू स्थिति से उबरने का उपाय क्या है? यही कि चूहेखाने के मोह से मुक्त हुआ जाए; 'ग' बना जाए "जो मर कर भी अमर है।"

3.2. अब इस उपन्यास की रचना-प्रक्रिया पर बदी उज्जमाँ के 'आत्मकथ्य' पर ध्यान दीजिए। वह लिखते हैं—"सच पूछिए तो उपन्यास लिखने के दौरान मैं एक प्रकार की अन्वेषण-प्रक्रिया से गुज़र रहा था। यह प्रक्रिया थी उस परिवेश को, उस महौल को और उस दुनिया को जानने और समझने की जो न सिर्फ मेरे चारों ओर बिखरी हुई थी बल्कि जिसने मुझे अपने पंजो में बहुत मजबूती से जकड भी रखा था।···लेकिन सवाल सिर्फ इस दुनिया की परतों को खुरचने और उसे अन्दर गहरे मे जाकर देखने-पहचानने का नही था। सवाल अपने-आप को भी जानने और पहचानने का था क्योंकि यह दुनिया मेरे भीतर भी दुबक कर बैठ गयी थी। मुझे इन दोनों दुनियाओं से जूझना था। बाहर की इस दुनिया से जूझने के साथ-साथ अपने आप को भी लहूलुहान करना था।"[1] यही सत्य तक पहुँचने की क्रियाशीलता है।

3 3 प्रत्येक रचनाकार अपनी सामर्थ्य और अपने ढग से वास्तविकता का विचारित अन्वेषण करता है; लेकिन सही रचनाकार विचारों को अन्वेषण का माध्यम बनाता है, वैज्ञानिक की भाँति सिद्धान्त-स्थापना नही करता। दर्शन, विचार-प्रणालियों और अन्य अर्जित ज्ञानोपकरणों की मदद से वह प्रश्नों को इस तरह उठाता है कि रचनात्मक सत्य के भावी आश्वसन का मार्ग खुला रहता है। एम० वी० जोन्स ने दॉस्तॉयव्स्की के उपन्यासों पर विचार करते समय स्पष्ट किया है कि महान रचनाकार द्वारा किया गया वास्तविकता का उद्घाटन तभी प्रामाणिक होता है जब उसमें जीवन की असलियत के आगे टिका रहने की सामर्थ्य होती है। वर्ना रचनात्मक विचारण का भी वही हस्र हो सकता है जोकि तॉलस्तोय-कृत 'अन्नाकेरिनिना' के लेविन नामक पात्र का होता है। लेकिन जब प्रसिद्ध दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन करता था तब उसे उनकी स्थापनाएँ अकाट्य प्रतीत होती थी, मगर वास्तविक जीवन से मिलान करने पर

---

1. बदी उज्जमाँ, एक चूहे की मौत (नई दिल्ली, प्रवीण प्रकाशन, 1979), भूमिका।

वे तारा के 'पैक' की तरह बिखर जाती थी। इसलिए जोन्स की मान्यता है कि—"एक बड़े सर्जनात्मक लेखक की यह खूबी होती है कि वह दार्शनिक या वैचारिक प्रश्नो को किसी वाचक अथवा किन्ही पात्रों की जुबानी सुनवाता भर नही; बल्कि ये प्रश्न उसकी रचनाओ की बनावट और बुनावट में गहराई से स्थलित रहते हैं, वहीं से उभरते और अभिव्यक्त होते हैं।"[1] उनके अनुसार दॉस्तॉयव्स्की ऐसा ही एक बडा लेखक था। उसने तनावपूर्ण स्थितियो की विसगतियो को अग्रभूमि में लाकर सगति को खोजना चाहा था, मगर अद्भुत विचार-प्रक्रिया के कारण उसका लेखन अलग-अलग देशो मे अलग-अलग धरातल पर ग्रहण किया गया। पश्चिम मे उसे फ्रायडियन तथा फ्रायडोत्तर मनोविज्ञान का, या सर्वसत्तावाद (टोटेलियरनिज्म)का, या धार्मिक चिन्तन का अग्रदूत माना गया; पूर्वीय यूरोप ने उसे सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न मे गहरी दिलचस्पी रखने वाला मानवतावादी लेखक कहा; रूस मे वह उस शोषण-विरोधी के रूप मे याद किया जाता है जिसने, साइबेरिया-निष्कासन से लौटने पर, राजनीति एव धर्म सम्बन्धी प्रतिक्रियात्मक विचारो का समर्थन किया था। इसी प्रकार हिन्दी मे मुक्तिबोध को कुछ लोग मार्क्स-वादी, कुछ नया अस्तित्ववादी और कुछ विचारधारा विशेष से निरपेक्ष मानते हैं। वास्तव मे यह अभिमत-वैविध्य इन दोनो रचनाकारो की वैचारिक सामर्थ्य और ताज़गी का प्रतीक है।

3 4 इसलिए पॉवलॉव जब विचारक और रचनाकार मे अन्तर करते हैं तब उनका मतलब रचना-प्रक्रिया से विचारों को विदा करना नही होता। याकोव्लेव के शब्दो मे—"कलाकारो और विचारको की तुलना करते समय उन्होंने ठीक कहा था कि तमाम कलाकार तमाम कलारूपो मे यथार्थ को तोड़ते नही, उसका समग्र आकलन करते हैं। उनके विपरीत, विचारक पहले यथार्थ का विखण्डन करते हैं, उसका पजर बना देते हैं और फिर उसके अवयवो को इकट्ठा करके उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं। कलात्मक प्रतिबिम्बन को जो बात विशिष्ट बनाती है वह यह है कि कलाकार में ससार को विविधता से विचारित करने और अपने युग की नब्ज़ पकडने की कुशलता होती है।"[2]

3 5 जो लेखक अपनी रचना-प्रक्रिया में यथार्थ से विमुखता का परिचय देते हैं, उनमे भी वास्तविकता का वायवीय अथवा अतिभावनात्मक अनुकूलन करने की प्रवृत्ति दिखायी देती है। मिसाल के तौर पर 'आँसू' के रचनाकार प्रसाद की सीमा यह है कि वह एक ऐसी वास्तविकता से दो-चार हो रहे है जो विचारो को कर्म-क्षेत्र मे कूदने नही देती, फिर भी वह उन्हे बहुत प्रिय है। वह हताशा की 'ग्लोरिफाइड' वास्त-

---

1. एम० वी० जोन्स, दास्तायव्स्की : दि नॉवेल ऑफ डिस्कार्ड (लन्दन, पॉल एविक, 1976), भूमिका।
2. ई० जी० याकोव्लेव, ऑन दि इमोशनल एण्ड रैशनल नेचर ऑफ आर्टिस्टिक क्रिएशन, मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 216।

विकता है जो बीते हुए कल को स्मृति-महान बनाती है और आने वाले कल के तोरण को खोलना नही चाहती। इसी प्रकार इन्द्रनाथ मदान अगर 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्गों को बहुत कमजोर मानते हैं तो इसलिए कि उनमें दार्शनिक विचारो का रचनात्मक स्खलन नही है; प्रसाद का विचारक-दार्शनिक उनके रचनाकार पर यहाँ बहुत हावी हो गया है। इस प्रकार 'आँसू' और 'कामायनी' के अन्तिम तीन सर्ग—रचनात्मक विचारण के दो आत्यन्तिक छोर हैं। इसलिए 'साहित्य और विचार' के सन्दर्भ मे रेने वेलेक और आस्टिन वारेन का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि रचना की प्रक्रिया मे मनोवैज्ञानिक या सामाजिक या दार्शनिक सत्य का कोई कलागत मूल्य नही होता, बल्कि कलागत मूल्य ही उन्हें रचना मे अर्थवान् बनाता है। "दर्शन, वैचारिक वस्तु, यदि ठीक सन्दर्भ मे हो तो उससे कलागत मूल्यों में वृद्धि होती मालूम होती है क्योंकि इससे संश्लिष्टता और सगति जैसे कलामूल्यो की पुष्टि होती है। वैचारिक अन्तर्दृष्टि से कलाकार की पैठ बहुत गहरी हो जाती है और वह अपने विषय के मर्म मे पहुँचने मे समर्थ होता है। लेकिन ऐसा नही भी हो सकता। यदि कलाकार विचारो को पचा न सके तो उनकी अधिकता उसके लिए बाधक सिद्ध होगी।"[1]

1 4. विचारण और साहचर्यात्मक (एसोसिएटिव) चिन्तन

वैचारिक निर्वैयक्तीकरण का एक महत्वपूर्ण साधन है साहचर्यात्मक चिन्तन। सिर्फ महान विचारों से किसी महान रचना का जन्म नही हो सकता, बल्कि, जैसा कि रेने वेलेक और आस्टिन वारेन ने कहा है, उन विचारो का पूरी रचना-प्रक्रिया मे विलेय होने की क्षमता रखना जरूरी है। इस क्षमता का विस्तार ही साहचर्यात्मक चिन्तन है। "इस चिन्तन को चेतनस्तरीय रचनात्मक विचारण के अन्तर्गत विचारों अथवा सम्प्रत्ययो का शृंखलन (लिंकेज) कहा जा सकता है। सादृश्य, वैपरीत्य, संसक्ति (कांटिगुइटी), वैषम्य आदि के कारण कोई एक विचार या सम्प्रत्यय, किसी दूसरे विचार या सम्प्रत्यय या उनके एक सिलसिले तक की माँग करता है। कलात्मक बिम्बन की अनेकार्थक प्रकृति का एक बड़ा कारण यह भी है कि उसमें कलाकार द्वारा सकलित सारी सामग्री का समावेश रहता है—सामग्री जो बड़ी मात्रा में, समृद्ध साहचर्यों के आधार पर उपलब्ध होती है।"[2]

4 1 साहचर्यात्मक चिन्तन के कारण ही रचनाकार उपमाओं के धरातल पर विचार करता है। इसी नए उपमाओं को किसी रचना का महज 'कलापक्ष' नही समझना चाहिए। सोचने के उपमा-परक ढंग से रचनाकार यथार्थ पर सरसरी नजर नही डालता,

1. रेने वेलेक और आस्टिन वारेन, साहित्य-सिद्धान्त (इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन), पृ० 165।
2. ई० जी० याकोव्लेव, वही, पृ० 222।

बल्कि उसके सार तक पहुँचने का कलात्मक उपक्रम करता है। विचारण की प्रक्रिया को प्रवाहशीलता भी इसी से प्राप्त होती है। इसी से चिन्तन में नवलता और स्वतन्त्रता का समावेश होता है। मिसाल के तौर पर प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन के रचनाकारों को हम प्रायः एक ही विचार-शिविर में रखकर देखते हैं। और बातों में नही तो कम-से-कम उनके सामाजिक सरोकारों में समानता अवश्य देखी जा सकती है। "प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है, यह एक ऐतिहासिक सचाई है।"[1] चिन्तन के आयाम की इस समानता के बावजूद क्या हम यशपाल, रांगेय राघव, नागार्जुन, भारतभूषण अग्रवाल, राहुल सांकृत्यायन, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, अमृतराय आदि के साहित्य को एक-दूसरे से भिन्न नही मानते? रांगेय राघव के साथ रामविलास शर्मा की वैचारिक टकराहट का कारण क्या था? स्पष्ट है कि विचारधारा के समान-सदर्भ को भी इन्होने साहचर्यात्मक चिन्तन के स्तर पर इस ढग से विकसित किया है कि ये एक-दूसरे से भिन्न ही नही, टकराते हुए भी प्रतीत होते हैं।

4 2 रचनात्मक विचार-प्रक्रिया में साहचर्यों के महत्व को मनोविज्ञानियो ने खुलकर स्वीकार किया है। वालच और कॉगन ने उच्चकोटि के सर्जक साहित्यकारो और अन्वेषको के आत्मविश्लेषी साहित्य की गहरी मनोवैज्ञानिक पड़ताल के उपरान्त यह निष्कर्ष दिया है कि इन सब का साहचर्यात्मक स्वातन्त्र्य और वैशिष्ट्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि साहचर्यात्मक चिन्तन ही सिसृक्षण का आधारभूत घटक है। उनकी दृष्टि मे तमाम रचना-क्षमता उस साहचर्यात्मक 'वस्तु' (कांटेंट) का नाम है जो रचनाकार मे बहुतायत से तथा मौलिकता के आग्रह से विद्यमान रहती हैं, फिर भी रचनाधीन कार्य के लिए अतिप्रासगिक होती है। "लेखक का यह डर कि कही वह चुक न जाए, सगीतज्ञ की यह चिन्ता कि कही अगली संगीत-रचना अवरुद्ध न हो जाए, वैज्ञानिक की यह आशका कि कही वह अगले प्रयोग के लिए विचारशून्य न हो जाए—ये बाते सिद्ध करती है कि कितनी तीव्रता से रचनाशील लोग 'साहचर्यात्मक प्रवाह की समस्या से आतकित रहते हैं। आइस्टीन भी 'साहचर्यात्मक क्रीडा' या 'सयोजन (कॉम्बीनेशन) क्रीड़ा' का जिक्र करते हैं। इसमें व्यक्ति थोडा हटकर खड़ा हो जाता है और साहचर्यात्मक सामग्री को तल तक पहुँचने की स्वतन्त्रता मिल जाती है। अत हम यह प्रस्ताव रखना चाहते हैं कि रचना-प्रक्रिया को दो तत्वो मे समेटा जा सकता है—विशिष्ट एव विपुल साहचर्यात्मक 'वस्तु' का उत्पादन, और साहचर्य-कर्त्ता में क्रीड़ा परक वैकल्पिक कार्य-दृष्टिकोण का होना।"[2]

---

1. रामविलास शर्मा, प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ (आगरा, विनोद पुस्तक मन्दिर, 1957), पृ० 141।
2. वालच और कॉगन, ए न्यू लुक एट दि क्रिएटिविटी, क्रिएटिविटी (पूर्वोद्धृत),

4.3 इस प्रकार साहचर्यात्मक विचारण या 'साहचर्यवाद' एक मानसिक विधान है जिसमें कल्पना, स्मृति के साथ मिलकर, एक विचार को दूसरे विचार के उद्भव मे सहायता करती है। प्राचीन यूनानियों ने साहचर्य के तीन नियमों का उल्लेख किया था, जो अभी तक अमान्य सिद्ध नही किए जा सके हैं। पहला है समीपस्थता (कॉंटिगुइटी); जैसे किसी अपंग सैनिक को देखकर उसकी स्वस्थ जवानी और युद्धभूमि से सम्बन्धित विचार मस्तिष्क मे तूफान मचा सकते हैं। दूसरा है समानता (सिमिलेरिटी), जैसे मुक्तिबोध की मौत से रेणु की मौत की ओर ध्यान जा सकता है और यह विचार उभर सकता है कि कलाकारो के प्रति राज्य का रवैया या दायित्व कैसा होना चाहिए। तीसरा है विषमता (कांट्रास्ट); जैसे धरती से फूटता हुआ नन्हा बीज, एक बड़ी क्रान्ति का कल्पित विषय बन सकता है,

5. विचारण और सामान्यीकरण

रचनात्मक विचारण को वस्तुनिष्ठ प्रसार देने मे सामान्यीकरण की क्रिया का विशेष हाथ होता है। स्वयं रचनाकार इस क्रिया से अभिज्ञ हो सकता है या नही भी, मगर 'विशिष्ट' को 'सामान्य' बनाकर कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करना सिसृक्षण का चरम उद्देश्य होता है। रचनाकार के विचार-तंत्र मे सामान्यीकरण का आग्रह सदैव बना रहता है क्योंकि अनुभूत जीवन-यथार्थ के सामान्यीकरण ही का दूसरा नाम सिसृक्षा है। कहने को हम इस सामान्यीकरण का सर्वाधिक सम्बन्ध सिसृक्षण के विचार-स्तर के साथ जोड़ते हैं लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शरीरविज्ञान और 'सूचना-सिद्धान्त' के अनुसार मनुष्य मे बाह्य ससार से प्राप्त सूचनाओं को चुनने या सीमित करने और यथार्थ सम्बन्धी प्रभावो को सामान्यीकृत धरातल पर ग्रहण करने की योग्यता ऐन्द्रिक संज्ञान के स्तर पर भी होती है। सेवास्त्यानोव ने लेनिन के हवाले से स्पष्ट किया है कि ऐन्द्रिय सवेदन के प्रथम चरण पर भी 'गुणात्मकता' से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि यहाँ विषय और विषयी का विशेष रिश्ता, अचेतनतया, रुचियो-विरुचियो की मूल्यांकन परकता पर निर्भर करता है। प्रत्यक्षण की अवस्था पर तो सामान्यीकरण की भूमिका को समझना और भी ज़रूरी होता है। "कलात्मक सामान्यीकरण की वस्तुनिष्ठ पूर्वापेक्षाओ का पता चलाने के लिए यह महत्वपूर्ण है कि प्रत्यक्षण-स्तरीय सामान्यीकरण की विशेषताओं को ध्यान में रखा जाए—खास तौर पर 'विकासशीलता के सिद्धान्त' को, जिसमे गत्यात्मक बिम्ब-निर्माण, काल-सापेक्ष ससक्ति, संवेगो, और समान सत्व द्वारा अवयवो के सश्लेषण की विशेषताएँ अन्तर्विष्ट रहती है। प्रत्यक्षण के स्तर पर सामान्यीकरण की विशेषता इतनी आधारभूत है कि बहुत से शोधकर्त्ताओ ने—जिनमे मनोविज्ञानी सबसे आगे है—'उत्पादनशील चिन्तन' के सादृश्य पर 'उत्पादनशील

प्रत्यक्षण' का इस्तेमाल शुरू कर दिया है।"[1] प्रत्यक्षण के दौरान, सामान्यीकरण की प्रवृत्ति के कारण ही, एक ही विषय अनेक बिम्बों का आदि-प्ररूप बन जाता है।

5.1 लेकिन विचारण के स्तर पर सामान्यीकरण की भूमिका सर्वाधिक रचनात्मक होती है। सेवास्त्यॉनोव के अनुसार इस अवस्था के सामान्यीकरण वे निरीक्षण होते हैं जो कलाकार के रचनात्मक इरादे के स्पष्टीकरण की दिशा में पहला कदम कहे जा सकते हैं। यहाँ पर विचार, कलाकार के सामाजिक अनुभव और सज्ञान-लब्ध यथार्थ के बीच, सयोजक तत्व बन जाता है। "अमूर्त अवधारणात्मक सामान्यीकरण की अवस्था रूपान्तरकारी कार्यिकी द्वारा स्पष्ट होने लगती है। सज्ञान की इस प्रक्रिया मे सकेत-बिम्ब (सिगनल इमेज) का सकेत-विचार में रूपान्तरण हो जाता है। विशिष्टतया सामान्य की परस्पर-विरोधी एकता, 'सार्वभौम' में बदल जाती है।"[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमे कलाकार की सर्जनात्मक कल्पना का विशेष योगदान रहता है जो उसके तमाम सचित ज्ञान को विचारण की नवलता से निर्माण-सक्षम बनाती है। सामाजिक यथार्थ इसी प्रक्रिया से कलात्मक यथार्थ मे रूपान्तरित होता है।

5.2 सामान्यीकरण की गुणवत्ता अथवा रचनात्मक क्षमता ही वह महत्वपूर्ण बिन्दु है जो हमे यह सोचने पर बाध्य करता है कि सिसृक्षण को समाजपरक कलात्मक आवश्यकता भी एक मुख्य निर्धारक तत्व होता है। मार्क्सवादी विचारक इसीलिए कहते हैं कि कोई रचनाकार यदि सामाजिक महत्व की रचना करना चाहता है तो वह मनमर्जी नही कर सकता क्योंकि उसकी मर्जी भी समाज-सापेक्ष होती है। वह सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्यों को कलात्मक विचारण से रोचक बनाकर प्रस्तुत करता है। वह जीवन के पहलुओ को एक ऐसी नयी नजर से देखता है जिसे उससे पहले की सामाजिक चेतना मे विकसित करने का प्रयास नहीं किया था। अत उसकी विचार-प्रक्रिया में तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने या कोरी कल्पना से अन्वेषित करने की प्रवृत्ति नही, उद्घाटित करने या रहस्य से बाहर निकालने की प्रवृत्ति सक्रिय होती है। इससे यह नही समझ लिया जाना चाहिए कि सामान्यीकरण मे रचनाकार की व्यक्तिनिष्ठ खूबियो का —उसकी गुणशीलता, बिम्ब-फतासी के निर्माण की कलात्मक क्षमता, उसके जीवनानुभव, राजनैतिक विचारो और नागरिक साहस—आदि का अवमूल्यन किया जा रहा है। इसका मतलब यह है कि वह इन खूबियों के साथ धीरे-धीरे अपने विचारण को सामाजिक महत्व के मुद्दो पर केन्द्रित करता है; अगर नही करता तो उसका सामान्यीकरण अधूरा रह जायेगा। इस प्रकार "कलात्मक रचना-व्यापार में सामान्य और विशिष्ट, एक प्रकार से अविभाज्य होते हैं। इसमे दो परस्पर-सम्बद्ध प्रक्रियाएँ साफ देखी

---

1. ई० आई० सेवॉस्त्यानॉव, दि थिअरी ऑफ रिफ्लेक्शन एण्ड दि आर्ट्स, मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 146।
2. वही, पृ० 147।

जा सकती हैं : यथार्थ के तथ्यों का प्ररूपण, अर्थात् उनके सत्व की खोज; और 'ध्यवती-करण,' अर्थात् सत्व की आधारभूत ठोस यथार्थता मे वह 'वापसी' जो कलात्मक बिम्बो में प्रव्यक्त होती है।"[1] दोनो ही मे सामान्यीकरण की प्रचुरता रहती है।

5 3 सामान्यीकरण ही वह साधन है जिससे रचनाकार तो क्या, मानव मात्र को अतीत, वर्तमान और भविष्य में फैलने की सार्थकता उपलब्ध होती है। "प्रकृति से ही मनुष्य सामान्यीकरण के बिना रह नही सकता; बिना सदर्भ के, बिना अतीत और भविष्य के, वह क्षण-प्रतिक्षण जी नही सकता। वह अपनी एकतात्मक क्षमता—अर्थात् चिन्तन की योग्यता को खत्म करके पशुओ की चेतनापरास मे नहीं पहुँच सकता। जिस प्रकार पशु-चेतना को अमूर्तनो की समझदारी तक नही खीचा जा सकता, उसी प्रकार मानव-चेतना को भी केवल तात्कालिक ठोसो के आकलन तक सिकोड़ा नहीं जा सकता।"[2] इस वक्तव्य की लेखिका एन रैंड के अनुसार रचनाकार, अतिसाधारण लोगों की तरह, इस सामान्यीकरण की प्राकृतिक मशीन को खाली नही पिसने देता, अपने ऊपर कब्जा नही जमाने देता; बल्कि अपनी विचारणा या सोद्देश्य सज्ञानात्मकता द्वारा उसका वृहत्तर इस्तेमाल करता है।

5.4 अज्ञेय[3] ने 'सामान्यीकरण' के उपर्युक्त रचनात्मक अर्थ को नकारा है लेकिन मुक्तिबोध ने अपने रचना प्रक्रियात्मक अध्ययन में इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। यह मानकर कि साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना (या कल्पनात्मक विचारणा) द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है, कि पुनर्रचित जीवन यदि वास्तविक जीवन से सिर्फ ऊपरी साम्य रखता है तो बेकार होता है, वह लिखते है—"पुनर्रचित जीवन और वास्तविक जीवन के बीच जो अलगाव है, उनकी जो पृथक-पृथक स्थिति है, उस अलगाव और पृथक स्थिति के कारण ही, कला के भीतर के सारे मूर्त्त विधान के बावजूद, उस कला मे मूलबद्ध रूप से एक अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण पैदा होता है। यह अमूर्तीकरण इसलिए उत्पन्न होता है कि जीवन की पुनर्रचना, जिये और भोगे गए जीवन से सारत एक होते हुए भी, उस से कुछ अधिक होती है।'''वह पुनर्रचना जिये और भोगे गए या जिये और भोगे जाने वाले जीवन की वास्तविकताओं के साथ ही तत्समान सारी वास्तविकताओ और तत्सदृश सारी सम्भावनाओ का भी प्रतिनिधित्व करती है। इसलिए उसमें सारभूत 'विशिष्ट', विकसित और परिपक्व होकर, सामान्य' बन जाता है। इसी को हम प्रातिनिधिकता कहते है।"[4] इस प्रकार विचारो के

---

1. ए० एफ० एरिमेयेव दि एपिस्टिमॉलॉजिकल लिमिट्स ऑफ दि क्रिएटिव इंटर-प्रेटेशन ऑफ रिअलिटी इन आर्ट (वही), पृ० 153।
2. एन रैंड, दि रोमांटिक मेनिफेस्टो (न्यूयार्क, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, 1975), पृ० 36।
3. अज्ञेय, अन्तरा (पूर्वोद्धृत), पृ० 14।
4. मुक्तिबोध रचनावली भाग-चार (पूर्वोद्धृत), पृ० 218-19।

'सामान्यीकरण' का अर्थ वस्तुतः उनका 'प्रतिनिधीकरण' ही ठहरता है। एक अन्य स्थान पर मुक्तिबोध ने साहित्यालोचन के सदर्भ में, यह स्पष्ट किया है कि आत्मबद्धता चाहे आलोचना की हो या सर्जनात्मकता की, उसके भारी खतरे होते हैं। "मूल समस्या सामान्यीकरण की है।…सामान्यीकरण समान तत्वो को, समान रूप से प्राप्त समान तत्वो को, ग्रहण करने का फल है। सौन्दर्य सम्बन्धी परिकल्पना किसी-न-किसी सामान्यीकरण के आधार पर ही उपस्थित होती है।"[1] इसी प्रसग मे वह 'विशिष्टो' के सवाल को भी उठाते हैं। उनके अनुसार जो सामान्यीकरण 'विशिष्टो' को समाविष्ट या व्याख्यायित नही कर पाते उन्हें अदोष नहीं कहा जा सकता।

6. विचारण और समालोचन

रचनात्मक विचारण को रचनाकार के भीतर बैठा हुआ आलोचक भी सन्तुलन तथा सामान्यीकरण की दिशा में अग्रेषित करता रहता है। रचना-कर्म में लीन रचनाकार कहीं-न-कहीं आत्मालोचन भी करता है और अन्यालोचन भी। इसीलिए लगभग सभी लेखक रचना-प्रक्रिया में आलोचना के महत्व को स्वीकार करते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि दूसरे आलोचको द्वारा की गई उनकी पूर्ववर्ती आलोचना भी उनके नव्य सर्जनात्मक कृत्य को प्रतिक्रिया या सहमति के धरातल पर प्रभावित करती है। उन्हे अपने आलोचको से जो गलत समझदारी की शिकायत अक्सर रहती है उसका कारण यही होता है कि उनकी आलोचनात्मक चिन्ता-धारा दूसरों की आलोचना-दृष्टि से टकरा जाती है। इस टकराहट को कम महत्वपूर्ण नही समझना चाहिए क्योंकि इसी के कारण साहित्य में लेखकीय आलोचना का सूत्रपात हुआ है। पश्चिम में वर्जीनिया वूल्फ, जेम्स, पाउण्ड, इलियट आदि ने स्वीकार किया है कि कुछ रचनाकार अपनी विकसित आलोचना-क्षमता के कारण ही दूसरो से बडे रचनाकार हैं। टी०एस० इलियट तो रचनाकार द्वारा अपने रचना-कर्म मे प्रयुक्त आलोचना को 'पवित्रतम' आलोचना कहते है। और इसमें सन्देह नही कि इलियट तथा पाउण्ड ऐसे दो लेखक है जो इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपने आलोचना-पूर्ण विचारो के कारण साहित्यिक आधुनिकतावाद की धारा और तर्कशीलता के समर्थतम व्याख्याता हैं।

हिन्दी मे भारतेन्दु और प्रेमचन्द को अगर युग प्रवर्तक लेखक माना जाता है तो इसका श्रेय सिर्फ उनके सामाजिक दृष्टिकोण को नही जाता, बल्कि उस आलोचना-दृष्टि को भी जाता है जो उनके युग की अस्वस्थ वैचारिकता पर रचनात्मक प्रहार करती है और नये रचनात्मक विचारण को दायित्वबोध के स्तर पर प्रतिष्ठित करती है। ध्यान देने की बात है कि उनकी कृतियो अथवा उनके आलोचनात्मक गद्य मे उपलब्ध होने वाली समीक्षा-दृष्टि का मुख्य लक्ष्य 'सौन्दर्यबोधात्मक आदर्श' की तलाश है—ऐसा आदर्श

---

1. मुक्तिबोध रचनावली—भाग 5, पृ० 79।

जिसमें सामाजिक मनुष्य के जीवन-विषयक विचारों की उच्चता प्रतिध्वनित हो सके। शिवरानी जी ने अपने संस्मरणों मे लिखा है कि सन् 1935 मे उन्होंने प्रेमचन्द को कांग्रेस की ओर से आगामी कौंसिल के चुनावों मे खड़े होने की सलाह दी थी। तब प्रेमचन्द ने कहा था—"मेरे जीवन का ध्येय कौंसिल मे जाने का नहीं है। मेरा काम कौंसिल में काम करने वालों की समालोचना करना है।···जो लेखक का काम है वही मैं करूँगा। आखिर वे लोग जो काम करेंगे तो उनकी समालोचनाएँ कौन करेगा?··· समालोचक का काम बड़ी जिम्मेदारी का होता है। इसलिए जिसकी समालोचना करनी हो उसका पहले पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, तब जाकर किसी पर कलम उठाना चाहिए। यही तो सबसे बड़ा लेखक का गुण है।"[1]

7. विचारण की प्रासंगिकता

विचारों की प्रासंगिकता का प्रश्न भी, अधिकांशत. विचारण की प्रक्रिया मे समाविष्ट आलोचना-दृष्टि के कारण ही रचनात्मक स्तर पर हल होता है। यह दृष्टि तात्कालिक स्वीकार या नकार द्वारा उतनी चालित नहीं होती जितनी कि परम्परा और आधुनिकता की संघर्षशीलता से विकसित मूल्य-कसौटियो द्वारा। रचनाकार को ये कसौटियाँ किसी विचार-धारा विशेष के दोहन या अनुकूलन से भी प्राप्त हो सकती हैं और स्वतन्त्र चिन्तन से भी। इतना निश्चित है कि इनका लक्ष्य समकालीन मानव की बेहतरी है। कोई भी सार्थक रचनाकार बौद्धिक व्यायाम के लिए विचारो का अभ्यास एवं प्रतिपादन नही करता। वह तो मानवत्व को प्रतिष्ठित करने वाली विचार-सरणियो से एक व्यापक हितैषिता तक पहुँचता है। अज्ञेय के अनुसार उसका यह कर्म 'एक परोक्ष सत्ता से जुड़कर' स्वाधीन हो जाता है। "यही वह आधारभूमि है जिस पर खड़े होकर हम प्रासंगिकता का प्रश्न पूछ सकते है। सब प्रासंगिकताओं के मूल मे एक प्रासंगिकता है, क्योंकि सब मूल्यों के मूल मे एक अभिमूल्य है स्वाधीनता। जो कुछ स्वाधीनता को बढ़ाता है, पुष्ट करता है, उसे स्थायित्व और सुरक्षा देता है, वह सब मूल्यवान् है और प्रासंगिक है; जो वैसा नहीं करता, वह प्रासंगिक नही है।"[2] 'स्वाधीनता' ही को प्रासंगिकता की कसौटी मानकर चलने वाली इस मान्यता से दूसरे रचनाकारो और विचारकों की तीव्र असहमति हो सकती है; लेकिन यह मान्यता शुभाशुभ की आलोचनात्मक समझदारी का परिणाम है, किसी पिलपली आस्था का नहीं—इसी की ओर संकेत करना अभीष्ट है।

---

1. शिवरानी देवी प्रेमचन्द, प्रेमचन्द घर में (दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, 1956), पृ० 233-34।
2. सच्चिदानन्द वात्स्यायन, अद्यतन (नई दिल्ली, सरस्वती विहार, 1977), पृ० 164।

7 1. रचनात्मक विचारण की प्रक्रिया से अगर ऐसे विचार छनकर सामने आते हैं जिनसे रचनाकालीन सामाजिक मनुष्य को जीने का बल नही मिलता, उसे अपनी स्थिति के यथार्थ को समझने की दृष्टि नही मिलती, उसकी ज़रूरतों से जिनका कोई सम्बन्ध नही होता, जिनमे उसमे स्थितियों को बदलने की कामना की बजाए नियति को स्वीकारने की विवशता जागती है, जो उसे कोई नया सपना नही दिखाते, यहाँ तक कि उसके सौन्दर्यबोध को भी नही बहलाते—उन विचारो को प्रासंगिक नही कहा जा सकता। विचारो की प्रक्रिया में जो कुछ भी मानव-निरपेक्ष है, रोज़-रोज़ जीते-मरते मनुष्यो से आँख चुराता है, वह सब-कुछ अप्रासगिक है। इसीलिए यह मानना पडता है कि हर रचनाकार अपने-अपने ढंग से मानवतावादी होता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात 'मानवतावादी' मात्र होने मे नही, इस तथ्य मे निहित रहती है कि उसके मानवतावाद की वैचारिक धुरी कौन-सी है? इस प्रसंग मे फिर मुक्तिबोध को याद करना स्वाभाविक है। उन्होने लिखा है—"असल में मेरे नज़दीक तो कई मानवताएँ है, एक मानवता नही। जब गलियो से आये-दिन आदमी भूने जाते हैं तब किस मानवता की सेवा आप करना चाहते हैं? सरकार और पुलिस की मानवता की, या गोली से भूनी जाने वाली मानवता की?"[1]

अत जो मानवता निराकार और अमूर्त है, जो उत्पीड़क और उत्पीडित दोनो को 'मानव' मानकर अपनी पक्षधरता को स्पष्ट नही करती, उसे वह तत्काल नमस्ते कहते हैं। यही कारण है कि, अन्तिम निष्कर्षों के आधार पर वह तॉलस्तॉय और प्रसाद के मानवतावाद मे भारी अन्तर करते हैं। उनके अनुसार 'कामायनी' का सर्वसमर्थ पात्र इड़ा है; मनु मानवतावादी नही, प्रसाद जी के व्यक्तित्व की भीतरी प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि चरित्र है, "श्रद्धावाद घनघोर व्यक्तिवाद है—ह्रासगत पूँजीवाद का जनता को बरगलाने का एक ज़बरदस्त साधन है।"···विश्व के मानवतावादी साहित्य मे प्रसाद की 'कामायनी' का स्थान उपेक्षणीय है; और चूँकि हमारा यह विश्वास है कि मनुष्य को भीतर से हिला देने वाला, तथा साथ ही उसके उच्चतर रूपान्तर को विकसित करने वाला साहित्य वस्तुतः मानवतावादी साहित्य ही हो सकता है, इसलिए हमे यह कहने के लिए बाध्य होना पडता है कि प्रसाद जी 'कामायनी' के द्वारा, साहित्य के सर्वोच्च शिखर पर चढते-चढते बीच ही मे लुढक पडे।"[2] मुक्तिबोध के अनुसार मानवतावादी विचारो का लेखक, अगर वह सही अर्थो मे मानवतावादी है, मनुष्य की ताकत और कमजोरी का, कामायनीकार जैसा, वायवीय रूपान्तर नही करता। "जिन भौतिक, व्यक्तिगत-सामाजिक वास्तविक सन्दर्भो से कमज़ोर पात्र कमज़ोर होते है उन्ही सन्दर्भो से उनका रूपान्तर भी होता है।"[3]

1. मुक्तिबोध-रचनावली, भाग चार, पृ० 31।
2. वही, पृ० 237-38।
3 वही, पृ० 237।

8. विचारण और लेखक की स्वाधीनता का प्रश्न

रचनात्मक विचारण मे रचनाकार की स्वतन्त्रता का प्रश्न भी विचारणीय है। अज्ञेय-समर्थित 'स्वाधीनता' का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हिन्दी की रचनाकारिता मे इधर इस प्रश्न को '*लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता*' के नाम पर बहुत महत्व दिया गया गया है। जिन रचनाकारों ने इस प्रश्न का उत्तर देना चाहा है उनमे फणीश्वर नाथ रेणु की उस सिद्धान्त-व्यवहार-एकता का प्रायः अभाव है जिसके वशीभूत कोई *निर्मम आत्मान्वीक्षक-रचनाकार बडी-से-बडी सरकारी उपाधि* को भी लौटा देता है। रेणु को हीरो मानने वालो मे स्वय रेणु-समान गम्भीरता का अभाव है। कुल मिलाकर स्थिति यह है रेणु-समर्थक और अज्ञेय-समर्थक—दोनों शिविरो के लेखक-विचारक रचनात्मक विचारण के *स्वातन्त्र्य का आँख मूँद कर* पक्ष लेते हैं। महीप सिंह द्वारा सम्पादित 'लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता' नामक पुस्तक मे जैनेन्द्रकुमार, विष्णुप्रभाकर, रामदरश मिश्र, प्रभाकर माचवे आदि ने 'स्वाधीनता' को स्वेराचार की सीमा तक महत्व दिया है; सव्यसाची ने स्वाधीनता की जरूरत जनवादियो के लिए अधिक महसूस की है; भीष्म साहनी का मत है कि जीवन से प्रतिबद्ध लेखक की भीतरी तडप स्वाधीनता-विरोधी व्यवस्था में भी अपनी बात को साफ-साफ कहने का ढग ढूँढ ही लेता है कि न तो हर सत्ता काली होती है और न हर लेखक को दूध का धुला समझना चाहिए।

इस प्रश्न पर सर्वाधिक सन्तुलित विचार हंसराज रहबर ने किया है। एक समय 'एमरजेंसी' का पक्ष लेने वाले और दूसरे समय वैचारिक स्वाधीनता की दुहाई देने वाले लेखकों की दोहरी मानसिकता पर प्रहार करते हुए उन्होंने लिखा है कि इतिहास-विकास की प्रक्रिया और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता को अलगाया नहीं जा सकता; अगर इतिहास के *विकास-क्रम मे मानवेच्छा का बहुत दखल नही है* तो पूर्ण *वैचारिक स्वाधीनता* कोई खाने-ओढने की चीज नही होती, कुछ समस्याएँ होती हैं जिन्हें स्वाधीनता द्वारा ही हल किया जा सकता है। अगर लेखक ऐतिहासिक स्थिति को समझकर, देश की दबी हुई जन-चेतना के स्तर को निर्भीकता से ऊँचा उठाना चाहता है तो उसके लिए स्वाधीनता का अपार महत्व है। "*अगर लेखक मे युग-सत्य को समझने की बुद्धिया इच्छा* नही और उससे आँख मिलाने का साहस नहो, वह सिर्फ देश को स्वाधीन बताकर··· राजनीति से अलग रहने का दर्शन बघार कर भ्रम-भ्रान्तियाँ फैलाना चाहता है तो उसके *लिए अभिव्यक्ति की स्वाधीनता* का कोई महत्व नही।"[1]

8.2. वैचारिक स्वाधीनता का जवाब पाने के लिए हमें भारतेन्दु से होकर

---

1. हंसराज रहबर, इतिहास-विकास की प्रक्रिया और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, सम्पा० महीप सिंह (पूर्वोद्धृत), पृ० 100।

प्रेमचन्द और प्रेमचन्द से फिर मुक्तिबोध के पास जाना पड़ता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के ये तीन महत्त्वपूर्ण वैचारिक स्तम्भ हैं। तीनों की स्वाधीनता को ज़ब्त करने की कोशिश की गई, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उनकी रचनाओ में उच्चकोटि की वैचारिक स्वतन्त्रता नही है। असल मे तीनो ने समझ लिया था कि स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष और इतिहास की स्थितियों के अनुरूप होती है; अतः उस सापेक्षता और स्थित्यनुरूपता में तीनों स्वतन्त्र थे। तीनो ने वैचारिक स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति की है लेकिन अपनी-अपनी रीति से और अपने-अपने समाज-राजनैतिक काल के तेवर को पहचान कर। वे हवा मे नही उड़े हैं, यथार्थ के ठोस धरातल पर खड़े होकर स्वाधीन विचारो का युगानुरूप आदर्शीकरण करते हैं। भारतेन्दु की 'कवि-वचन-सुधा' सन् 1885 में बन्द हुई या ज़ब्त कर ली गई मगर 'भारत दुर्दशा' नाटक के पाँचवें अंक[1] से पता चलता है कि अंग्रेज़ सरकार बहुत पहले से इस पत्रिका का अन्त चाह रही थी—और भारतेन्दु इस तथ्य से पूरी तरह अभिज्ञ थे। उनके पास इसके सिवा कोई चारा नही था कि सात समन्दर पार बैठी हुई राजरानी विक्टोरिया का गुण-गान करते और उस गुणगान की ओट में भारत की विडम्बनाओ का स्वतन्त्र चित्रण करते। इसी प्रकार 'सोज़े वतन' ज़ब्त होने के बाद प्रेमचन्द भी सावधान हो गए थे। बाद की रचनाओ मे उन्होंने अंग्रेज़ों के विरुद्ध सीधा शहीदाना अदाज़ अपनाने की बजाए, अपनी रीति से, उपनिवेशवादी व्यवस्था का ज़ोरदार खण्डन किया और राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन के रचनात्मक समर्थन में उस वैचारिक स्वाधीनता का परिचय दिया जो आज के आज़ाद लेखको में भी दुर्लभ हो गई है।

भारत स्वतन्त्र होने के पन्द्रह वर्ष बाद मुक्तिबोध की 'भारतः इतिहास और सस्कृति' पर मध्यप्रदेश सरकार ने पाबन्दी लगा दी—ऐसी पाबन्दी कि मरणोत्तर प्रसिद्धि के कारण जब उनकी रचनावली का हाल ही मे प्रकाशन हुआ तब यह पुस्तक उसमे शामिल नही की गई 19 सितम्बर 1962 को पाबन्दी सम्बन्धी सरकारी गज़ट छपा था। मुक्तिबोध ने इस तिथि को अपने लेखक-जीवन की महान घटना माना है। लेकिन इसके कारण वह किसी भावुकता का शिकार नही हुए। 'रचनाकार का मानवतावाद' मे उन्होंने स्वीकार किया है—"कलाकार की स्वतन्त्रता समाज-सापेक्ष है, यह निर्विवाद है। सम्पूर्ण स्वतन्त्रता कहने भर की बात है। कलाकार को तो केवल यह देखना है—यदि वह मानव-धर्म और मानव-न्याय-बुद्धि की भावना रखता है (सब कलाकार ऐसे नही करते)—कि वह सर्वोच्च मानव-मूल्यों की, मानव-मुक्ति के लक्ष्य की स्थिति कहाँ पाता है···। दूसरे शब्दों मे, किस प्रकार के सोशल सेंकशन्स उसके अनुकूल हैं और किस प्रकार

---

1. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भारत-दुर्दशा, सम्पा॰ कृष्णदेव शर्मा (दिल्ली, अशोक प्रकाशन, 1977), पृ॰ 74।

के नहीं।"[1] विचारण की प्रक्रिया मे रचनाकार के *स्वातन्त्र्य* की वास्तविक स्थिति यही होती है।

9 रचनात्मक विचारण में अचेतावचेत की क्रियाशीलता

किसी विचार के अभ्युदय से लेकर उसके आदर्शीकरण और सामान्यीकरण तक की प्रक्रिया मे रचनाकार के अचेतावचेत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सिसृक्षु-व्यक्तित्व का विश्लेषण करते समय इस क्रियाशीलता को काफी स्पष्ट किया जा चुका है। सिसृक्षण के अध्येता के लिए यह समझना जरूरी है कि विचारण कोई मशीनी ढग की पूर्व-निर्धारित या पूर्णत: 'विचारित' प्रक्रिया नही है, उसमे 'अविचारित' या अचेतावचेत के स्तर पर विचारित मगर स्फुरणात्मक प्रतीत होने वाले दुर्व्याख्येय तत्वो का भी अविकल योगदान रहता है। मनोविज्ञानियो ने सिसृक्षण को मूलत. समस्या से समाधान की रचनात्मक विचार कार्यिकी मानकर उसके जिन क्रमिक सोपानो का प्रतिपादन किया है—जिनका विस्तृत विवेचन हम इसी अध्याय मे कर चुके हैं—उनमे से लगभग सभी की जडे रचनाकार के व्यक्तित्व के अचेत-स्तरीय तत्वो में है। उदाहरण के लिए, पहले 'उपक्रम काल' मे वे अन्त प्रेरणा से गृहीत 'समस्या' की बात करते हैं, जिसका अर्थ है किसी अवचेतनगत विषय का विचार-रूप मे अचानक उभर कर अग्रभूमि मे आ जाना। इससे सम्बन्धित सारी जानकारी का अधिकाश भाग भी अचेतन ही मे छिपा रहता है। कोई विशेष समस्या ही किसी को आकर्षित क्यों करती है, इसके भी बहुत से अदृश्य और अनजाने अचेतन-गत कारण होते है जिनमे सामूहिक अवचेत का आद्यबिम्बोत्परक सिद्धान्त महत्वपूर्ण माना जाता है। इसी प्रकार वैचारिक 'संकेन्द्रण' या 'सान्द्रण' का दूसरा चरण भी वस्तुत अचेत की शक्तियों को सचेत तक खीचने के विविध प्रयासो ही का दूसरा नाम है, जिसमे स्मरण और ध्यान से अधिकतम काम लिया जाता है। 'विनिवर्तन' का तीसरा चरण भी चेतन तथा अचेतन की सहयोगहीनता का परिणाम होता है। इसमे दोनो के सहयोग की अनजानी कामना ही विचारण की प्रक्रिया से अस्थायी स्थगन का कारण बनती है। पाँचवाँ चरण, 'अन्तर्दृष्टिकाल' तो विशुद्धत. अचेतन की गहराई से सम्बद्ध माना जाता है। यहाँ अवरुद्ध विचार-मार्ग अचानक किसी नामालूम शक्ति द्वारा खोल दिया जाता है और सामान्यीकरण का वास्तविक सन्दर्भ स्वयमेव उजागर हो उठता है। इस प्रकार 'सत्यापन' के अन्तिम चरण को छोडकर, विचार-प्रक्रिया के शेष सभी चरणो मे अचेतावचेत के तत्व क्रियाशील रहते है। यहाँ ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण तत्वो का उल्लेख किया जा रहा है।

---

1 मुक्तिबोध रचनावली—भाग 5, पृ० 363।

9.1. अप्रस्तुत पाठक/श्रोता/दर्शक की उपस्थिति

मनुष्य के प्रत्येक कर्म मे अपने से इतर किसी ऐसी सत्ता का बोध अवश्य बना रहता है जिसकी अभिप्रेरणा से, या जिसकी सेवार्थ, या जिससे पलायन के लिए, या जिसे बेहतर देखने आदि के उद्देश्य मे वह कर्म करता है। अगर वह ऐसा करेगा तो लोग क्या सोचेंगे, अपनों पर क्या प्रतिक्रिया होगी, उसकी आत्मा को क्या स्वीकार्य होगा, उसका ईश्वर तो अप्रसन्न नही होगा—ये सभी सवाल उस 'आत्मेतर' तत्व की अचेतन मे विद्यमानता के सूचक हैं। रचनाकार के सन्दर्भ मे वह आत्मेतर तत्व उसका अप्रस्तुत श्रोता, या पाठक या दर्शक होता है जो रचनात्मक कर्म के दौरान उसके मन मे बैठा रहता है मगर जिसकी उपस्थिति का सीधा आभास उसे प्रायः नही होता। तुलसीदास के 'स्वान्तः सुखाय' मे भी वह बैठा है क्योंकि उनकी वाणी सुरसरिता के समान उसी के हित के लिए समर्पित है। कहने का तात्पर्य यह है कि रचनात्मक विचारण का एक अदृश्य या अचेतन-स्तरीय निर्धारक तत्व है वह व्यक्ति या प्रमाता जिस तक रचनाकार के अनुभव को शब्दो के माध्यम से विचारो मे पुनस्सृष्ट होकर पहुँचना होता है। मजे की बात यह है कि अगर आप रचनाकारो से पूछें कि क्या रचते समय कोई पाठक-दर्शक उनके सामने रहता है, तो उनमे से अधिकाश का जवाब नकारात्मक होगा। इस शोध-प्रबन्ध के सिलसिले मे यह सवाल हिन्दी के कुछ समकालीन रचनाकारो से पूछा गया था। किसी ने जवाब दिया है कि—कोई भी नही रहता खुद को भी रखना मुश्किल होता है।"[1]

किसी का कहना है कि—"मैं स्वयं भी पाठक होता हूँ। लिखते समय पाठक के रूप में अपने लेखक की पड़ताल करता रहता हूँ। यही लेखकीय तटस्थता होती है।"[2] जो पत्रकार-लेखक है, उसके अनुसार—"सर्जनात्मक लेखन मे नही।"[3] किसी-किसी ने निश्चयात्मक 'अवश्य' भी कहा है।[4] निश्चयात्मक 'नहीं' कहने वालो की भी कमी नही है।[5] एक साहब कई विधाओं मे लिखते हैं, उनका अनुभव है कि—"नाटक लिखते समय दर्शक/श्रोता का ध्यान रहता है, पर वह भी सायास नही।"[6] किसी-किसी ने यह स्वीकार किया है कि—"अचेतन मे ज़रूर रहते होंगे।"[7] एक जवाब यह भी है कि—"मैं

---

1 गगा प्रसाद विमल, पत्र-प्रश्नोत्तरी द्वारा प्राप्त।

2 गिरिराज किशोर और मुद्राराक्षस, वही।

3. उमाकान्त मालवीय, वही।

4 श्रीरजन सूरिदेव, वही।

5 जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, रमेश बक्षी, जगदीश चन्द्र, मृदुला गर्ग, रमेश चन्द्र शाह, नरेन्द्रमोहन, वही।

6 सिद्धनाथ कुमार, अमृतराय, वही।

7. राजेन्द्र यादव, वही।

बहुत गहराई तक आत्मलीन होता हूँ। पर यात्रावृत्तों, सम्पादकीयों तथा विभिन्न प्रकार के लेखों को *लिखते समय पाठक मेरे चेतन मन के समक्ष होता है।*"[1] इसी प्रकार का एक उत्तर—"सामान्यतः नहीं"[2] है। एक वक्तव्यात्मक कथन यह भी प्राप्त हुआ है कि—"प्रत्येक रचना का एक कल्पित पाठक अनिवार्य है। उस 'दूसरे' के अभाव मे रचना हो ही नहीं सकती। प्रत्येक कला 'मैं' से 'वह' की यात्रा है। यही उसका तन्त्र-शास्त्र है।"[3] एक अन्य स्वीकारोक्ति—"निश्चय ही रहता है। लिखता तो पाठकों के लिए ही हूँ। हाँ यह भी जानता हूँ कि निबन्ध के पाठक 'मास' नहीं होते, बल्कि एक विशिष्ट वर्ग ही होता है।"[4] प्रखर दायित्वबोध—"पाठक-समुदाय अथवा समाज के *प्रति मैं एक तरह की जवाबदेही अवश्य अनुभव करता हूँ।*"[5]

उपर्युक्त स्वीकारोक्तियों या नकारोक्तियों से, रचनात्मक विचारण मे, अचेत के स्तर पर *पाठक की उपस्थिति का खण्डन नहीं होता। असल में यह प्रक्रिया एक पूर्ण*-तया भिन्न चित्यात्मक धरातल पर सम्पन्न होती है। इसके वैशिष्ट्य को कोई अन्य तुलना नहीं दी जा सकती। अगर कोई रचनाकार हर वक्त पाठक-दर्शक को ध्यान में रखकर लिखता है तो उसके विचार आरोपित होकर रह जाते है, और अगर वह अपने लेखन को सिर्फ अपने लिए महत्वपूर्ण मानता है तो सिसृक्षण मे आत्मदान की आधारभूत प्रवृत्ति को खारिज करना पड़ता है। अपने-आपको पाठक समझकर लिखने के अभ्यास मे भी 'पाठकतत्व' का लोप नहीं हो जाता। पॉल वेलरी ठीक कहते हैं कि—"*किसी कलाकार या विद्वान की विचारशीलता की तह मे उन बाह्य प्रतिक्रियाओं की पूर्व*-कल्पना अवश्य बनी रहती है जो उसकी रचनाओं द्वारा उद्बुद्ध हो सकती है।"[6] इसके बिना तो विचारों का प्रसंगीकरण और सश्लेषण ही सम्भव नहीं होता। रचनात्मक विचारण को विशुद्धत रचनाकार-केन्द्रित मान लेने मे वही भ्रान्ति है जो कला को कला का निमित्त समझ लेने मे। यही कारण है कि प्रसिद्ध समकालीन फ्रांसीसी आलोचक और सिद्धान्तकार रोलाँ बार्थ ने साहित्यिक अध्ययन में 'लेखक की मौत' की घोषणा करते हुए लिखा है —"रचना के समूचे अस्तित्व का रहस्य यह है कि उसकी 'टेक्स्ट' *बहुत सी रचनाओं से बनती है, ऐसी रचनाएँ जो एकाधिक संस्कृतियों से ग्रहण की* जाती है। इनमे संवादशीलता, 'पैरोडी' और विवाद आदि का रिश्ता होता है; मगर

---

1. चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, वही।
2. नरेन्द्र कोहली, भीष्म साहनी, महीप सिंह, वही।
3. राजेन्द्र किशोर, वही।
4. कुबेरनाथ राय, वही।
5. रवीन्द्र भ्रमर, वही।
6. पाल वेलरी, दि कोर्स इन पोइटिक्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 95।

एक बिन्दु ऐसा भी होता है जहाँ यह तमाम बहुविधता संकेन्द्रित हो जाती है। वह बिन्दु है पाठक; आमतौर पर समझा जाने वाला लेखक नहीं।"[1]

9.2. अन्तर्दृष्टि

अन्तर्दृष्टि (इनसाइट) दूसरा महत्वपूर्ण अचेतन-स्तरीय तत्व है जिसके बिना रचनात्मक विचारण में नवलता और अखण्डता नहीं आ सकती। जिन रचनाओं में विचार टुकड़े-टुकड़े दिखाई देते हैं उनमें अन्तर्दृष्टि की कमज़ोरी को आसानी से पकड़ा जा सकता है। अन्तर्दृष्टि जितनी महत्वपूर्ण है उसे परिभाषित करना या चेतनस्तरीय व्याख्या प्रदान करना उतना ही कठिन है। अचेतन के गर्भ से बिना आयास के निकलकर यह अन्तर्दृष्टि नये विचारों के उद्भव, उनके कल्पनात्मक सम्बन्ध-निर्धारण, सम्भावना-पूर्ण विश्लेषण और सगत निष्कर्षण में कदम-कदम पर काम आती है। यह एक ऐसी अनुभव-जात अचेतात्मक क्षमता है जो 'विशिष्ट' अथवा 'अपरिचित' का यथोचित सामान्यीकरण करती है। मनोविज्ञान के गेस्टाल्ट स्कूल ने इस पर बहुत बल दिया है। उनके अनुसार—"अर्न्दृष्टि, किसी 'सीखने' (लर्निंग) या समस्या को हल करने का कल्पनात्मक तरीका है, जिसे परीक्षण-प्रणाली (ट्रायल एण्ड एरर) या प्रत्यक्ष दृष्टि (एट-साइट) के अन्धे अथवा धक्कार-मार तरीके का विपरीत कहा जा सकता है।"[2]

गेस्टारट मनोविज्ञान में अन्तर्दृष्टि को इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसमें विचारण के सूक्ष्मीकरण (क्लोज़योर) या सरचनीकरण (स्ट्रक्चरिंग) की क्षमता होती है। इस क्षमता को मन की आधारभूत विशेषता माना जाता है, जो संवेदन और साधारण प्रत्यक्षण से परे जाकर, पिछले अनुभवों को अन्तस्सम्बन्धित करती है, किसी आकृति को उसकी ज़मीन से अलगा कर एक 'गेस्टाल्ट' या रूप का निर्माण करती है, एक सत्व को पहचानती है— वस्तुओं को दिक् और काल के सन्दर्भ में देखती है। इसे अंशों को अंशी में मिलाने की योग्यता, या एक अंशी को दूसरे अंशी के साथ जोड़ने की सामर्थ्य भी कहा जाता है। यही कारण है कि गेस्टाल्ट मनोविज्ञानियों के अनुसार रचनात्मक विचारण का मतलब है—एक गेस्टाल्ट को दूसरे बेहतर गेस्टाल्ट के पक्ष में रद्द कर देना। स्वाभाविक है कि अन्तर्दृष्टि का यह प्रकार्य रचनात्मक कल्पना के सहयोग से आगे बढ़ता है।

9.3. स्वयप्रकाश्य ज्ञान

अन्तर्दृष्टि के समान ही स्वयप्रकाश्य ज्ञान (इट्यूशन) भी विचारण का अचेत-स्तरीय घटक है। अन्तर्दृष्टि यदि सतत्-प्रवाही अन्त सलिला है तो स्वयप्रकाश्य,

1 रोलाँ बार्थ, इमेज-म्यूजिक-टेक्स्ट (ग्लासगो, फांटाना, 1977), पृ० 148।

2. आर० डब्ल्यू० गेरार्ड, दि बायालाजिकल बेसिस ऑफ इमेजिनेशन (पूर्वोद्धृत), पृ० 230

पिचकारी से निकली हुई वह आकस्मिक जलधारा है जो दबाव के हटते ही स्वयं भी हट जाती है। दूसरे शब्दों में, स्वयंप्रकाश्य की लीला क्षणिक होती है मगर परिणाम महत्त्वपूर्ण। रचनाकार को जब कुछ नहीं सूझता तब अचेतन की यह शक्ति विस्मृति के गर्भ से उठकर या भविष्य की स्वप्निलता का अवलम्ब पाकर या वर्तमान के यथार्थ से टकरा कर, एक ही कौंध में रास्ता दिखा जाती है। इसके लिए रचनाकार को बहुत भटकना पड़ता है मगर इसकी विशेषता यह है कि यह उस भटकन से स्वतन्त्र प्रतीत होती है। वैचारिक तनाव का उन्मोचन इसी से होता है क्योंकि यह समाधान की दूतिका होती है। इसकी प्रकृति सिद्धान्त-विरोधी और सहज प्रवृत्यात्मक होने के कारण, इसे प्रायः कार्य-कारण विहीन तथा अविचारित कारयित्री मान लिया जाता है, लेकिन अचेत मन के विश्लेषणात्मक अध्ययनों ने इसकी आधारहीनता के पक्ष को अब निराधार सिद्ध कर दिया है। स्वयप्रकाश्य ज्ञान का भी अपना एक सिलसिला होता है, यह बात तब समझ में आई जब इस तथ्य पर विचार किया गया कि आकस्मिक कहलाने वाला यह ज्ञान हमेशा रचनात्मक समस्या ही से सम्बद्ध क्यों होता है ?

9.3.1 रचनात्मक विचारण में स्वयप्रकाश की भूमिका का एक बहुत सुन्दर उदाहरण हमें 'लहरों के राजहंस' के संशोधित संस्करण की भूमिका में मोहन राकेश के रचना-प्रक्रियात्मक वक्तव्यों में मिलता है। तीसरे अंक के अन्त पर या नाट्यात्मक समापन पर आकर मोहन राकेश ऐसे रुके कि हफ्तों माथा-पच्ची करने के बाद भी कोई समाधान नहीं सूझ रहा था। समस्या यह थी कि नन्द और सुन्दरी अर्थात् पति और पत्नी—या नर और नारी के सम्बन्धों की टूटन को किस वैचारिक मोड़ पर लाकर समाप्त किया जाए? किसकी हार और किसकी जीत को संकेतित किया जाए? दोषी किसे ठहराया जाए—नन्द की अस्थिर और संघर्षशील चित्तवृत्ति को या सुन्दरी की मान-भावना को? "क्या किसी तरह सुन्दरी नन्द की बात को सुन सकेगी? सुनकर स्वीकार कर सकेगी? या अन्त तक उसका अस्वीकार नन्द के सामने एक चट्टान की तरह खड़ा रहेगा? नन्द एक बार अपने को उँडेल देने के बाद अब पहले की भूमि पर सुन्दरी के साथ नहीं रह सकता। तो फिर वह किस बिन्दु पर वहाँ से जायेगा और जाने से पहले उसके शब्द क्या होंगे? ऐसे शब्द जिनसे उसकी व्याकुलता सुन्दरी के आग्रह पर भारी पड़ सके···उसे पराजित कर सके?"[1] मोहन राकेश ने कई 'ड्राफ्ट' लिखे और फाड़े, सुन्दरी की मृत्यु के विचार से समस्या को हल करना चाहा, मगर बात बनी नहीं। अचानक "उस दिन रिहर्सल से लौटते हुए एक बात दिमाग में कौंध गई। क्या स्त्री और पुरुष की यह समकक्षता ही उनकी परिणति नहीं? उनका आमने-सामने होना और एक-दूसरे तक अपनी बात न पहुँचा पाना, यही उनकी वास्तविकता नहीं? लगा कि नन्द

---

1 मोहन राकेश, लहरों के राजहंस (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1978), पृ० 35।

और सुन्दरी को इस परिणतिहीन परिणति से आये किसी निश्चित अन्त तक ले जाने की बात ही गलत है। उस तरह की परिणति नाटक को चाहे एक विराम-चिह्न तक ले जाये परन्तु वह नन्द और सुन्दरी की वास्तविकता नहीं होगी।"[1] परिणामस्वरूप नन्द हताशा में चला जाता है और सुन्दरी कुछ शब्द कहती हुई, अपने टूटे भाव को सम्भालती हुई रह जाती है, सिसकती हुई हथेलियों पर औंधी हो जाती है। नाट्यान्त।

9 3 2 यह स्वयप्रकाश्य—जिसने यह हल सुझाया—क्या है ? न यह मोहन राकेश की रचनात्मक सदर्शना से असम्बद्ध है और न यह पहले से विचारित कोई चेतन-स्तरीय निष्कर्ष है। यह एक स्वत स्फूर्त समाधान है, मगर इसकी जडे उस अनुभव-लोक में हैं जो मोहन राकेश के अचेतन में बसा हुआ है और अब उपयुक्त सन्दर्भ पाकर, शायद बरसों के बाद, उभर आया है। इसे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र मान लेना, भूल है। यह सम्पीड़ित ज्ञान है और इसके स्रोत रचनाकार के दीर्घावधिक स्मार्त अभिलेखो मे ढूंढे जा सकते हैं। एक अन्य स्थल पर हम लेवचुक के इस कथन का हवाला दे चुके हैं कि "अचेतन मे चेतन का तत्व ही वस्तुत' स्वयप्रकाश्य है।"[2] स्वयप्रकाश्य ज्ञान, चेतन और अचेतन दोनों की सीमाओं को तोड़ता हुआ, वैचारिक समाधान का नव्य-निर्धारण करता है। लेवचुक के अनुसार स्वयप्रकाश्य का आविर्भाव, रचनाकार की रचनात्मक खोज मे सचेतन अन्तर्लिप्तता और विवेच्य वस्तु के सामाजिक महत्व को समझने के कारण होता है। इसके निर्धारक तत्व है—विकसित कल्पनाशीलता, ग्रहणशील तात्कालिता, विरोधी मनोवेगों का सामजस्य और कल्पना-प्रसूत नायक की जिन्दगी को पूरा करना। उनका दावा है कि न सिर्फ स्वयप्रकाश्य व्याख्येय है बल्कि अनेक ज्ञानानुशासनो के सहयोगी प्रयासो द्वारा इसे विकसित भी किया जा सकता है।

मार्क्सवादी विचारक ख्रं पचेंको ने गोर्की के एक मूल रूसी वक्तव्य का हवाला देते हुए बताया है कि किस प्रकार गोर्की स्वयंप्रकाश्य को रहस्यवलयित और कार्य-कारण-विहीन 'अचेत-स्तरीय व्यापार' मानने के विपक्ष मे थे। उनके अनुसार, यह एक ऐसा तत्व है जिसने अभी हमारी चेतना मे प्रवेश नही किया, मगर जो निश्चित रूप से हमारे अनुभव मे पहले से विद्यमान था।[3] इसीलिए बहुत से मनोविज्ञान शास्त्री, सिसृक्षण के क्रम मे, इसे 'उद्‌भवन' के बाद स्थान देते हैं। अनेक रचनाकारो द्वारा उद्दीपक द्रव्यो की सहायता से इसे जागृत करने की बात पिछले अध्याय मे की जा चुकी है। केन्द्रित चिंतन से अचेतन या अवचेतन में सचित सज्ञानात्मक अनुभव सचरणशील हो उठते हैं और

1. वही, पृ० 35-36।
2 एल० टी० लेवचुक, आर्टिस्टिक क्रिएशन एण्ड इंट्यूशन, मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स (पूर्वोद्धृत) पृ० 234।
3. एम० ख्रं पचेंको, दि राइटर्स क्रिएटिव इंडिविजुअलिटी (मॉस्को, प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज़, 1977), पृ० 22।

विचार की नई दिशाएँ खुल जाती है, इस तथ्य को रामधारी सिंह दिनकर ने भी स्वीकार किया है। 'इट्यूशन' का अनुवाद 'सबुद्धि' करते हुए वह लिखते हैं—"सबुद्धि अदृश्य शक्ति का सकेत नहीं है; वह अत्यन्त केन्द्रित चिन्तन का ही परिणाम होती है—यह बात मुझे ठीक लगती है। सबुद्धि के चरम चमत्कार रहस्यवादी सतो मे मिलते हैं, किन्तु ससार के रहस्यवादी सत मन्दबुद्धि नहीं हुए है। उनमे औसत से अधिक तेजस्विता थी और इसी तेजस्विता के बल पर वे बुद्धि के घेरे से आगे बढकर उस वास्तविकता का सकेत दे सके जो अदृश्य है, जो सामान्य बुद्धि से छुई नहीं जा सकती।···जब चिन्तक सभी दिशाओ से अपने मन को हटाकर उसे किसी ओर केन्द्रित करता है तब उसके चिन्तन की शक्ति बहुत बढ जाती है और वह ऐसे सत्यो का आभास पा जाता है जो 'लाजिक' की पहुँच के परे है।···वह तो ऐसा ज्ञान है जिसे हम अपनी सभी इन्द्रियों की उपस्थिति में ग्रहण करते है, जिसे हम जानते नहीं, आँखो से देख लेते है। अरविन्दो ने जिस 'ओवर माइड' की बात कही है, वह यही मस्तिष्क है। अतिमानस या 'सुपर माइड', कदाचित, इससे भी ऊपर की चीज हो, वह कदाचित् सबुद्धि की वह अवस्था हो, जब मस्तिष्क मे बिजली-सी न कौध कर रह जाए, प्रत्युत, कोई पैट्रोमैक्स जल उठे, और देर तक जलता रहे।"[1]

9.4. स्वयभू कल्पना

हम चाहे कल्पना को अनुभव-स्मरण अर्थात् अदृश्य को दृश्यवत् उपस्थित करने की योग्यता मानें, या भविष्य मे विचरण करने की क्षमता, या विपरीतो मे सामजस्य स्थापित करने की शक्ति या प्रतीक-बिम्बात्मक विचारण की सादृश्य-विधायिनी सामर्थ्य, सिसृक्षण की प्रक्रिया मे, प्रारम्भिक ऐन्द्रिय सवेदन के उपरान्त, प्रत्येक रचनात्मक चरण पर उसका अपार योगदान रहता है। इसलिए विचारण की अवस्था के अचेत-स्तरीय तत्वो मे उसकी भी गणना की जा सकती है। वह सदैव 'विचारित' या आयासात्मक नहीं होती। सौन्दर्यबोधात्मक विचारण मे वह अचेत के धरातल से भी नवलता और सगति का उन्मेष करती रहती है। वह रचनाकार के मन-मस्तिष्क को खुला छोडकर उसकी निर्माण-क्षमता को मुक्त आह्वान के दुर्लभ अवसर प्रदान करती है। मनोवैज्ञानिक सिन्नॉट के शब्दो मे—"यह निश्चित है कि ऐसी कल्पना मन के अचेत स्तर पर सक्रिय रहती है। वह मूलत मानसिक व्यापार है। वह बिना किसी सचेत सहभागिता के भी विकल्पो का सृजन करती है और विचारों को प्रतिरूपो मे फिट करती है।"[2] कल्पना

---

1. रामधारी सिंह दिनकर, काव्य की भूमिका (पटना, उदयाचल, 1958), पृ० 127-28।
2. ई० डब्ल्यू० सिन्नॉट, दि क्रिएटिवनेस ऑफ लाइफ, क्रिएटिविटी, सम्पा० पी० ई० वर्नन (पूर्वोद्धृत), पृ० 111।

मानसिक वक्षु है।

9.4.1. बहुत पहले जे०ई० डाउने ने, अपने पूर्ववर्ती रिबॉट महोदय से संकेत लेकर कल्पना को दो कोटियों में रखा था। उसी के आधार पर निर्माणात्मक कल्पना के प्राय: दो प्रकार आज भी स्वीकृत किये जाते हैं—सामान्य कल्पना या निष्क्रिय (पैसिव); और असामान्य या सक्रिय (एक्टिव)। रमेश कुन्तल मेघ[1] ने पहली प्रकार की कल्पना को 'जनचित्त कल्पना' कहा है जो मार्मिकता और व्यक्ति-संस्कार के भेद से व्यक्ति-व्यक्ति में मन्द अथवा तीव्र होती है; इसमें कल्पनाकार का लक्ष्य इच्छा-पूर्ति होता है, किसी व्यावहारिक ध्येय की पूर्ति नहीं। यहाँ कल्पनाकार अचेतावचेत के स्तर से ऊपर नहीं उठता अर्थात् वास्तविकता एवं सामाजिकता के बन्धनों को स्वीकार न करके, दिवा-स्वप्नों और मायावरणों में खोया रहता है। दूसरी प्रकार की कल्पना को डॉ० मेघ, वास्तविकता-सापेक्ष, उद्देश्य-पूर्ण, चिन्तन-गर्भित, संप्रेषणीय, नवलता-कामी और कलाकारों, आलमकों, आलोचकों तथा वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त कल्पना मानकर, उसके दो और भेद करते हैं—(क) सक्रिय कौशल या तर्कप्रधान निर्माणात्मक (कांस्ट्रक्टिव) कल्पना या 'शिल्पिक कल्पना'; तथा (ख) सक्रिय, नवीन, मौलिक, उद्भावनायुक्त रचनात्मक (क्रिएटिव) या 'स्वयभू कल्पना'। उनके अनुसार, वाग्वैदग्ध्य, श्लेष तथा व्यंग्य से भरी हुई उलटबासियाँ, पहेलियाँ आदि चमत्कारपूर्ण रचनाएँ 'शिल्पिक कल्पना' का परिणाम होती हैं। "किन्तु 'स्वयभू कल्पना' सृजनात्मक तथा सृष्टि-विधायक होती है। इसमें अवचेतन का ज्वार और चेतन का वेग, दोनों ही समान शक्ति वाले होते हैं। अतः इसमें एक ओर तो राग-तत्व की प्रबलता है, दूसरी ओर प्रगाढ़ प्रभावोत्पादकता और तीसरी ओर तर्क है। यहाँ सबसे पहले मार्मिक स्मरणों तथा सारगर्भित अनुभवों को चुना जाता है, उनमें बिल्कुल मौलिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और फिर एक नई रचना या सृष्टि की जाती है। इसमें 'चारुत्व' का अभिषेक होता है।"[2]

इस प्रकार डॉ० मेघ ने रचनात्मक कल्पना को 'मन का विराट विस्तार करने वाली हमारी परम शक्ति' माना है। उनके अनुसार कल्पना अगर स्मृति-प्रधान होगी तो विचार के स्तर पर वह रोमांटिक दिशागामिनी होगी; अगर स्मृति के साथ उसमें विवेक का सम्मिश्रण है तो वह दर्शन की दिशा में जाती है, और अगर उसमें स्मृति, विवेक तथा तर्क तीनों का समुचित सन्तुलन रहता है तो वह क्लासिकल होने की ओर झुकाव रखती है। उन्होंने कल्पना के 'उद्बोधन की परिस्थितियों' का भी उल्लेख किया है, जो उनके अनुसार छह हैं—पहली संस्कारमूलक अभिरुचि है; कलाकार की जो अभिरुचि है अर्थात् उसके मन में जो आकर्षण या भय आदि की प्रमुखता है, वह उसी के वृत्त में रहकर कल्पना करता है। यह कल्पना सुन्दर-असुन्दर, कोमल-कठोर, कटु-मधु, किसी भी प्रकार की हो सकती है। यात्रा-प्रेमी या प्रकृति-प्रेमी रचनाकार इसी के वशीभूत

---

1 रमेश कुन्तल मेघ, अथातो सौन्दर्य-जिज्ञासा (पूर्वोद्धृत), पृ० 190।
2 वही।

यात्रा या प्रकृति-सम्बन्धी कल्पना करते हैं। दूसरी परिस्थिति इच्छा-तुष्टि है; बाधित क्रिया को कलाकार कल्पना द्वारा पूरा करने लगता है, यथार्थ के मुकाबले में अयथार्थ को खड़ा करना इसी परिस्थिति का द्योतक है। तीसरी परिस्थिति अवकाश (लेजर) है। दैनिक काम-धन्धों से मुक्त होकर भी नाना प्रकार की कल्पनात्मक क्रीडाएँ की जा सकती हैं। चौथी परिस्थिति 'वर्तमान अवस्था में परिवर्तन लाने की बेचैनी या विचार है। यह गृह-सज्जा से लेकर क्रान्ति के भविष्य तक प्रसार पाती है।' पाँचवी परिस्थिति 'विपत्ति या विरोधी दशा है। इसमें सम्बन्धों की सम्भावनाएँ विचाराधीन रहती हैं और इसकी प्रकृति संश्लेषणात्मक होती है। छठी परिस्थिति किसी अनुभव की अपूर्णता या अस्पष्टता को कल्पना द्वारा—विचार के मेल से—पूर्णता प्रदान करने की प्रवृत्ति है।[1] डॉ० मेघ द्वारा निर्धारित इन 'परिस्थितियों' की संख्या के निर्धारण को अन्तिम नहीं माना जा सकता, *क्योंकि ऐसी 'परिस्थितियाँ' तो असंख्य हो सकती हैं, और फिर ये सभी एक-*दूसरी के क्षेत्र में भी चली जाती हैं। लेकिन इस विवेचन से महत्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कि सिसृक्षण के अन्तर्गत सिसृक्षु के कल्पना-व्यापार को उद्बोधन की परिस्थितियों के सदर्भ में देखना बहुत ज़रूरी होता है। अर्थात् संस्कारमूलक अभिरुचियों, सामाजिक असन्तोषों, प्रतिबद्धताओं, वैचारिक अपूर्णताओं आदि का कल्पना के उद्बोधन में विशेष हाथ होता है और विचार की रचनात्मक परिणति तदनुरूप ही होती है। इन सबमें अचेत की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता।

9.4.3 आई०ए० रिचर्ड्स ने *कल्पना के छः व्यवहारों को रेखांकित किया है।* इनका संक्षिप्त उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। चूँकि रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से ये व्यवहार महत्वपूर्ण हैं, इसलिए किंचित स्पष्टीकरण सहित इन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

1. *स्पष्ट बिम्ब-निर्माण, जिसमें दृश्य बिम्बों की प्रमुखता रहती है।*
2. आलंकारिक भाषा का प्रयोग, मुख्यतः उपमा और रूपक का।
3. नवोन्मेष या अनुसंधानशीलता।
4. संवेगात्मक दशा का पुनरुत्पादन, अर्थात् दूसरों की मनोदशाओं का सहानुभूतिपूर्ण पुनरसृजन।
5. असंबद्ध का सम्बद्धन, अर्थात् अनुभव का दिशा-निर्धारण।
6. परस्पर विरोधी गुणों का समंजन या संतुलन, अर्थात् कॉलरिज द्वारा प्रस्तावित 'कल्पना' की यह परिभाषा कि वह एक संश्लेषक शक्ति है जो विरोधी *या विषम गुणों के सन्तुलन अथवा समन्वय को प्रकट करती है।*[2]

---

1. वही।
2. आई०ए० रिचर्ड्स, प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म (लंदन, रूटले एण्ड केगनपाल, 1963), पृ० 239-42।

रिचर्ड्स ने छठी विशेषता को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके कल्पना-विवेचन पर कॉलरिज का प्रभाव स्पष्ट है। डॉ० मेघ ने भी जो 'जनचित्त कल्पना' और 'स्वयंभू कल्पना' की बात कही है वह वस्तुतः कॉलरिज की 'प्राथमिक' और 'द्वितीयक' कल्पना का विस्तारण है। कॉलरिज की 'प्राथमिक कल्पना' बहुत व्यापक है, वह सम्पूर्ण मानव-समुदाय की, उद्भव से प्राप्त, चिरन्तन रचना-क्रिया की पुनरावृत्ति है। 'द्वितीयक कल्पना' उस विराट कल्पना या कर्तृत्व-शक्ति ही का एक विशिष्ट रूप या आयाम है। दूसरी अधिक सचेतन है मगर उसमें पहली की सामूहिक अवचेतनता का आधार भी है। वह एक ऐसी जादू-भरी शक्ति है जिसके बल पर कवि "अनेकता में एकता खोज लेता है और तरह-तरह के भावों या विचारों को किसी एक विशिष्ट भाव या विचार से पिरो देता है।"[1]

9 4 4 इस प्रकार 'कल्पना' रचनात्मक अतिशयोक्ति भी है और यथार्थ के कलात्मक पुनस्सृजन की अद्वितीय शक्ति भी, वह रचनाकार के निजत्व की अद्वितीय पहचान भी है और विषय के साथ उसकी आन्तेतर सम्पृक्ति भी, वह भावना भी है और बोध भी, वह किसी रचना का आभ्यन्तर भी है और बाह्य भी, विचारण की प्रक्रिया में वह प्रातिभ ज्ञान है जिसकी उपस्थिति जितनी चेतन-स्तरीय होती है, उसकी जड़ें उतनी ही अवचेतन या अचेतन में भी छिपी रहती हैं। उसका आदि और अन्त कहाँ है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सिसृक्षण की प्रक्रिया में वह सर्वत्र उपस्थित रहती है, यहाँ तक कि रचना की समाप्ति के बाद भी पाठक में स्थानान्तरित हो जाती है।

---

1. एस०टी० कॉलरिज, बायोग्राफिया लिटरेरिया, अध्याय-14, पृ० 12।

तृतीय खण्ड

अभ्यन्तर का बाह्यीकरण

अध्याय—आठ

अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का स्वरूप और उसका बिम्ब नामक उपकरण

अभ्यन्तर का बाह्यीकरण रचना-प्रक्रिया का दूसरा पक्ष है। साहित्य के रचना-कर्म में इसे सम्प्रेष्य अभिव्यक्ति या रचनात्मक भाषा का पक्ष कहा जा सकता है जिसमें रचनाकार अनेक स्रोतों से अर्जित भाषिक सम्पदा और अपनी विकसित प्रयोगधर्मिता के मेल से उस अभ्यन्तरीकृत वस्तु-तत्त्व का कलात्मक स्तर पर शब्द-रूपात्मक पुनर्बाह्यीकरण करता है जिसका विवेचन सिसृक्षण के पहले पक्ष अर्थात् बाह्य के आभ्यन्तरीकरण के अन्तर्गत विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है। हमने देख लिया है कि पहले पक्ष का सम्बन्ध कलात्मक संज्ञान की मनस्तात्त्विक प्रक्रिया से है जिसमें जीवन के विकास की सामान्य गति से आँख हटाए बिना, जीवन-यथार्थ के दबावों को शिद्दत से महसूस किया जाता है और फिर उसे सही द्वन्द्व-सन्दर्भ में पकड़ने के लिए अकुलाया जाता है। उस अकुलाहट का वास्तविक विमोचन इस दूसरे पक्ष की परिणति पर होता है। वह आत्मसात्करण की तरल और अदृश्य प्रक्रिया है जबकि यह उसी के ठोस अथवा मूर्त वास्तवीकरण की प्रव्यक्ति का पक्ष है। एक में सजटिल संवेदनाओं, अभिप्रेरणाओं, अनुभूतियों और विचारणाओं से रचनात्मक अन्तर्वस्तु का अभिग्रहण, चयन, विश्लेषण और संश्लेषण किया जाता है तो दूसरे में उस सब को शब्दों के कुशल इस्तेमाल में या भिन्न-भिन्न भाषायी औजारों से, किसी विधा की किसी रचना का रूप दिया जाता है।

1 द्विपक्षीय अविच्छिन्नता का सूत्र

जिस प्रकार सामान्य जीवन में सोचना और करना साथ-साथ चलता है उसी प्रकार रचना-प्रक्रिया के उपर्युक्त दोनों पक्षों में अविच्छिन्नता का सूत्र निरन्तर बना रहता है। प्रत्येक विधा की रचना-प्रक्रिया में ये दोनों आपसी द्वाद्विकी के कारण गतिशील रहते हैं और एक-दूसरे की अपर्याप्तियों तथा अनावश्यकताओं का निराकरण करते हुए समृद्ध

होते हैं। इनकी परस्पर-सम्पूरकता आजकल हर छोटे-बड़े साहित्यकार की जुबान पर है, फिर भी एक वर्ग सिसृक्षण को प्रधानतः विचार-कर्म मानता रहा है जबकि दूसरे के अनुसार वह शब्द-कर्म है। इस प्रश्न को कई बार कथ्य और शिल्प, भाव और कला, वस्तु और शैली, बोध और भाषा, अन्तर्वस्तु और रूप आदि के अन्तर की शक्ल में उभार कर, दोनों में से किसी एक के अधिक महत्व को अंकित करने का प्रयास किया जाता रहा है, कभी-कभी भेस बदल कर आज भी किया जाता है। एक ओर विक्टर ह्यूगो तथा फ्लाबर्ट जैसे साहित्यकार हुए हैं जिनके अनुसार साहित्य का भविष्य हमेशा शैली के उस्तादों पर निर्भर करेगा क्योंकि शैली ही विचार का जीवन-रक्त है। दूसरी ओर गोर्की तथा प्रूस्त जैसे विचारक हैं जो यह मानकर चलते रहे हैं कि महान रचनाकार हमेशा खराब शैलीकार होते हैं क्योंकि उन पर भाषा के बंधनों को थोपा नहीं जा सकता; क्योंकि सत्य की अभिव्यक्ति करने वालों को शैली की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार के विपरीताभासी अभिमतों से यह कहीं सिद्ध नहीं होता कि जीवन-सत्य और शैली किसी ध्रुवान्तक दूरी पर स्थित हैं। ये कथन अपनी-अपनी अभिरुचि के परिचायक हैं वरना इनके कथयिताओं की विश्व-प्रसिद्ध रचनाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि रचना की प्रक्रिया में शैली और विचार का सम्बन्ध प्रजनन के बिन्दु पर ही अन्योन्याश्रय का होता है। हिन्दी में निर्मल वर्मा की यह मान्यता किसी से अविदित नहीं है कि साहित्य का समूचा प्रश्न ही मूलतः रूप अथवा 'फार्म' का प्रश्न है,[1] लेकिन उनका यह भी कहना है कि 'फार्म' की खोज किसी हवाई एस्थेटिक की कल्पना से सम्बन्धित न होकर सांस्कृतिक अनुभव की धारा से सम्बन्ध रखती है। 'फार्म' की इस व्यापक व्याख्या पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, मगर जब निर्मल वर्मा 'गोदान' को फार्म की कमज़ोरी के नाम पर प्रश्नचिह्नित करते हैं तब अच्छी तरह समझ में आ जाता है कि 'संस्कृति' सम्बन्धी उनकी अवधारणा वस्तुतः 'रूप' की वरीयता सिद्ध करने का एक तरीका है। इस विषय पर मुक्तिबोध के विचार सर्वाधिक विश्वसनीय हैं। 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण के लिए लिखित मगर अप्रकाशित वक्तव्य में उन्होंने लिखा है—"आज के मेरे जैसे कवि के सामने मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि शिल्प का विकास किस प्रकार किया जाए, वरन् यह है कि जीवन तथा हृदय पर नित्य आघात-प्रत्याघात करने वाले कारणों को किस प्रकार समेटा जाए। उन्हें किस प्रकार काव्य में रूपबद्ध किया जाए। वास्तविकता तो यह है कि आज के ज़माने में मेरे लिए मुख्य प्रश्न कॉण्टेंट की कमी और शिल्प के आधिक्य का नहीं, वरन् कॉण्टेंट के अतिरेक और शिल्प की अपर्याप्तता का है। इसलिए मेरी मुख्य समस्या यह है कि कॉण्टेंट के वैविध्य को किस प्रकार समेटा जाए, किस प्रकार उसे रूपबद्ध किया जाए।"[2]

---

1 निर्मल वर्मा, शब्द और स्मृति (पूर्वोद्धृत), पृ० 16-17, 52-54।
2. मुक्तिबोध रचनावली, भाग—5, पृ० 275।

स्पष्ट है कि कॉण्टेंट का वैविध्य ही उपयुक्त रूप की तलाश का कारण है। कॉण्टेंट की अकिंचनता रूप को शब्दाडम्बर बना देती है और रूप की अपर्याप्तता से कॉण्टेंट का बहुत बड़ा हिस्सा रचना के बाहर बिखर जाता है। इसलिए मुक्तिबोध ठीक ही रचनाकर्म को त्रिविध संघर्ष मानते हैं—(1) तत्व (वस्तु) के लिए संघर्ष, (2) अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष, और (3) दृष्टि-विकास का संघर्ष।[1] उनके अनुसार अभिव्यक्ति का संघर्ष (जिसे वह कला का तीसरा क्षण भी कहते हैं और जो विवेच्य 'दूसरे पक्ष' का पर्यायपरक है) अपनी प्रदीर्घता के कारण बहुत महत्वपूर्ण है मगर इसकी सार्थकता शेष दोनों प्रकार के संघर्षों के साथ सायुज्य होने में है। "निश्चय ही रूप के विकास का प्रश्न तत्व के विकास के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। हम अपनी बौद्धिक सुविधा की दृष्टि से भले ही रूप और तत्व के प्रश्नों को अलग-अलग करके देखें, वे एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं। इन प्रश्नों के सम्बन्ध-सूत्र, वृक्ष-मूलों की भाँति, सारे जीवन में समाये हुए हैं। सच तो यह है कि रूप की समस्या ही तब उठती है जब तत्व की समस्या उठती है।'[2]

इस प्रकार अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का पक्ष, बाह्य के आभ्यन्तरीकरण के पक्ष से स्वतन्त्र कदापि नहीं है। दोनों में अन्तराल स्थापित करने वाली, अथवा दोनों को पहले-दूसरे दर्जे पर रखने वाली दृष्टियाँ सदोष एवं एकांगी हैं। दोनों में सायुज्यता, अविच्छिन्नता, परस्पर-विलेयता और सह-जीवितता का रिश्ता है। साहित्यिक सिसृक्षण में सोचने को लिखने के तौर-तरीके से और लिखने को सोचने के क्रम से अलगाया नहीं जा सकता। जिस प्रकार रचनात्मक विचारों की कमी का परिणाम् जीवन की विस्मृतियों का महज़ सूचीकरण होता है, उसी प्रकार शैली की उपेक्षा भी प्रायः सरचना के बेढंगेपन में, कार्य के भद्दे विकास में, बेरंगे चरित्र-चित्रण में, और भाषा के फूहड़पन में परिणत होती है, *भले ही रचनाकार का मन्तव्य कितना अच्छा, और उसकी कुशलता प्रायः कितनी अविवादास्पद क्यों न हो।*"[3]

2. अभ्यन्तर का बाह्यीकरण : अन्य विशेषताएँ

अभ्यन्तर के बाह्यीकरण की प्रक्रिया कुछ अन्य विशेषताओं को भी समाहित किए रहती है। इन विशेषताओं में से किन्हीं का आधिक्य, किन्हीं का अनाधिक्य और किन्हीं का वैविध्य ही एक रचनाकार के अभिव्यक्ति-कर्म को दूसरे रचनाकार की तुलना में विशिष्टता अथवा नवलता प्रदान करता है।

2.1 प्रातिनिधिक मौलिक इकाइयाँ प्रायः सभी रचनाकारों में समान होती हैं

---

1. वही, पृ० 92।
2. वही, पृ० 111।
3. एम० हार्पर्चेको, दि राइटर्स क्रिएटिव इंडिविजुअलिटी "(पूर्वोद्धृत), पृ० 147।

क्योंकि उनसे बचा नहीं जा सकता; लेकिन उन इकाइयों का संयोजन और भाषिक प्रस्तुतीकरण सबका अपना-अपना होता है। इस बात को यों स्पष्ट किया जा सकता है कि रंग तो मूलतः सात ही होते हैं मगर उनके भिन्न-मात्रिक सम्मिश्रण के अनुपात से असंख्य पैटर्न बनाये जा सकते हैं। अभ्यन्तर का बाह्यीकरण करते समय हर रचनाकार अपने युग के प्रातिनिधिक सत्यों को शब्दों के पैटर्नों में ढालता है। यह ढालने की सामर्थ्य जिसमें जितनी आकर्षक, समावेशी और सटीक होती है वह उतना ही सफल रचनाकार बनता है। उदाहरण के लिए छायावाद के कवि-चतुष्टय की कथ्यपरक इकाइयों में कोई विशेष अन्तर नहीं है—वही प्रकृति, वही रहस्यानुभूति, वही पीड़ा-बोध, वही तनाव, वही भीगापन और वही आत्मप्राधान्य। लेकिन यह बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की अपेक्षा अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का करिश्मा है जो मुख्यतः इन चारों कवियों की विशिष्टता या स्तरीयता का निर्धारण करता है। इनका अपना-अपना बिम्ब-विधान है, अपनी-अपनी प्रतीक-योजना है, अपनी-अपनी भाषा है—अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का अपना-अपना स्तर और प्रकार है।

2 2 उपर्युक्त वैशिष्ट्य का यह मतलब नहीं है कि व्यक्तिकता ही अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का एकमात्र निर्धारक तत्व है। रचनाकार के निजी व्यक्तित्व से इसका सम्बन्ध निस्सन्देह बहुत गहरा होता है, लेकिन इसका बड़ा और वास्तविक सम्बन्ध तो उस संस्कृति के साथ है जिसके किसी विशेष भाषा-समाज में रचनाकार जन्मा-पला होता है। विकसित भाषिक चेतना के कारण हर रचनाकार की भाषा में कलात्मक वैशिष्ट्य अवश्य बना रहता है मगर उसकी सर्जनात्मक भाषा की जड़ें उस लोक या समुदाय में होती हैं जिसका कि वह सदस्य होता है। यही कारण है कि जब वह अपने समुदाय से कट कर कहीं अन्यत्र रहने या बसने के लिए विवश हो जाता है तब भी अपने समुदाय के भाषिक संस्कारों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाता; और न ही यह मुक्ति वाँछनीय होती है। भाषा मूलतः सामाजिक सम्प्रेषण की शक्ति है जिसका निर्माण सदियों की ऐतिहासिक प्रक्रिया में होता है। व्यक्ति-रचनाकार कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, अपने छोटे-से जीवनकाल में उसे बदल नहीं सकता; आरोपित ढंग से बदलना चाहे भी तो अकेला पड़ जाता है, और यह अकेलापन अप्राकृतिक एवं असांस्कृतिक होने के कारण भाषिक जीवन्तता का हनन करता है। भारतवर्ष के प्रान्त-प्रान्त में अहिन्दी-भाषी लेखक हिन्दी में लिखते हैं, उनकी अभिव्यक्तिक ताज़गी का वास्तविक श्रेय उसी भाषिक तेवर को जाता है जो उन्होंने अपने भाषा-समाज में रहकर निसर्गतः प्राप्त किया होता है। एक ही हिन्दी-भाषी प्रान्त के भिन्न जनपदों में रचित हिन्दी साहित्य के लोकतात्विक आधार में भी इस वैशिष्ट्य को लक्षित किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अभ्यन्तर का बाह्यीकरण अधिकांशतः भाषा के वस्तुनिष्ठ नियमों के अधीन होता है, रचनाकार प्रायः उन नियमों से अनभिज्ञ रहता है क्योंकि उनकी अभिज्ञता भी उसके अभिव्यक्ति-कर्म में बाधक हो सकती है, इसलिए वह यह भी अक्सर नहीं जानता कि उन नियमों में उसका कोई सीधा दखल नहीं होता।

2.3 अभ्यन्तर का बाह्यीकरण साहित्यिक विधाओं की विरासत के अनुरूप भी होना है। यह विरासत प्रत्येक सही रचनाकार के रचना-कर्म का अनुकूलन करती रहती है। वह जानता है कि उससे पहले भी कितने ही महारथियों ने महाकाव्य, गीत-प्रगीत, नाटक-एकांकी, कहानी और उपन्यास आदि पर सफलता-पूर्वक लेखनी चलाई थी। अत. इन विधाओं की आधारभूत शर्तें उसके चेतन-उपचेतन में निरन्तर उपस्थित रहती हैं। ये शर्तें ही किसी रचना की संरचनात्मक नियमावली कही जा सकती हैं। कोई रचनाकार चाहे भी तो नाटक मे से संवादों या मंचोन्मुखता को, अथवा उपन्यास में से कथानक और पात्रों को निकाल नहीं सकता। वह इन शर्तों का नवीकरण अवश्य करता है मगर इनका पूर्ण अस्वीकार उसकी सामर्थ्य से बाहर होता है क्योंकि विधाओं या साहित्य-रूपों का निर्माण उसमे पहले हो चुका होता है, इसलिए वह जिस भी विधा को चुनता है, उसके अनुशासन का यथासम्भव पालन भी करता है। समझने की बात यह है कि विधाएँ केवल रूपात्मक या बाह्य संरचनात्मक निर्मितियाँ नहीं होतीं, अर्थात् वे रचनाकार को रचना का ढाँचा मात्र प्रदान नहीं करतीं; बल्कि वे उन जीवन-दृष्टियों के साथ भी गहराई से जुड़ी रहती है जिन्हें उन्हीं के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है। यही कारण है कि विधा के रूपाकार में ढलते ही रचनाकारों के पूर्वचिन्तित विचारों मे अप्रत्याशित परिवर्तन अथवा विकास आने लगता है, पात्र हाथ से निकलने लगते हैं, निष्कर्षों की दिशा बदल जाती है, कुल मिलाकर कलात्मक निर्व्यक्तीकरण हो जाता है। विधाओं के अनुशासन मे रहने से रचनाकार की स्वतन्त्रता पर प्रहार नहीं होता। इससे तो यह सिद्ध होता है कि स्वतन्त्रता कोई शून्यजात गुण नहीं बल्कि एक प्रकार के आन्तरिक और बाह्य अनुशासन का नाम है जिससे रचनाकार की मौलिकता समृद्ध होती है।

अत जब यह कहा जाता है कि अभ्यन्तर का बाह्यीकरण रचनाकार की वश्यता के बाहर के विधापरक दबावों या अनुशासनों पर भी निर्भर करता है, तब यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समर्थ रचनाकारों के हाथों रचनाएँ कर्तत्व-सापेक्ष स्वातन्त्र्य को अर्जित नहीं करतीं। जहाँ रचनाकार इन दबावों और अपनी प्रयोगशीलता में ताल-मेल स्थापित नहीं कर पाता वहाँ रचनात्मक अन्विति खण्डित हो जाती है। इस तथ्य का प्रमाण सह-लिखित रचनाओं में आसानी से उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'इरावती' उपन्यास और मोहन राकेश के नाटक 'पैर तले की ज़मीन' को दूसरे रचनाकारों ने पूरा किया—उन रचनाकारों ने जो इन रचनाओं के मूल अनुभव से प्रामाणिक धरातल पर नहीं, कल्पना मात्र के धरातल पर जुड़े हुए थे। वे विधाओं की विरासत से भली-भाँति परिचित थे, मगर वे निरन्तर जानते थे कि वे किसी अन्य की रचना को पूरा करने के लिए लिख रहे हैं। परिणामत ये रचनाएँ साहित्य-जगत में मौलिक स्तर पर स्वीकार्य नहीं हो सकी हैं। 'ग्यारह सपनों का देश' को हिन्दी के ग्यारह कुशल उपन्यासकारों ने मिलकर उपन्यास का रूप दिया, एक उपन्यासकार जहाँ कथा-सूत्र को छोड़ता था, दूसरा वहीं से प्रारम्भ करके रचना-प्रक्रिया को आगे बढ़ाता था। सहयोगी उपन्यास होने के कारण इसने साहित्यकारों की उत्सुकता को जगाया अवश्य, मगर सबकी अपनी-अपनी

दृष्टि तथा अभिव्यक्ति होने के कारण यह भानुमती का पिटारा बन कर रह गया। इसमें तो सहयोगी लेखको की सख्या बहुत थी, लेकिन 'एक इच मुस्कान' की एक किस्त राजेन्द्र यादव लिखते थे और दूसरी मन्नू भण्डारी की कलम से निकलती थी। लेखक-द्वय का यह उपन्यास जब छप कर पूरा सामने आया तब इसकी अन्विति का प्रश्नचिह्नित होना भी स्वाभाविक था।

2 4 पूर्ववर्ती और समकालीन साहित्यिक आन्दोलन भी रचना-प्रक्रिया मे अभ्यन्तर के बाह्यीकरण को उत्प्रेरित एव प्रभावित करते हैं। हिन्दी मे एक-दूसरे की देखा-देखी से अनुप्रास-प्रधान प्रकृति-कविताएँ या प्रेम-गीत लिखने का जमाना था जो अब लद गया है। छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता, समकालीन कविता, नव-लेखन, नयी कहानी, नवगीत, नयी गजल, नया नाटक, नया उपन्यास—इन सब आन्दोलन परक विधाओ मे अभ्यन्तर के बाह्यीकरण मे समानता के बिन्दु उसी प्रकार लक्षित किये जा सकते हैं जिस प्रकार इनकी अन्तर्वस्तु मे बहुत-सी समानताएँ स्पष्ट हैं। एक आन्दोलन के कुछ गुणो का सक्रमण दूसरे आन्दोलन में भी हो जाता है। आन्दोलन से आन्दोलन का प्रादुर्भाव होता है और आन्दोलन मे आन्दोलन जीवित रहता है। समर्थ रचनाकार देश-विदेश के आन्दोलनो के सार्वत्रिक तत्वों की प्रासगिकता से अपनी अभिव्यक्ति को स्वस्थ बनाता है। कुछ भाववादी किस्म के विचारक यह नही मानते कि आन्दोलनात्मक प्ररूपो का किसी रचनाकार की शैली से कोई नाता होता है। उनका तर्क है कि महान रचनाकार का वैशिष्ट्य ही इस बात मे है कि उसकी शैली अनुकरणीय एव अद्वितीय होती है, अत आन्दोलनो और सगठनो के सन्दर्भ मे उसकी रचना-प्रक्रिया को विश्लेषित करना एकदम असगत है। यह तर्क गलत है क्योकि यह प्रदेय के नीचे से आदेय की जमीन ही खिसका देता है। एक तो यह वस्तुओ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे न देखने की भूल करता है, दूसरे यह शैली और प्रविधि मे अन्तर नही करता, करता भी है तो दोनो के द्वन्द्व से अपरिचित रहता है, और तीसरे यह इतना भी नही जानता कि कोई रचना हमे महज अच्छी शैली के कारण नही, अपनी समग्रता मे प्रभावित करती है, कि शैली की दृष्टि से रचनाएँ पुनरावृत्त हो सकती हैं, समग्रता की दृष्टि से कदापि नही। शैली को प्रविधि के रूप मे देखने पर हमे प्रेमचन्द के उपन्यासो मे कोई अन्तर-विशेष नजर नहीं आ सकता, मगर रचनात्मक समग्रता मे उनका हर उपन्यास नया है और उस राष्ट्रीय मुक्ति के आन्दोलन से जुडा हुआ है जिसकी साहित्यिक शुरुआत भारतेन्दु युगीन रचनाकारो ने की थी।

2 5. जाहिर है कि अभ्यन्तर का बाह्यीकरण रचनाकार के भाषिक अर्जन की क्षमता और भाषिक परम्परा के चयन पर भी निर्भर करता है। एक ओर वह जन-भाषा, कलात्मक भाषा, शब्द-सचय, शब्द-प्रवृत्ति, शब्द-व्यवहार, व्याकरण, छन्द-लय, ध्वन्यात्मकता, स्पष्टता-सटीकता, मिथकीय कथाओं, अमूर्त-विधानो, ऐतिहासीक सन्दर्भों, परम्परागत अभिव्यक्तियो और सामाजिक अपेक्षाओ आदि की सचित एव

विकसित जानकारी से काम लेता है और दूसरी ओर अपने सामाजिक सरोकारों के जीवन-दर्शन मूल्यों के अनुसार अभिव्यक्ति की किसी परम्परा से जुड़ता है। अभिव्यक्ति की परम्परा से जुड़ना, दोहरा प्रकार्य है। एक तो वह अपनी भाषा की वाचिक परम्परा के बीच खड़ा होता है, और दूसरे वह साहित्यिक स्तर पर उस भाषायी उपयोगिता की परम्परा को भी पहचानता है जो उसके उद्देश्यों के सर्वाधिक अनुकूल होती है। यही वह बिन्दु है जहाँ पर उसके शब्द-प्रयोग का अभिधार्थ तो परम्परा से भिन्न नहीं होता मगर ध्वन्यर्थ के स्तर पर विचलन कर जाता है। तभी तो मुक्तिबोध ने लिखा है—

> "तुम्हारे हमारे बीच
> फर्क आबोहवा का कि
> शब्दों का अभिधार्थ
> एक होते हुए भी
> व्यंजना-लक्षण-ध्वनि और
> मर्म भिन्न-भिन्न हैं
> इसके लिए क्या करें हम लोग!"

ध्यान देने योग्य बात है कि यहाँ 'हम लोग' के प्रयोग द्वारा मुक्तिबोध ने कलात्मक भाषा को वर्ग-संघर्ष की चेतना के परिप्रेक्ष्य में देखा है और अर्थ के विचलन को शास्त्रीय विवेचन से बचाकर, सांस्कृतिक आधार प्रदान किया है। इससे स्पष्ट है कि समर्थ रचनाकार की अभिव्यक्ति विचलन के लिए विचलन नहीं करती, बल्कि अपनी बात में असर और तीखापन लाने के लिए करती है।

2 6 इस प्रकार अभ्यन्तर का बाह्यीकरण मूलत. रचनात्मक अभिव्यक्ति अथवा भाषिक माध्यम का पक्ष है। इस माध्यम का स्वरूप बहुत से उपकरणों द्वारा निर्मित होता है जिनमें प्रमुख हैं—बिम्ब, प्रतीक, फंतासी, मिथक इत्यादि। इन उपकरणों की सहायता से ही सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सामान्य अभिव्यक्ति की अपेक्षा विशिष्ट, अन्योक्तिपरक, रूपकात्मक, कल्पना प्रसूत, आकर्षक, अर्थ की अनेक सम्भावनाओं से युक्त और कलात्मक बनती है। ये सिसृक्षण की प्रक्रिया को गतिशील रखते हैं अर्थात् रचनाकार के अनुभवों और विचारों को किसी दूसरे व्यक्ति में इस प्रकार संक्रमित करते हैं कि उनके विकास का सिलसिला बना रहता है।

3. बिम्ब नामक उपकरण

बिम्ब अभ्यन्तर के बाह्यीकरण का आधारभूत और मुख्य उपकरण है। इसे कल्पनामूलक होने के कारण काव्य की रचना-प्रक्रिया के अन्तर्गत अधिक महत्त्व दिया जाता है, लेकिन वास्तव में इसका सम्बन्ध सभी प्रकार की साहित्यिक विधाओं के साथ अटूट है क्योंकि प्रत्येक प्रकार का रचनात्मक विचारण और रूपान्तरण बिम्बात्मक होता

है। इसलिए यह कह सकना कठिन है कि अनुभूति, विचार और कल्पना मे बिम्ब की भूमिका अधिक होती है या अभिव्यक्ति मे। सपाट-बयानी के पक्षधर रचनाकार, बिम्बों और प्रतीकों का कितना ही विरोध क्यो न करें, उनके विरोध मे भी प्राय. बिम्बो का समर्थन ही अधिक पुष्ट होता है। वास्तव मे उनका विरोध ऐसे सायास बिम्ब-निर्माण से है जो अभिव्यक्ति को दुस्सम्प्रेष्य बना देता है, उससे नही जो भाषा का सहज-स्वाभाविक घटक बन कर आता है। उदाहरण के लिए धूमिल का कहना है कि—"कभी-कभी (या अधिकाशत.) प्रतीको और बिम्बो के कारण कविता की स्थिति उस औरत जैसी हास्यास्पद हो जाती है जिसके आगे एक बच्चा हो, गोद मे एक बच्चा हो, और एक बच्चा पेट मे हो। प्रतीक और बिम्ब जहाँ सूक्ष्म-साकेतिकता और सहज सम्प्रेषणीयता मे सहायक होते हैं, वही अपनी अधिकता से कविता को 'ग्राफिक' बना देते है। आज महत्व शिल्प का नही, कथ्य का है। सवाल यह नही कि आप ने किस तरह कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा है। इसके लिए आदमी की ज़रूरतो के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनैतिक हलचलो के प्रति सजग दृष्टिकोण कायम रखना अत्यन्त आवश्यक है।"[1] धूमिल का यह वक्तव्य बिम्बो की मात्रा, क्षेत्रीयता और उपयोगिता के वांछनीय सन्दर्भ पर आधारित है। किसी रचनाकार को इस वाछनीयता का पाठ नही पढाया जा सकता। अगर उसका क्षेत्र राजनैतिक नही है तो राजनैतिक ज़रूरतो के बीच से उठता हुआ बिम्ब-विधान उसके पास नही भी हो सकता। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि धूमिल जो बात गद्य मे कहना चाह रहे हैं उसकी सार्थकता और प्रभावोत्पादकता उस 'औरत' के बिम्ब के कारण है जो बच्चे पैदा करने की मशीन बन कर रह गयी है। शिल्प और कथ्य मे जो अस्वाभाविक रेखा उन्होंने खीचनी चाही है उससे भी इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि "बिम्ब के एक छोर पर भाव और कल्पना है तो दूसरे छोर पर भाषा है।"[2]

4 बिम्ब का मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ

मनोविज्ञान मे बिम्ब का अर्थ उस पुनरुज्जीवित सवेदनानुभव से है जो प्रत्यक्ष अथवा तात्कालिक सवेदनोद्दीपन की अनुपस्थिति मे भी मन की आँखो के सामने चित्रवत् उपस्थित होता है। मनोविज्ञानशास्त्री इसका इस्तेमाल कई तकनीकी सयोजनो के रूप मे करते है। एक को वे मिश्रित (कम्पोज़िट) बिम्ब कहते है जो समान विषयो अथवा वस्तुओं के अनेक सवेदनानुभवो पर आधारित होता है। दूसरा मूर्तकल्पी (आइडेटिक) बिम्ब है जिसे जातिगत (जेनरिक) माना जाता है, जो कुछ-कुछ योजनाबद्ध होता है और जिसमे किसी श्रेणी के किसी विषय के प्रतिनिधित्व की क्षमता होती है। तीसरा माया-

1 धूमिल, कविता पर एक वक्तव्य, नया प्रतीक अक-5, पृ० 5।

2 पी० आदेश्वर राव, काव्य-बिम्ब स्वरूप और रचना (पूर्वोद्धृत), पृ० 6।

वरणात्मक (हेल्युसिनेटरी) बिम्ब है जिसमें क्षण भर की प्रत्यक्षणा-परक विशिष्टता होती है। इसी प्रकार बिम्ब का एक बिल्कुल अलग अर्थ दृष्टिपटलात्मक (रेटिनल) भी लिया जाता है जिसे नेत्रों के 'लेन्स सिस्टम' द्वारा दृष्टि पटल पर सकेंद्रित दृक्-बिम्ब के रूप में ग्रहण किया जाता है।[1] इस तरह मनोविज्ञान में बिम्ब-निर्माण का सम्बन्ध अशब्द स्तरीय चित्रात्मक प्रभाव-ग्रहण से अधिक है, जो व्यक्ति की विचार-शृंखला को तारतम्य तथा अर्थवत्ता प्रदान करता है। मनोविज्ञान में यह अभी तक विवाद का विषय है कि क्या कोई विचार बिम्बहीन भी होता है या क्या कोई बिम्ब विचार-विहीन भी कहा जा सकता है? इसके समर्थन में बहुत-सी सामग्री भी जुटाई गई है लेकिन बहुमत इसी पक्ष में है कि विचारहीन बिम्ब मनुष्य जाति में प्राय नहीं होता।

सार्त्र ने बिम्ब सम्बन्धी अपनी महत्वपूर्ण मगर विवादास्पद स्थापनाओं में डेस्कार्टे, ह्यूम, टिचनर आदि के कई मतों को काटकर, बिम्ब की चार आधारभूत विशेषताओं पर बल दिया है[2]—

1 बिम्ब एक कल्पनाशील चेतना है। चेतना 'में' बिम्ब, और बिम्ब 'में' विषय नाम की कोई चीज नहीं होती; कुर्सी का विचार, और विचार के रूप में कुर्सी—दो पृथक बातें हैं। बिम्ब, विषय के साथ चेतना का सम्बन्ध मात्र है।

2 बिम्ब के पीछे अर्ध-निरीक्षण (क्वासी आवजर्वेशन) का घटना-विधान होता है। हालांकि विषय हमारी प्रत्यक्षणा में सम्पूर्णता से प्रवेश करता है फिर भी हम एक समय में उसे आधा ही देख सकते हैं मगर धारण के स्तर पर फिर पूरा ही देखते हैं। प्रत्यक्षण में ज्ञान धीरे-धीरे बनता है, लेकिन बिम्ब में तत्काल।

3 कल्पनाशील-चेतना विषय को अनस्तित्व या शून्य में रख देती है। यह कहना बहुत भ्रामक है कि बिम्ब पहले प्रत्यक्षण-जात प्रादर्श के अनुसार बनता है और बाद में उसे उचित रूप दे दिया जाता है। बिम्ब पर बाह्य-सन्दर्भ में विचार करना गलत है। प्रत्यक्षणा विषय को अस्तित्व में रख देती है जबकि बिम्ब उसे अनस्तित्व में रख देता है।

4 बिम्ब स्वतः स्फूर्त होता है। उसकी यह विशेषता अव्याख्येय है। इतना ही कहा जा सकता है कि कल्पनाशील चेतना के बिम्ब में सृजनेच्छा के परिणाम-स्वरूप एक सक्रिय प्रवाह बना रहता है जिसमें विषय की सगत विशेषताओं को हानि नहीं पहुंचती।

---

1 जेम्स ड्रेवर, ए डिक्शनरी ऑफ साइकॉलॉजी (मिडलसेक्स, पेंगुइन बुक्स, 1961), पृ० 127।

2. ज्याँ पाल सार्त्र, दि साइकॉलॉजी ऑफ इमेजिनेशन (लन्दन, मेथुइन एण्ड कम्पनी, 1972), पृ० 1-15।

सार्त्र के बिम्ब-निरूपण में सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमे मानसिक बिम्बो की उपेक्षा की गयी है, उन्हे क्षणिक चित्यात्मक व्यापार कहा गया है जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही होती। 'बाह्य तत्व' का अवमूल्यन इसकी दूसरी सीमा है।

मनोविज्ञान-शास्त्रियो ने बिम्ब को व्यक्ति और समूह के अवचेत के अतिरिक्त स्वप्नों तथा अभिव्यक्ति-वैशिष्ट्य के साथ भी जोडा है। इन प्रयासों से साहित्यिक बिम्ब के लिए महत्वपूर्ण सामग्री तो मिलती है मगर अत्यन्त सामान्यीकृत होने के कारण ये उसके पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन नही करते। सम्पूर्ण साहित्य-व्यापार अवचेतन के आद्य तथा अन्य स्वप्नात्मक या वैयक्तिक बिम्बो का प्रस्तुतीकरण नही है। "स्वप्न एव आद्यबिम्ब जब कल्पना द्वारा स्फूर्त होते हैं और सृजन-प्रक्रिया मे ढलते हैं तभी वे काव्य-बिम्बों की श्रेणी में प्रवेश पाते हैं। स्वप्न अथवा आद्यबिम्ब रूपी जल किसी कल्पनात्मक क्षण मे सृजन-प्रक्रिया रूपी सीपी मे पडकर काव्य बिम्ब रूपी मोती बनता है।"[1]

5. बिम्ब : साहित्यिक सन्दर्भ

साहित्यिक रचना की प्रक्रिया प्रधानतः कल्पना का पुनर्रचनात्मक व्यापार है, और चूंकि क्रमबद्ध तथा विचारित बिम्बावली ही विधायक कल्पना है, इसलिये साहित्य की बिम्ब-योजना अनर्गल नही विचार-सापेक्ष, उद्देश्यपरक, सौन्दर्यबोधात्मक तथा गहरे सम्प्रेष्यार्थ को व्यंजित करने वाली होती है।

हिन्दी मे 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग 'इमेज' के पर्याय रूप मे किया जाता है, जिसका मूल 'इमितरी' अर्थात् सादृश्यमूलक अनुकरण मे है। इसलिए बिम्ब का अर्थ प्रतिमा-परक लिया जाता है। हिन्दी की कोशीय व्याख्या के अनुसार—"साहित्य मे बिम्ब शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे होता है; एक तो उस उक्ति के लिये जो मन मे किसी ऐन्द्रिक प्रभाव की सृष्टि करने वाली प्रतिमा का निर्माण करे, और दूसरे, उस मानस-प्रतिमा के लिए। हिन्दी मे बिम्ब का दूसरा अर्थ ही प्रचलित है। बिम्ब-सृष्टि का प्रधान साधन है कल्पना, और साध्य है स्पष्ट मूर्त चित्रो के बोध द्वारा भाव-प्रेषण। अनुकूल और मार्मिक बिम्ब-विधान रचना के प्रभाव को उद्दीप्त कर देता है।"[2] इसी ग्रन्थ में स्मृत बिम्ब (वे मानस-प्रतिमाएँ जो पूर्वदृष्ट वस्तुएँ स्मृति-चेतना के स्तर पर उभरती हैं) और कल्पित बिम्ब (वे कल्पना प्रसूत प्रतिमाएँ जो पूर्वदृष्ट सभी व्यापारों से इसलिए भिन्न होती हैं क्योंकि विश्लेषण और सश्लेषण की मानसिक शक्तियों द्वारा उन्हे नवीन सयोजनो के रूप मे ग्रहण किया जाता है—उदाहरण के लिए 'नीलम पर्वत' मे नीलम और पर्वत दोनो पूर्वदृष्ट स्मृत बिम्ब हैं मगर दोनो *के सयोजन से एक नवीन कल्पित बिम्ब का विधान हो*

---

1. नरेन्द्र मोहन, आधुनिक हिन्दी-काव्य मे अप्रस्तुत विधान (नयी दिल्ली, नेशनल प० हा०, 1972), पृ० 64।
2. मानविकी पारिभाषिक कोश : साहित्य खण्ड, पृ० 140।

गया है)—दो बिम्ब-प्रकारों के उपरान्त यह बताया गया है कि कलात्मक रचना-व्यापार का सम्बन्ध कल्पित बिम्ब-संयोजन से अधिक होता है। "इसके लिए साहित्यकार को भाषा पर अबाध अधिकार की अपेक्षा होती है" क्योंकि बिम्ब-विधान की शक्ति का होना तभी सार्थक सिद्ध होता है जबकि उस बिम्ब को पाठक में सम्प्रेषित किया जा सके।

इस प्रकार साहित्य में बिम्ब वह भाषिक और शैल्पिक उपकरण है जिसके द्वारा कोई रचनाकार अभिगृहीत प्रभावों का चित्रोपम सम्प्रेषण करता है अथवा अमूर्त का कलात्मक मूर्तीकरण करता है। बिम्बों के बिना संजटिल भावों और विचारों की रचनात्मक अभिव्यक्ति लगभग असम्भव है। दूसरे शब्दों में, सिसृक्षण की प्रक्रिया में अभ्यन्तर का बाह्यीकरण बिम्बात्मक भाषा में होता है। इसलिए बिम्ब को "भाषा और प्रभाव के बीच की कड़ी" कहा जाता है। वह रचनाकार के आत्मप्रकाशन का सबसे बड़ा साधन है जो कल्पना द्वारा सम्भूत होकर शब्दार्थ को चारुत्व एवं उपयुक्तता प्रदान करता है। "वस्तुतः बिम्ब-विधान कला का वह मूर्त पक्ष है जिससे कलाकार की भावानयन (एब्स्ट्रेक्शन) संश्लिष्ट सौन्दर्यानुभूति को वस्तु-सत्य का संस्पर्श या तद्गत सम्पृक्त आधार के साथ सादृश्याभास मिल जाता है।"[1]

6 रचना-प्रक्रिया में बिम्ब का महत्व

रचना-कर्म में अभ्यन्तर के बाह्यीकरण के दौरान बिम्बों के प्रयोग और संयोजन का महत्व अनेकविध है। बिम्ब शाब्दिक अभिव्यक्ति की आधारभूत इकाई है। समस्त रचनात्मक अप्रस्तुत विधान किसी-न-किसी रूप में बिम्बों पर निर्भर करता है। बिम्बों ही से प्रतीक का विधान उपजता है और मिथ, फन्तासी तथा अलंकरण आदि का मूल सम्बन्ध भी इन्हीं से है। देश-काल से ऊपर उठने की सामर्थ्य भी यही पैदा करते हैं। चित्रात्मकता, ऐन्द्रियता और साम्य-सौन्दर्य की गुणवत्ताओं का समावेश इन्हीं से होता है। अनुभूति, भाव, आवेग और ऐन्द्रियता के तत्व इन्हीं से नियोजित होते हैं। उत्तेजकता, तीव्रता, अभिव्यक्ति की नवलता, आत्मीयता, उर्वरता और उचितता इन्हीं के कारण सम्भूत होती है। सौन्दर्यात्मक अनेकार्थकता, सश्लिष्टता, सम्बन्धात्मकता, सटीकता, रूपकात्मकता और प्रेषणीयता इन्हीं पर निर्भर करती है। ये संवेदनशीलता को समृद्ध करते हैं, उसे उपयुक्त वाणी देते हैं, उसमें प्राण भरते हैं, उसे क्रमबद्ध करते हैं और उसे अदृश्य से दृश्य बनाते हैं। विस्तार को समेटना अथवा थोड़े में बहुत-कुछ कह जाना इनका प्रधान गुण-धर्म है। ये रचनाकार के व्यक्तित्व, समाज और समय के परिचायक भी हैं तथा पाठक-प्रमाता के साथ उसके संवेगात्मक सम्बन्ध-सूत्र भी। "अधिक स्पष्टता के लिए हम कह सकते हैं कि बिम्ब-विधान कलाकार का एक ऐसा संवेग-संकुल प्रयास है

---

1 कुमार विमल, सौन्दर्यशास्त्र के तत्व (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1981), पृ० 217।

जिसमें वह विविध अथवा विपरीत वस्तुओं, मन स्थितियों और धारणाओं को, जो सामान्यत. विच्छिन्न और अर्थहीन लगती हैं, अपनी कल्पनाशक्ति से परस्पर मिलाकर एक नवीन सदर्भ अथवा अनुक्रम देता है तथा उनमें अनेक मार्मिक छवियों का आधान कर देता है। हम इस बिम्ब-विधान को एक दूसरी दृष्टि से भी समझ सकते हैं, क्योंकि यह बिम्ब-विधान (हिन्दी काव्यशास्त्र की भाषा में) 'अप्रस्तुत-योजना' अथवा टी० एस० इलियट के शब्दों में 'आब्जेक्टिव कॉरेलेटिव' (कवि के संवेगों का 'फेनॉमिनल इक्वीवेलेंट) का ही एक रूप है। जब कलाकार अपने अमूर्त मर्म-संवेगों की यथा तथ्य अभिव्यक्ति के लिए बाह्य जगत से (आवेष्टनगत) ऐसी वस्तुओं को कला के फलक पर इस रूप में उपस्थित करता है कि हम भी उनके भावन से वैसे ही मर्म-संवेग को प्राप्त कर सकें जिससे कलाकार पहले ही गुजर चुका है, तब उन योजित वस्तुओं की वैसी प्रस्तुति को हम बिम्ब-विधान कहते हैं।"[1]

7. बिम्बवाद

बिम्ब-विधान के अपार महत्व के कारण ही पश्चिम में बिम्बवाद का आन्दोलन चला था जिसके प्रबल समर्थक एज़रा पाउण्ड रहे हैं। पाउण्ड का तो यहाँ तक कहना है कि जीवन में अनेक ग्रंथों को रचने की बजाए एक सार्थक बिम्ब का निर्माण करना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। ग्लेन ह्यूज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इमेजिज्म एण्ड इमेजिस्ट्स' में बताया है कि पाउण्ड ने सन् 1913 में 'पोइट्री' नामक पत्रिका में स्वयं को इसलिए बिम्बवादी घोषित किया था क्योंकि उनके अनुसार भाव और विचार बिम्बमयी भाषा ही में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त किए जा सकते है। उनकी प्रबल मान्यता थी कि रचनाकार का आत्मविस्तार अथवा देश-काल की सीमाओं से उसकी विमुक्ति बिम्ब-रचना द्वारा ही सम्भव होती है।[2] टी० एच० ह्यूम, रिचर्ड एलडिंग्टन, हिल्डा डूलिटल, एमी लॉवेल, टी० एम० इलियट और फ्रांसिस स्टुअर्ट पिंलट ने भी अपने-अपने ढंग से बिम्बवादी आन्दोलन में योगदान किया है। ये बिम्बवादी रचनाकार और विचारक परम्पराशील दर्शन-बोझिल वैचारिकता के स्थान पर 'वस्तु' को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। "... के सह-प्रवक्ता पिंलट ने बिम्बवाद के तीन प्रमुख सिद्धान्तों का निरूपण किया— (1) विषयगत अथवा विषयीगत 'वस्तु' का प्रत्यक्ष चित्रण; (2) जो चित्रविधायक न हो उस शब्द के प्रयोग का बहिष्कार, और (3) लय-संगीत से युक्त शब्द-योजना।"[3]

इस प्रकार बिम्बवाद बिम्ब को रचनाकार की, विशेषतः कवि की, सर्जनात्मक

---

1. वही, पृ० 219-20।
2. ग्लेन ह्यूज, इमेजिज्म एण्ड इमेजिस्ट्स (लन्दन, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, 1931) पृ० 29।
3. मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य-खण्ड (पूर्वोद्धृत) पृ० 142।

अभिव्यक्ति का आधारभूत परिचायक गुण स्वीकार करने का आग्रह करता है। इसमे बिम्ब का महत्वा तन अवश्य होता है लेकिन यह बिम्ब की पूर्ण समझदारी का सदर्भ नहीं है। इसके समर्थकों की अपेक्षा उन रचनाकारो अथवा विवेचको के विचार अधिक महत्वपूर्ण हैं जिन्होने बिम्ब के स्वरूप का उद्घाटन प्रसगवश किया है अथवा विशिष्ट कवियो की बिम्ब-रचना के सदर्भ में उनकी सौन्दर्य-दृष्टि की समीक्षा की है। शैली, कौट्स, वर्डसवर्थ, हर्बर्ट रीड, एफ० आर लीविस, रिचर्ड एच० फोगेल, सूज़ा लेगर, जान रेनसम क्रो और सी०एफ० स्पर्जियन के अतिरिक्त स्टीफन० जे० ब्राउन, क्लीगेन, आई० ए० रिचर्ड्स आदि अनेक नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इन सबके मतो मे समानता तो नहीं है मगर अभ्यन्तर के बाह्यीकरण की दृष्टि से, इन सबको समन्वित करते हुए यही कहा जा सकता है कि ऐन्द्रिय एव भाव-सवलित मानस-प्रत्यक्षो का काल्पनिक मगर उद्देश्यानुरूप विचारित शब्द-चित्रण ही बिम्ब-विधान है।

बिम्ब पूरे परिवेश अथवा सास्कृतिक सदर्भ को अभिव्यक्त करता है, आवश्यक नही कि वह सदैव चाक्षुष हो, वह श्रवण, घ्राण, स्पर्श, स्वाद आदि से भी सम्बन्धित हो सकता है, वह भावो-विचारो का सम्यक् सवहन तथा सम्प्रेषण करता है, उसकी प्रकृति प्राय तुलनात्मक होती है और वह कई बार विपरीतो के सयोजन द्वारा भी वाछनीय अथवा आधारभूत सादृश्य की सृष्टि करता है, पद्य तथा गद्य दोनो की भाषा—यहाँ तक कि निरर्थक प्रतीत होने वाली ध्वनियो अथवा सवेगात्मक शब्दोच्चारो मे भी उसकी उपस्थिति किसी-न-किसी स्तर पर अवश्य रहती है। उदाहरण के लिए गिरिजाकुमार माथुर जब 'हेमन्ती पूनो' ('धूप के धान' सग्रह की कविता) मे लिखते हैं—"कौन जाने स्याह शीशा चाँद हो कल उड़े उजली धूप बनकर चाँदनी भी"—तब आने वाले कल की अनिश्चितता को (क्योकि समय बद से बदतर होता जा रहा है) वह 'स्याह चाद' और 'धूपमयी चादनी' के वैषम्यमूलक बिम्बो द्वारा व्यक्त करते है, लेकिन चाद की सित-शोभा और चाँदनी की शीतलता का काम्य होना भी यहाँ व्यजित है। इसी प्रकार 'रागदरबारी' मे श्रीलाल शुक्ल ने जो 'अफसरनुमा चपरासी' अथवा 'चपरासीनुमा अफसर' की बात की है उसमे ये दोनो बिम्ब वैपरीत्यमूलक होकर भी उनके औपन्यासिक व्यग्य को तीव्रतर करते है और साथ ही 'अफसर' तथा 'चपरासी' दोनो तबको की क्रमश परिवर्तित विशेषताओ का विशद उद्घाटन भी। प्रमाता-पाठक को एकाधिक अर्थ-छवियों से लुभाना और एक व्यापक परिवृत्त मे रहकर भी अपना-अपना अर्थ खोजने की प्रेरणा देना, बिम्ब का महत्वपूर्ण पक्ष है।

8 हिन्दी में बिम्ब-विचार

हिन्दी मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर नगेन्द्र, कुमार विमल और रामस्वरूप चतुर्वेदी तक अनेक आलोचको, सौन्दर्यशास्त्रियो, भाषावैज्ञानिको और रचनाकारो ने बिम्ब के महत्व को अंकित किया है। रचना के सदर्भ मे इसके प्रति आकर्षण-भाव सन्

माठ के बाद की रचनाओ के कारण अधिक बढा है। जायमी, प्रसाद और आधुनिक हिन्दी काव्य को लेकर बिम्ब-सम्बन्धी शोध-कार्य भी हुए है।

आचार्य शुक्ल की यह उक्ति प्राय उद्धृत की जाती है कि—"काव्य मे अर्थग्रहण मात्र से काम नही चल सकता, बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है।"[1] उन्होंने चिन्तामणि के कई निबधो और 'रस-मीमासा' मे 'अप्रस्तुत रूपविधान' के अन्तर्गत कल्पित रूपविधान को अत्यधिक महत्व दिया है, जो वस्तुत बिम्ब-विधान ही का दूसरा नाम है। शुक्ल जी के अनुसार बिम्बो का महत्व चित्रात्मकता और तन्मयता की स्थिति उत्पन्न करने के लिए सर्वाधिक होता है। उन्होंने काव्य मे 'बिम्ब-स्थापना' को प्रधान वस्तु मानकर उसे स्पष्टतः 'इमेजरी' के पर्यायरूप मे प्रयुक्त किया है,[2] जिससे कुछ हिन्दी शोध-कर्त्ताओ का यह मत सही प्रतीत होता है कि बिम्ब सम्बन्धी शुक्ल जी की अवधारणा भारतीय अथवा सस्कृत काव्यशास्त्र पर आधारित न होकर मूलत पाश्चात्य प्रभाव की उपज है।[3] शुक्ल जी के अनुसार "भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक साकेतिक और दूसरा बिम्बाधायक। एक मे तो नियत अर्थबोध मात्र हो जाता है, दूसरे से वस्तु का बिम्ब या चित्र अन्त करण मे उपस्थित होता।"[4] उन्होने रूपविधान के अन्तर्गत तीन प्रकारों—प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृत रूप विधान और कल्पित रूपविधान—का जो उल्लेख किया है और फिर तीसरे प्रकार को जो सर्वाधिक महत्व दिया है, वह वस्तुत बिम्ब-प्रक्रिया के सोपानो का निर्धारण और उसमे कल्पना के महत्व का प्रतिपादन है। एक अन्य स्थान पर, कल्पना के सदर्भ मे, वह इसे "कुछ चुने हुए व्यापारों की मूर्त भावनाएँ खडी करना"[5] भी कहते है।

8 2 डा० नगेन्द्र ने भी काव्य-बिम्ब के स्वरूप को उद्घाटित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। उनके अनुसार "जीवन-व्यापार मे, अर्थात् आत्म और अनात्म अथवा अन्तर्जगत और वहिर्जगत के सन्निकर्ष मे 1. अमूर्त्तन, और 2. मूर्त्तन की क्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। बिम्ब-रचना का सम्बन्ध वाणी द्वारा मूर्त्तन की क्रिया से है।"[6] वास्तव

---

1. रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि—प्रथम भाग (इलाहाबाद, इडियन प्रेस, 1958) पृ० 145।
2. रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमासा (बनारस, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० 2011) पृ० 358।
3 रामकृष्ण अग्रवाल, प्रसाद-काव्य मे बिम्ब योजना (इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन, 1979) पृ० 38।
4. रामचन्द्र शुक्ल, (वही)।
5 वही, पृ० 260।
6 नगेन्द्र, बिम्ब-रचना की प्रक्रिया, काव्य-रचना-प्रक्रिया (पूर्वोद्धृत), पृ० 18। इसके अतिरिक्त देखें डा० नगेन्द्र की पुस्तक 'काव्य-बिम्ब' (दिल्ली, नेशनल प० हाउस, 1967)।

मे उन्होंने (क्योंकि वह भी इस सम्बन्ध मे अंग्रेजी अथवा मनोविज्ञान के कोशों का हवाला देते है) तथा अन्य हिन्दी विद्वानो ने शुक्ल जी की धारणा को विकसित करते हुए बिम्ब को (कई बार काव्यशास्त्रीय सदर्भ मे ढूँढ कर भी) पाश्चात्य अर्थ ही मे ग्रहण किया है। इसकी पुनरावृत्ति यहाँ काम्य नही है। कुमार विमल के 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्व' और 'छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन' केदारनाथ सिंह के 'आधुनिक हिन्दी कविता मे बिम्बविधान', रामयतन सिंह के 'आधुनिक हिन्दी कविता मे चित्रविधान', कैलाश वाजपेयी के 'आधुनिक हिन्दी कविता मे शिल्प', उमा अष्टवग के 'छायावादोत्तर काव्य मे बिम्बयोजना' सुधा सक्सेना के 'जायसी की बिम्ब-योजना', रामकृष्ण अग्रवाल के 'प्रसाद-काव्य मे बिम्बयोजना', सुरेन्द्रनाथ सिंह के 'प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन' इन्द्रारानी के 'छायावादी काव्य और नयी कविता मे बिम्ब : तुलनात्मक अध्ययन', नरेन्द्रमोहन के 'आधुनिक हिन्दी कविता मे अप्रस्तुत-विधान,' शिवकरण सिंह के 'कला-सृजन प्रक्रिया' तथा 'कलासृजन प्रक्रिया और निराला'—आदि हिन्दी शोध-कार्यों मे भी पश्चिम का आधार ही मुख्य है।

8 3 सर्जनात्मकता और भाषा के सन्दर्भ मे रामस्वरूप चतुर्वेदी का बिम्ब-विवेचन कतिपय महत्वपूर्ण मौलिक उद्‌भावनाओ को समेटता है। 'बिम्ब-प्रक्रिया : अर्थ का अद्वैत' नामक सुचिन्तित निबन्ध मे उन्होंने पाश्चात्य बिम्ब-विचार, काव्यशास्त्रीय आधार और शुक्ल जी द्वारा निरूपित अवधारणा के अतिरिक्त हिन्दी मे बिम्ब-सश्लिष्टता के प्रति अतिसरलीकृत दृष्टिकोण की अपर्याप्तता के हवाले से यह निष्कर्ष देना चाहा है कि समकालीन रचना ने बिम्ब के परम्परागत अर्थ को बदल दिया है क्योंकि "आधुनिक बिम्ब-प्रक्रिया मे प्रस्तुत-अप्रस्तुत अभेद हो जाते है। मानव-जीवन और अनुभव अपने मे जटिल, सश्लिष्ट तथा गतिशील प्रक्रिया है, इस अनुभूति को खडित होने दिए बिना कविता उसकी पुनर्रचना करती है। और सर्जन का सूक्ष्मतम रूप, यह सश्लिष्ट पुनर्रचना भाषिक सरचना मे सबसे अधिक सम्भव होती है बिम्ब-प्रक्रिया से, जो अपनी प्रकृति मे अर्थ के द्वन्द्व को परिचालित करती हुई भी अर्थ और अनुभूति के अद्वैत की ओर उन्मुख है।"[1] बिम्ब को सर्जनात्मक भाषा का विशिष्टतत्व मानकर वह सिद्ध करते है कि बिम्ब और प्रतीक अप्रस्तुत होकर भी "भाषिक प्रक्रिया मे प्रस्तुत के स्थानापन्न हो जाते हैं, अत भाषा के अत्यन्त सवेदनशील स्तर पर रूपातरित हो जाते है, भाषा हो जाते है।"[2] इसका मतलब यह नही कि रचना-प्रक्रिया मे सवेदना और बिम्बाभिव्यक्ति मे तनाव नही होता। "आधुनिक रचना-प्रक्रिया तथा साहित्य-चिन्तन के सन्दर्भ मे जब हम बात और भाषा के अभेद और अद्वैत की बात कहते हैं तब हम तनाव पर उतना ही बल

---

1 रामस्वरूप चतुर्वेदी, सर्जन और भाषिक सरचना (इलाहाबाद, लोक भारती प्र०, 1980) पृ० 70-71।

2. वही, पृ० 47।

देते हैं जितना कि अभेद पर। अनुभव और अर्थ का यह सम्बन्ध समझना कविता और सर्जनात्मकता की प्रक्रिया को सम्भवत. अधिक गहरे और प्रकृत रूप मे समझना है। यही भाषा और सवेदना का अद्वैत है, जहाँ दोनों एक नही हैं, पर अलग-अलग होकर भी एक हो जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र मे इस अद्वैत का परिचालन प्रतीक और बिम्ब जैसे भाषिक रचनात्मक तत्वो की अपनी प्रक्रिया से होता है।"[1] इस प्रकार बिम्ब अभ्यन्तर के बाह्यीकरण की क्रिया का सर्वाधिक गतिशील, सश्लिष्ट और महत्वपूर्ण भाषिक रचनात्मक तत्व है।

9 तुलनात्मक वैशिष्ट्य

अलकार, रूपक और प्रतीक की तुलना मे बिम्ब अधिक वैशिष्ट्यपूर्ण तथा रचना की प्रक्रिया का अभिन्न अग होता है। अलकार भाषिक प्रसाधन है, उसका कितना भी व्यापक अर्थ क्यो न लिया जाए, वह रचनाकार की अभिव्यक्ति का न तो भीतरी घटक बन पाता है, न बिम्ब की तरह चिरजीवी और गतिशील होता है और न स्थूलता की सीमा का अतिक्रमण कर पाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि उच्चस्तरीय बिम्ब-निर्माता एक प्रकार से अलकार-विरोधी होता है। दूसरी ओर प्रतीक बिम्ब के अधिक निकट और उसका उपकारक होता है, मगर वह भी बिम्ब की तुलना मे अपेक्षाकृत रूढ़ तथा स्थूल तत्व है। वह बिम्ब की तरह भावचित्र नही बन पाता, बल्कि अपनी स्वीकृति से कालान्तर मे घिसपिट कर पुराना पड जाता है। पुराने प्रतीकों का नवीकरण और नये प्रतीकों का निरन्तर निर्मित होते रहना वास्तव मे इस पुरानेपन की सीमा से मुक्त होने का प्रयास कहा जा सकता है। प्रतीक का निहितार्थ लगभग पूर्वकल्पित, पूर्वनिर्दिष्ट और पूर्व-स्वीकृत होता है, जहाँ ऐसा न होने का आभास देता है, वहाँ भी उसका आग्रह निश्चित अर्थ की तलाश के प्रति ही होता है। बिम्ब मे अर्थ की नवलता, अरूढ़ता और स्वायत्तता बनी रहती है। तीसरी ओर, रूपक या 'एलिगरी' मे जानबूझ कर, किन्ही रचनाधर्मी या समाज-राजनैतिक कारणो से, वास्तविक अर्थ का परोक्षीकरण किया जाता है। छोटी रचनाओं मे तो वह निभ जाता है मगर पद्य या गद्य की बडी रचनाओं मे वह अत्यधिक आयास की माँग के कारण या तो बहुत दूर तक निभ नही पाता या फिर उसमे विशृ खलता आ जाती है। रूपकात्मक उपन्यासों मे यह कमज़ोरी अक्सर देखने को मिलती है। वास्तव मे अलकार, रूपक, प्रतीक और बिम्ब—भाषिक अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर स्तरीय तत्व हैं जिनमे बिम्ब सर्वोपरि है। इसीलिए रोलाँबार्थ ने मूल-पाठ (टेक्स्ट) सम्बन्धी अपने सिद्धान्त मे "तृतीय अर्थ" (थर्ड मीनिंग) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अर्थ का एक तो सूचनात्मक स्तर होता है और दूसरा प्रतीकात्मक, 'लेकिन क्या यही अर्थ की इतिश्री है? नहीं, क्योंकि मैं अब भी बिम्ब के वशीभूत हूँ। मैं पाठ करता हूँ और एक तीसरे अर्थ का ग्रहण। इसे नाम देना कठिन है लेकिन यह अवश्यम्भावी, अनियत

---

1. वही, पृ० 49।

और दुराग्रही है। मैं नही जानता कि इसका 'संकेतित' क्या है, मैं इसे नाम देने मे अक्षम हूँ। मगर मैं इसकी विशेषताओं को साफ देख सकता हूँ।"[1]

10. बिम्ब प्रकार

अभ्यन्तर के बाह्यीकरण अथवा भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा और रूप की तलाश में कई प्रकार के बिम्ब रचनाकार की सहायता करते हैं। सिसृक्षण मे लीन रचनाकार, विचारण के धरातल पर, पिछले प्रत्यक्षण-जात अनुभवो को वर्तमान के किन्ही अनुभवो के सन्दर्भ मे पुनरुज्जीवित करता है; लेकिन शब्दो में प्रस्तुत होने के बाद वे हू-बहू पुनरुत्पादन मात्र नही रह जाते, बल्कि नवीन सर्जनात्मक रूप धारण कर लेते हैं। बिम्ब-रचना सर्जनात्मक तभी होती है जबकि उसके पीछे आत्मोपक्रमण (सेल्फ-इनिशिएटिव) और आत्मसघटन का बल होता है, अन्यथा वह अनुकरण की श्रेणी मे चली जाती है। इसलिए हर रचनाकार का अपना-अपना बिम्ब-क्षेत्र, बिम्बाधान तथा बिम्बाग्रह होता है। परिणामत बिम्ब असख्य प्रकार के हो सकते है।

10.1 ऐन्द्रिय सवेदन के आधार पर दृश्य, श्राव्य, स्वाद्य, स्पर्श्य, गधपरक और मिश्रित बिम्बों का उल्लेख प्राय किया जाता है। अनुभूति के आधार पर सरल, खण्डित और सश्लिष्ट बिम्ब देखने को मिलते है। मूर्त्तता के आधार पर स्थूल और सूक्ष्म बिम्ब तथा वस्तु के आधार पर प्रकृति और जीवन सम्बन्धी बिम्बो की बात की जाती है। तात्पर्य यह कि रचनाकार कई प्रकार से बिम्बो का निर्माण कर सकता है। कोई दृश्य विषय, कोई घटना, कोई सवेदन, कोई विचार या धारणा, कोई उपमान रूपक या प्रतीक – ये सभी उसके बिम्ब-विधान के स्रोत हो सकते है। इनके पीछे उसकी अभिरुचि, गुणग्राहकता और उद्देश्यपरकता का विशेष हाथ होता है। साहित्य-सृजन का समकालीन मुहावरा भी उसके अवचेतन मे विद्यमान रहता है जिसके परिणामस्वरूप वह अधुनातन बिम्ब-निर्माण मे प्रवृत्त होता है। अत रोबिन स्केल्टन[2] ने रचना-प्रक्रिया या विनियोग के आधार पर प्राथमिक बिम्ब, विकसित बिम्ब, व्युत्पन्न बिम्ब —इन तीन मुख्य बिम्ब-प्रकारो का निर्धारण करते हुए काव्य की विकसित अवस्था मे बिम्ब के अन्य पाँच प्रकार भी बताये है—प्रतीक बिम्ब, रूपक-बिम्ब, उपमान-बिम्ब, चिह्न-बिम्ब तथा प्रतिलेख (ट्रान्स्क्रिप्ट) बिम्ब। सी० डी० लीविस[3] ने कार्य को आधार बनाया है और बिम्बो को केन्द्र-बिम्ब, क्रियाशील बिम्ब, अलकृत बिम्ब, रोमांटिक बिम्ब तथा क्लासिकता बिम्ब—इन पाँच वर्गो मे रखा है। फोगल[4] ने मूर्त्तता और अमूर्त्तता को ध्यान मे रख कर ठोस

---

1 रोलां बार्थ, इमेज-म्यूजिक-टेक्स्ट (ग्लासगो, फॉंताना बुक्स, 1982), पृ० 53।

2. रोबिन स्केल्टन, दि पोइटिक पैटर्न, पृ० 93।

3 सी० डी० लीविस, पोइटिक इमेज (लन्दन, जोनाथन केप, 1955), पृ० 13।

4 आर० एच० फोगल, दि इमेजरी ऑफ कीट्स एण्ड शेली (चैपलहिल, कार्लोनिया यूनि० प्रेस, 1949), पृ० 184।

(कांक्रीट) और अमूर्त बिम्बों पर बल दिया है। प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के सन्दर्भ में नगेन्द्र,[1] बिम्ब को लक्षित और उपलक्षित की कोटियों मे रखना अधिक पसन्द करते है। ऐन्द्रिय आधार पर पंचेन्द्रिय बिम्बों के अतिरिक्त उन्होंने शुक्ल जी के प्रत्यक्ष, स्मृत तथा कल्पित रूप विधान के आलोक में, सर्जक कल्पना के आधार पर स्मृत बिम्ब और कल्पित बिम्ब का उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त प्रेरक अनुभूति के आधार पर सरल, मिश्र, जटिल तथा पूर्ण बिम्ब; काव्यार्थ की दृष्टि से मुक्तक, सश्लिष्ट बिम्ब; वस्तुपरक और स्वच्छन्द बिम्ब, तथा भावों-विचारों के आधार पर प्रज्ञात्मक और भावात्मक बिम्बों मे भी बिम्ब-विभाजन किया है।

10 2 इसी प्रकार स्रोतगत आधार के अन्तर्गत परम्परा, सामयिकता तथा समकालीनता आदि क्षेत्रों के सन्दर्भ मे सास्कृतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, प्राकृतिक, आदिम, निजधरी, दार्शनिक, राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, दैनिक, व्यावसायिक; रूप-सरचना के सन्दर्भ में सान्द्र, विवृत, छायात्मक, सश्लिष्ट, एकल, खण्डित और विकीर्ण, गुणधर्मिता के सन्दर्भ मे अलंकृत, उदात्त, विराट्, नाद, प्रतीकात्मक, अमूर्त्त और पारदर्शी, सवेदना के सन्दर्भ में स्थूल सवेदना के अन्तर्गत पचेन्द्रिय, तथा सूक्ष्मक के अन्तर्गत स्मृति, कल्पना और रस सम्बन्धी, भावों के सन्दर्भ मे भाव, मनोवैज्ञानिक, प्रज्ञात्मक, यौन तथा अन्य, सौन्दर्य के सन्दर्भ में मानव-सौन्दर्यात्मक, राष्ट्र-सौन्दर्यात्मिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, प्राकृतिक, नर-नारी-शिशु सम्बन्धी; अभिव्यक्ति के सन्दर्भ में वैयाकरणिक, शब्द शक्तिगत और अप्रस्तुत योजनागत बिम्बों के प्रकारीकरण के समन्वयात्मक प्रयास भी किए गए हैं।[2]

10 3 वास्तव मे बिम्बों का वर्गीकरण विवेचन की सुविधा और बिम्ब-वैविध्य को समझने के लिए किया जाता है। अत. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक कहा है कि वर्गीकरण से बिम्ब-रचना की सश्लिष्टता को समझ पाना सम्भव नही होता। बिम्बों द्वारा अनुभव को पाठक मे सक्रमित करते समय कोई रचनाकार यह नही सोचता कि वह किस प्रकार की बिम्ब-सृष्टि कर रहा है। भाषा की सर्जनशीलता का यह बहुत सहज उपक्रम होता है। दूसरी बात यह है कि बिम्ब-विभाजन के अधिकतर प्रयास काव्य-केन्द्रित हैं। निश्चित रूप से काव्य-भाषा मे बिम्बाभिव्यक्ति अधिक विपुल, आग्रहपूर्ण और सुग्राह्य होती है, मगर बिम्बों का सम्बन्ध समस्त रचनात्मक विचारण एव परिकल्पन से होने के कारण उनकी उपस्थिति समस्त कलाओ और साहित्य-विधाओं में बनी रहती है।

1.1 आद्य-बिम्ब

अभ्यन्तर का बाह्यीकरण करते समय रचनाकार बहुत-से आद्य-बिम्बों का प्रयोग

1. नगेन्द्र, काव्य-बिम्ब (पूर्वोद्धृत), पृ० 4-11।
2 इन्द्रा रानी, छायावादी काव्य और नयी कविता में बिम्ब तुलनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित शोध प्रबंध, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1975), पृ० 50-60।

भी करता है। चेतनत. विचारित नव्य बिम्बो की अपेक्षा उसके अचेतन मे विद्यमान आद्य-बिम्ब, अपनी आयासहीनता और सहज-सम्प्रेष्यता के कारण भाषा और बोध मे विलक्षण अद्वैत की सृष्टि करते हैं। चूँकि आद्य-बिम्ब मनुष्य की सामूहिक अवचेतना से संभूत होते हैं, इसलिए एक शब्द-सकेत या वाक्य-खण्ड में नियोजित होकर भी कोई आद्य-बिम्ब अर्थ की प्रक्रिया को पूरे समाज-सास्कृतिक और ऐतिहासिक सन्दर्भ में खोल देता है। शकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' का नाम सुनते ही हम समझ जाते है कि इसमे किसी ऐसे आधुनिक गुरु का चित्रण किया गया होगा जो किसी निष्ठावान् शिष्य की कीमत पर व्यवस्था के साथ समझौता करता है। यहाँ द्रोणाचार्य का बिम्ब सर्व-परिचित और सामान्य है, मगर उसमे कलात्मक ताजगी भी है। वास्तव मे अभिव्यक्ति की सास्कृतिक शैली का समर्थतम उपकरण आद्य-बिम्ब ही होता है।

11.1 आद्य-बिम्ब अथवा 'आर्केटाइपल इमेज' मे 'आद्य' या 'आर्केटाइप' शब्द मूलत यूनानी भाषा से आया है जिसका अर्थ है वह मौलिक बनावट (ओरिजनल पैटर्न) अथवा आधारभूत प्रादर्श (मॉडल) जिसमे कई प्रतियाँ बनायी जा सकती हैं; अत. वह एक आदि-प्ररूप (प्रोटोटाइप) होता है।[1] सामूहिक अवचेत से उपजने के कारण उसकी प्रकृति सार्वभौमिकता की होती है। उसकी जड़ें मानवीय अस्तित्व के उन वैश्विक तथ्यो मे रहती हैं जो जितने आद्य होते है उतने ही अधुनातन भी—जैसे जीवन, मरण, साहस, प्रेम, इत्यादि। इन तथ्यो से सम्बद्ध कुछ चरित्र या पात्र-रूप प्रत्येक सस्कृति के आद्य-बिम्ब बन कर मानवीय चिन्तन मे समाहित होते चले गए हैं—जैसे अपराजेय नायक (राम), प्रतिनायक (दुर्योधन), पतिपरायणा (सावित्री, अनुसूया), क्रोधी (दुर्वासा), प्रतिशोधी (परशुराम) इत्यादि। इसी प्रकार सर्प या नाग, सिंह, श्येन, गरुड, हस्ती, अश्व, शूकर आदि प्राणी, वसन्त, शरद, हेमन्त आदि ऋतुएँ, सूर्य, चन्द्र, पवन, अग्नि, जल आदि प्राकृतिक शक्तियाँ, कर्णिकार, अशोक, पाटल आदि पुष्प; स्वर्ग-नरक, प्रेम-घृणा, स्वीकार-दुत्कार आदि बहुत-से कथ्य भी प्रत्येक युग की मानवीय अर्थवत्ता के अभिन्न आद्य-प्ररूप हैं जिनकी गणना नही की जा सकती। यह सर्व-स्वीकृत बात है कि ऋतु-चक्रो की तरह ये आद्य-प्ररूप भी इतिहास-चक्र मे बार-बार पूर्व-प्रादर्शों को उपस्थित करते हैं। विलक्षण मिथक-ससार के ये आधार-स्तम्भ होते है। परिणामत कोई भी साहित्य-स्रष्टा, अगर उसका जन्म किसी समाज या सस्कृति मे हुआ है, इनसे असम्पृक्त नहीं रह सकता। आज के वैज्ञानिक युग मे ये उसके विश्वास-सम्बल भले ही न हो, कटु जीवन-यथार्थ के चित्रण मे भी उसी अभिव्यक्ति मे बिम्ब के स्तर पर स्थान अवश्य पाते हैं। वास्तव मे आद्य-बिम्बो की सामग्री से साहित्य-सर्जना मे पारम्परिक ससक्ति और दीर्घजीवी आकर्षण को बल मिलता है।

---

1 इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना (पूर्वोद्धृत)।

11.2 सर्जन-व्यापार और कला-विवेचन मे आद्य-बिम्बो को अपार महत्व प्रदान करने वालों मे कार्ल युग, एरिक न्यूमान, आटो रैंक और नार्थ्रोप फ्राइ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। युग ने अपने आद्य-बिम्ब के प्रख्यात सिद्धान्त मे आद्य-बिम्ब को 'प्राइमाडियल इमेज' का नाम भी दिया है और मनुष्य के सास्कृतिक एव कलात्मक व्यवहार मे उसके अत्यधिक महत्व को स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि जो व्यक्ति इस बिम्ब मे बात करता है वह हजार जिह्वाओ से बोलता है। आद्य-बिम्बो को सामूहिक और जातीय अनुभूति मे निर्मित मानकर वह लिखते हैं—"प्राइमाडियल इमेज, अपनी सशक्तता के कारण, स्पष्ट विचार से ऊपर होती है। यह एक स्वत जीवी तन्त्र है जिसे रचनात्मक शक्ति की सम्पन्नता प्राप्त है। यह चित्यात्मक ऊर्जा का आनुवशिक नियोजन है, एक मूल पद्धति है जो ऊर्जात्मक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही नही, बल्कि उसके प्रभाव की सम्भावना भी है।"[1] उनके अनुसार आद्य-बिम्ब, ऐन्द्रिय तथा भीतरी अथवा मानसिक—दोनो प्रकार की उन प्रत्यक्षणाओ को समन्वित अर्थ प्रदान करते हैं जो प्रथम दृष्टि पर असम्बद्ध प्रतीत होती है। एरिक न्यूमान तो आद्य-बिम्बो से इस सीमा तक प्रभावित है कि उनके विचार में हर महान कलाकार का कर्म वस्तुत अपने व्यक्तित्व, समय और लक्ष्य के अनुसार अपनी निर्धारित आद्यप्ररूप यात्रा को तय करना होता है। वह मानकर चलते हैं कि सर्जक कलाकार मे आद्य-प्ररूप की प्रधानता के कारण कुछ भी 'वैयक्तिक' नही होता, कि अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति मे आद्य-बिम्बो के प्रति स्वाभाविक आकर्षण के कारण ही वह वैयक्तिक सम्बन्धो मे असफल रहता है। उनका निष्कर्ष है—"तमाम कला का एक मुख्य उद्देश्य अथवा प्रकार्य साराशत यह है कि वह 'व्यक्ति' में बैठे हुए 'निर्व्यक्ति' के आद्यप्ररूपात्मक यथार्थ को गतिशील रखती है। कलात्मक अनुभव के इस उच्चतम स्तर पर व्यक्ति अपने-आप से परे चला जाता है।"[2] इसी प्रकार नॉर्थोप फ्राइ के साहित्य-सिद्धान्त में भी आद्य-बिम्ब कलात्मक रचना-प्रक्रिया के गतिशील तथा सशक्त तत्व है। 'आद्य प्ररूपात्मक अर्थ' की सैद्धान्तिकी में वह भविष्य-सूचक (एपोकलिपिटल), पैशाचिक (डेमॉनिक) और सादृश्यमूलक (एनॉलॉजिक)—तीन प्रकार के बिम्ब-विधान की बात करते है। उनके अनुसार धर्म-सम्बन्धी अथवा बाइबल से सबधित आद्य-बिम्ब-विधान पहली श्रेणी में आते है, जिसमें पशु-पक्षियो और वनस्पतियो के जगत का परस्पर, देव-ससार और मानव-ससार के साथ रिश्ता जोड़ा जाता है। इसके विपरीत दूसरी श्रेणी का बिम्ब-विधान जीवन की यातनाओ अर्थात् अनिच्छित यथार्थ को नरक, भाग्य आदि से जुड़े हुए नागरिक जीवन को अभिव्यक्त करता है। तीसरी श्रेणी मे समझदार बुजुर्गों, आध्यात्मिक चरितों, जादूभरी शक्तियों आदि से सम्बन्धित बिम्ब-विधान द्वारा जीवन की वाछनीयताओ को चित्रित किया जाता

---

1 सी० जी० युग, साइकॉलॉजिक टाइप्स (लन्दन, केगन पाल, 1944), पृ० 560।
2 एरिक न्यूमान, आर्ट एण्ड दि क्रिएटिव अनकाशस (पूर्वोद्धृत), पृ० 106।

है।[1] इस प्रकार फ्राइ साहित्यिक अभिव्यक्ति को बिम्बात्मक मानते हैं और उसमें भी मिथकों से परिपूर्ण आद्य-बिम्बों को सबसे ऊपर रखते हैं।

12. बिम्ब-प्रक्रिया

अब प्रश्न यह है कि कोई रचनाकार बिम्ब-निर्माण करते समय किस प्रक्रिया से गुजरता है? हालांकि बिम्ब किसी रचना के शैल्पिक या भाषिक विधान में अप्रस्तुत को प्रस्तुत करने का अभिव्यक्तिगत तत्व बन कर, उसी रूप में, अधिक उजागर होता है; फिर भी उसकी प्रक्रिया रचनाकार के अवचेत में बहुत पहले आरम्भ हो चुकी होती है। उसका अवचेत ही इनका सबसे बड़ा स्रोत होता है जिसमें उसकी व्यक्तिगत और जातिगत स्मृतियाँ संस्कार-रूप में पुंजीभूत रहती हैं और जब उसे अपने भावों या विचार की अमूर्त्तता को शब्दों में मूर्त्त करने की जरूरत पड़ती है तब वे चित्र बनकर किसी क्षण में उसके सामने अनायास उपस्थित होती रहती हैं और उसकी विधायक कल्पना का संस्पर्श पाकर इस तरह शब्द-चित्रों या बिम्बों के आकार में ढलने लगती हैं कि उनमें सार्वजनीनता आ जाती है। अनुभूत संवेदनाएँ संग्राहक स्तर पर स्मृति में पुंजीभूत होकर, रूप-स्तर पर वस्तु का प्रतिभास मात्र रह जाती हैं। रचनाकार उस प्रतिभास को कल्पना द्वारा पुनः संघटित करता है तो वह अभिव्यक्ति के लिए छटपटाता हुआ भाव बनता है। यहीं पर पूर्व-स्मृतियाँ अभिव्यक्ति के लिए शब्द-साधनों की तलाश करती हैं। शब्दों में बँधकर स्मार्त भाव बिम्बों के रूप में उपस्थित होते हैं। अभ्यन्तर के बाह्यीकरण में बिम्बों की यही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसीलिए साहित्यिक बिम्बों को शब्द-चित्र भी कहा जाता है। भाषा के माध्यम से अरूप का रूपायण ही रचनात्मक बिम्ब-विधान है। वह अरूप या अमूर्त जितना सजटिल होता है, रचनाकार का बिम्बायन भी उतना ही सूक्ष्म एवं नवीन होता है। इस प्रकार बिम्ब गहरी अनुभूतियों के संवाहक बन कर किसी रचना में उपस्थित होते हैं।

12 1 यहाँ ध्यातव्य है कि अनुभूत जीवन के सभी वैविध्यमय स्मृति बिम्ब भाव-स्फूर्त होकर नहीं उभरते। बिम्ब-निर्माण के समय उनका विवेक-सम्मत चयन भी अपने-आप हो जाता है। इस चयन के परिणामस्वरूप ही बहुत से रचनाकार एकाधिक बिम्बों को दोहराते हैं, जिसका मतलब यह है कि कुछ निश्चित बिम्बों का वैशिष्ट्य रचनाकार को, उसकी प्रकृति और कलात्मक आवश्यकता के अनुरूप, प्रभावित करता है। ऊपर जिन आद्यबिम्बों की बात की गई है उनमें भी सभी कलात्मक अभिव्यक्ति में स्थान नहीं पाते। घिसे हुए तथा असंवेद्य बिम्ब किसी भी सार्थक कलाकार के अभिव्यक्ति-तंत्र में अवरोध पैदा करते हैं। अतः वह उनका त्याग करता है या उन्हें नया और कलात्मक बना कर प्रस्तुत करता है। अगर हम कुछ रचनाकारों की हस्तलिखित पाण्डु

1. नॉर्थ्रप फ्राइ, एनॉटमी ऑफ क्रिटिसिज़्म (पूर्वोद्धृत), पृ० 141-57।

लिपियों में की गई काट-छाँट पर ध्यान दें (उदाहरण के लिए 'मुक्तिबोध-रचनावली' के प्रारम्भिक पृष्ठों पर दी गई हस्तलिखित कविताओं के कुछ नमूने) तो पता चलेगा कि उपयुक्त बिम्बों की तलाश के स्थलों पर उन्होंने काट-छाँट अधिक की है।

12.2 इस प्रकार अनुभूतिमय विचार या विचारमय अनुभूति ही अन्ततोगत्वा शब्दार्थमय बिम्ब का रूप धारण करती है। काव्य-बिम्ब के निर्माण में यह प्रक्रिया अधिक स्पष्ट होती है, जबकि अन्य विधाओं में किसी केन्द्रीय भाव को पहचानने की कठिनाई के कारण बहुत से शब्द-बिम्ब रचनाकार की भाषिक अभिव्यक्ति या वाक्य-सरचना मे कदम-कदम पर अन्तर्ग्रथित प्रतीत होते हैं। कविता मे कवि की सौन्दर्य-चेतना के मुख्य परिचायक उसके द्वारा सयोजित बिम्ब अथवा शब्द चित्र होते है, लेकिन गद्यकार उस तरह के चित्रण पर सकेन्द्रण न करके बिम्बो का परोक्ष व्यग्यार्थसूचक प्रयोग ही अधिक करता है। स्वतन्त्र बिम्ब-निर्माण में जो एक प्रकार की कलात्मक अतिशयोक्ति या बिम्बगत लालित्य होता है, और कविता मे जिसे प्राण-तत्व माना जाता है, गद्यकार की भाषा में प्राय उससे बच कर चलने की प्रवृत्ति पायी जाती है; जहाँ वह बच नही पाता या बचना नही चाहता, वहाँ उसकी भाषा कविता के अधिक निकट चली जाती है। ललित निबधकार इसीलिए स्वभाव से कवि माना जाता है। कहने का मतलब यह है कि कवि द्वारा निर्मित बिम्बो का, वैचारिकता के आग्रह से स्वतन्त्र भी अपना एक कलात्मक सौन्दर्य हो सकता है, मगर नाटक, उपन्यास और कहानी जैसी काव्येतर विधाओ मे बिम्ब का प्रयोग भाषिक उपयोगिता के स्तर पर अधिक किया जाता है; हालांकि ऐन्द्रियता और भाव-प्रवणता जैसे बिम्ब-तत्वों की वहाँ मुख्य भूमिका होती है।

12 3 रचना-प्रक्रिया के प्रथम पक्ष के अन्तर्गत नगेन्द्र-प्रतिपादित बिम्ब-रचना की प्रक्रिया के चरणो का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वे वस्तुत. काव्य-रचना-प्रक्रिया ही के चरण हैं क्योंकि नगेन्द्र मानते है कि शब्दार्थ के माध्यम से मानव-अनुभूति की कल्पनात्मक पुन सृष्टि का नाम ही काव्य है, और उनके विवेचन मे यह कल्पनात्मक पुन सृष्टि बिम्बो के माध्यम से सिद्ध की गई है। दूसरे शब्दो मे, वह मान कर चलते है कि बिम्ब-निर्माण ही मुख्यत कवि-कर्म का परिचायक है। उनके अनुसार काव्यगत बिम्ब-रचना की प्रक्रिया का पहला चरण अनुभूति या अनुभव की उपस्थिति और उसका निर्वैयक्तिक किया जाना है। अनुभूति के निर्मित होने मे किसी विषय की विद्यमानता पहली शर्त होती है—जैसे कोई सुन्दर सुगधमय पुष्प। फिर विषय का, रचनाकार या प्रमाता की इन्द्रियो के साथ सन्निकर्ष होता है—जैसे फूल के वर्ण और गध के साथ चक्षु और घ्राण का जुड़ना। फिर इन्द्रियाँ मन के साथ जुड़ती हैं अर्थात् ऐन्द्रिय सवेदन मानसिक सवेदन मे बदल जाता है—जैसे पुष्प के व्याज से मन मे अनेक संवेदनो का आविर्भाव। अन्त मे मन का अतश्चेतना के साथ सम्पर्क होता है जहां पूर्व-विद्यमान सस्कारो की सहायता से सवेदन अनुभूति मे परिवर्तित हो जाते हैं—जैसे फूल के सम्बन्ध मे प्रीति की अनुभूति। इस प्रकार अनुभूति एक मूर्त्त पुष्प से शुरू होकर 'प्रीति'

की अमूर्तता में पर्यवसित हो जाती है। इस अमूर्त को शब्दार्थ द्वारा पुनः मूर्त्त करने का सबसे सफल माध्यम बिम्ब है जो अभिव्यक्ति के दौरान सबृद्ध एव सगृद्ध होता रहता है। अनुभूति को बिम्बरूप में परिणत करने का पहला चरण है अनुभूति का भोगावस्था से कट कर संस्कार मे परिवर्तित होना। इस रूपान्तर को नगेन्द्र "पूर्वानुभूति की कल्पनात्मक आवृत्ति" कहते हैं। यहाँ सचित संस्कारों के कई मानस-चित्र रचनाकार की पश्यन्ती कल्पना में उद्बद्ध होने लगते हैं और वह उनमे से आवश्यक का विवेकसम्मत चयन करता है। किसी काव्यगत पात्र पर आरोपित होने के कारण अनुभूति का निर्वैयक्तीकरण हो जाता है—वह स्वतन्त्र बिम्ब के रूप में परिकल्पित कर ली जाती है। निर्वैयक्तीकरण, कल्पना या भावना और आत्मतत्व से असम्पृक्त उपकरणो के प्रयोग द्वारा सम्भव होता है। यह प्रसग-नियोजन का चरण है। दूसरा चरण साधारणीकरण का होता है, अर्थात् कवि उस प्रसग में नियोजित 'विशेष' के सर्व-संवेद्य गुणों को उभारता है। इससे उसके बिम्ब-परिकल्पन मे विकीर्णता हट जाती है और सान्द्रित रूपरेखा स्पष्ट होने लगती है। तीसरा चरण अभिव्यजना अर्थात् शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति का चरण होता है जिसके अन्तर्गत कवि शब्द, अर्थ, लय, सगीत आदि का करता हुआ बिम्ब को पूर्णता प्रदान करता है। शब्द-शब्द के सार्थक बिम्ब, लय-संगीत आदि के श्रौत बिम्बो की सहायता से, काव्य-बिम्ब को परिपुष्ट करते हैं और कवि लक्षणा के प्रयोग द्वारा उसमे रग भर देता है।[1]

12.4 नगेन्द्र-प्रतिपादित उपर्युक्त प्रक्रिया को सामान्यत. स्वीकार किया जा सकता है; लेकिन इसके चरणो को निर्धारित करते समय उन्होंने तुलसीदास और मतिराम जैसे मध्य-युगीन कवियों के उदाहरण देना ही उपयुक्त समझा है, अज्ञेय, मुक्तिबोध जैसे उन कवियो को उन्होंने अपने विवेचन में समाविष्ट नहो किया है जिनकी अनुभूति और बिम्ब-दृष्टि अत्यधिक आधुनिक और सश्लिष्ट है तथा अपनी जटिलता के कारण परम्परागत रसवादी प्रतिमान पर पूरी तरह विश्लेषित नही की जा सकती। बिम्ब, अनुभूतियो तथा विचारों का सवहन और सम्प्रेषण करते हैं। पहले चरण के अन्तर्गत डा० नगेन्द्र ने भावो और सवेगो की बात की है, विचारो का कोई उल्लेख नहीं किया। दूसरे चरण, अर्थात् 'साधरणीकरण' मे जहाँ विशेष को सामान्य बनाने की चर्चा की गई है वहाँ रचनाकार द्वारा सहृदय-सवेद्य को उभारने पर भी बल दिया गया है, मगर उसका आधार रागात्मक ही रखा गया है—सहृदय-समाज की तादात्म्यता।

तुलसीदास की सपाट बिम्ब-योजना मे जब सीता की सुन्दरता के लिए 'छवि-गृह दीपशिखा जनु बरई' का चित्र उभारा जाता है और उपमान एवं उपमेय मे अभेद स्थापित किया जाता है, तब यह धारणा सार्थक प्रतीत होती है; लेकिन मुक्तिबोध जब 'टेढ़े मुँह

---

1. डॉ० नगेन्द्र, बिम्ब-रचना की प्रक्रिया, काव्य-रचना-प्रक्रिया, सम्पा० कुमार विमल (पूर्वोद्धृत), पृ० 14-19।

चाँद की ऐयारी रोशनी' को चोरों-उचक्कों-सी भीमाकार पुलों के नीचे बैठी हुई दिखाते हैं तब सवेद्यता का आधार तादात्म्यता का उतना नहीं रहता जितना कि विद्रूप का। वास्तव में बिम्ब की सर्व-सवेद्यता आवेष्टित ही करे, यह जरूरी नहीं होता। आधुनिक सन्दर्भ में उसकी सार्थकता इस तथ्य मे निहित रहती है कि प्रमाता रचनाकार की जगह पर खड़ा होकर नहीं, अपनी जगह पर खड़ा होकर ही विचारोत्तेजित हो सके। इसी प्रकार 'शब्दार्थ के माध्यम से अभिव्यक्ति' वाले तीसरे चरण को भी अति सरलीकृत रूप में देखा गया है—लक्षणा के प्रयोग द्वारा रूप-रेखाओं मे रंग भरना, अप्रस्तुत-विधान की सहायता से कलेवर को समृद्ध करना, और बिम्ब को पूर्णता प्रदान करना। इससे यह सिद्ध होता है कि बिम्ब-रचना जैसे कोई कारीगरी है, जबकि असलियत यह है कि बिम्ब ही से कविता की जैविक उत्पत्ति होती है और अपनी समाप्ति पर भी वह सहृदय-सक्रमित बिम्बों ही मे जीवित रहती है। अतः व्याख्या-भेद के साथ, बिम्बन-प्रक्रिया के उपर्युक्त चरणों के महत्व को समझा तथा सराहा जा सकता है।

अध्याय—नौ

प्रतीक और मिथक

1 प्रतीक

अभ्यन्तर के अमूर्त को बाह्योक्त मूर्त में ढालने का दूसरा महत्वपूर्ण भाषिक उपकरण है प्रतीक। रचनात्मक अनुभूति और विचार की पकड़ तथा सम्प्रेषणीयता के सन्दर्भ मे प्रतीक-प्रयोग लगभग अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों से लेकर आज के अर्थविज्ञानियो तक—सभी ने प्रतीक को अपना विवेच्य विषय बनाया है।

1 1 अर्थ एवं महत्व

हिन्दी मे आज 'प्रतीक' शब्द का व्यवहार अंग्रेजी 'सिम्बल' के अर्थ में किया जाता है, मगर इसकी मूल अवधारणा नयी नही है। भारतीय काव्यशास्त्र मे प्रतिपादित शब्द-शक्तियो के अन्तर्गत जिस शब्द को अभिधा के विपरीत लक्षणा और व्यंजना का संवाहक माना गया है वह वस्तुतः प्रतीक-शब्द ही है। उसके आलोक मे कहा जा सकता है कि जो शब्द वाच्यार्थ अथवा एक ही निश्चित अर्थ का संवहन न करके दो विभिन्न अर्थों को—अर्थात् सामान्यार्थ और निहितार्थ को एक-साथ व्यक्त करता है वह प्रतीकात्मक शब्द है। "प्रतीकात्मक प्रयोग मे एक ही शब्द अथवा शब्द-चित्र के द्वारा दो भिन्न अनुभूतियो अथवा विचारो का समन्वित रूप उपस्थित होता है।"[1] यह 'प्रतीक' की संक्षिप्ततम परिभाषा है। व्यापक परिभाषा-परक अर्थ मे "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य (अथवा गोचर) वस्तु के लिए किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। अमूर्त, अदृश्य, अश्रव्य, अप्रस्तुत विषय का प्रतीक प्रतिविधान मूर्त्त, दृश्य, श्रव्य,

---

1. मानविकी पारिभाषिक कोश : साहित्य खण्ड, पृ० 247।

प्रस्तुत विषय द्वारा करता है।"[1]

हिन्दी की यह कोशीय परिभाषा वस्तुत. अंग्रेजी के इस विश्व-कोशीय स्पष्टीकरण पर आधारित है कि—"प्रतीक एक पारिभाषिक सज्ञा है जो किसी ऐसी दृश्य वस्तु को दी जाती है जिसके द्वारा मन पर किसी ऐसे तत्व के प्रतिभास (सेम्बलेंस) का प्रतिनिधित्व होता है जिसे दिखाया नही जाता, बल्कि (वस्तु के) साहचर्य में पूरी तरह समझा जाता है।"[2] यहाँ साहचर्य का मतलब सादृश्य नही है; एक दूरागत, कल्पित या आरोपित गुण-साम्य है जिससे एक ही व्यापक सन्दर्भ मे अर्थ की एकाधिक सम्भावनाएँ खुलती हैं, मगर जब कोई रचनाकार उस प्रतीक-शब्द का बार-बार प्रयोग करता है तब उसका लगभग निश्चित अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है—उदाहरण के लिए मुक्तिबोध-काव्य में 'बरगद' मार्क्सवाद को और अज्ञेय का 'बावरा अहेरी' सूर्य को प्रतीकित करता है। अतः शुक्ल जी का यह कथन सार्थक है कि—"प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नही बल्कि भावना जागृत करने की निहित शक्ति है। अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य ही माना जाता है। अतः सब उपमान प्रतीक नही होते; पर जो प्रतीक होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं।"[3]

वस्तुतः प्रतीक काव्यार्थ ही की नही, आधुनिक साहित्य में पद्य अथवा गद्य की सभी विधाओं के गहरे अर्थ की सिद्धि करते हैं। कथा-साहित्य और नाटकों में तो घटनाएँ, स्थितियाँ और हरकतें भी प्रतीकात्मक होती हैं। पात्रों, उनके नामों, उनकी वेशभूषा आदि की प्रतीकात्मकता भी आज अविदित नही है। साहित्य-सृजन यदि जीवन के प्रातिनिधिक यथार्थ का सौन्दर्यबोधात्मक अथवा कलात्मक पुनस्सृजन है तो उसकी स्तरीयता, निश्चित रूप से, सार्थक प्रतीक-प्रयोग पर निर्भर करती है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य मे जो काल प्रतीक की दृष्टि से दरिद्र रहे हैं (उदाहरण के लिए द्विवेदी-युग) उनका कलात्मक महत्व प्राय बहुत कमजोर समझा जाता है और इस कमजोरी का स्पष्टीकरण हमें ऐतिहासिक अथवा साहित्य-विकासात्मक कारणों के सन्दर्भ में देना पड़ता है।

12. मनोविज्ञान और प्रतीक

मनोविज्ञान की दृष्टि से "प्रतीक एक विषय या कार्यिकी है जो किसी 'अन्य' की प्रतिनिधि या स्थानापन्न बनती है। मनोविश्लेषण-सिद्धान्त में प्रतीक एक ऐसा प्रतिनिधीकरण है जिसका विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर विषयी के अचेतन की सामग्री के

1. हिन्दी साहित्य कोश : भाग एक, सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य (वाराणसी, ज्ञान मण्डल), पृ० 515।
2 इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (पूर्वोद्धृत), पृ० 701।
3 [illegible]

साथ—विशेषत दमित काम के साथ—होता है।"[1] इस अवधारणा का दूसरा भाग आज बहुत पुराना और काट्य सिद्ध हो चुका है, मगर कलाकार अथवा प्रतीक-स्रष्टा के अचेतन या उपचेतन से प्रतीकों के उदित होने की बात लगभग निर्विवाद है। "मनुष्य की असीमित विचार-शक्ति एव अनुभूतियों की विविधता के कारण मन सभी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओ की कल्पना प्रतीक के रूप मे करता है। प्रतीको का अध्ययन हमे अज्ञात मन के क्षेत्र मे ले जाता है और इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि मनुष्य के विचार तथा उसकी क्रियाएँ अचेतन (अज्ञात) की अभिव्यक्ति मात्र हैं।"[2]

यहाँ फ्रायड, एड्लर, युग, ई० जोन्स, फिस्टर, एस० लोवी, सिलबार, पुट्नाम, फ्रेजर, मेक्डागल आदि द्वारा प्रतिपादित अथवा विकसित मनोविज्ञान-सम्मत प्रतीकवाद में उलझना काम्य नही है। यही समझ लेना यथेष्ट है कि मनोविज्ञान मे प्रतीक-रचना की दुर्निवार मानवीय प्रवृत्ति का सम्बन्ध सामूहिक अवचेत से लेकर व्यक्ति के निजी अचेतन, स्वप्न, मानसिक रोग, छल-छद्म, दैनन्दिन व्यवहार, कामपरक अभिव्यक्ति, धर्म, कला और भाषा जैसे अनेक तत्वों के साथ व्यापक रूप मे जोड़ा जाता है। दमित भावनाएँ, सकुल सवेग, महत्वपूर्ण विचार, प्रच्छन्न सम्बन्धात्मकता, वस्तुओ का मानवीकरण करने की प्रवृत्ति, कलात्मक निर्वैयक्तीकरण, जिज्ञासा, व्याख्या, भेद-निरूपण, यथार्थाभिग्रहण, सक्षेपीकरण, रूपकीकरण, प्रक्षेपण, स्थानान्तरण आदि क्रियाएँ प्रतीकों में आसानी से व्यक्त हो जाती है। साहित्य मे प्रतीक-सर्जना की पृष्ठभूमि और अनिवार्यता को समझने मे मनोवैज्ञानिक प्रतीकवाद बहुत सहायक है, मगर प्रतीकात्मक साहित्यिक अभिव्यक्ति मे भाषिक प्रयोग तथा विविधगामी अर्थ-लालित्य को उद्घाटित करने की दृष्टि से मनोविज्ञान की निश्चयात्मक भगिमा बहुत अपर्याप्त तथा अप्रासगिक सिद्ध होती है। मनोविज्ञान मे अगूठा चूसता हुआ बच्चा एक निश्चित अर्थ से परे (और वह भी काम-सूचक) कुछ भी नही है जबकि साहित्यकार इस प्रतीक का प्रयोग सन्दर्भ के अनुसार कई अर्थसम्भावनाओं मे कर सकता है—*जैसे बाल-सुलभ निश्चिन्तता, मानवीय विराटता, नया जीवन-सत्य, अकुण्ठा, आशावादी भविष्य, मरण पर जीवन की विजय आदि के अर्थ में। यही वह बिन्दु है जो साहित्यिक प्रतीको को गणित, तर्कशास्त्र, धर्म-विज्ञान, दर्शन और ज्ञान-मीमासा के प्रतीको से अलगाता है।*

1.3. प्रतीकवाद

प्रतीको के मनोवैज्ञानिक तथा अन्यक्षेत्रीय महत्व, आदिम युग से मनुष्य की अभिव्यक्ति में प्रतीकोपस्थिति और क्लासिकल साहित्य मे प्रतीकन की प्रबल प्रवृत्ति से

---

1 जेम्स ड्रेवर, ए डिक्शनरी ऑफ साइकालॉजी (पूर्वोद्धृत), पृ० 285।

2 पद्मा अग्रवाल, प्रतीकवाद (वाराणसी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 2025 वि०), पृ० 33।

प्रभावित होकर ही उन्नीसवीं सदी के अन्त में फ्रांस के जाँ मोरेआस आदि नये कवियों ने साहित्यिक प्रतीकवाद को आन्दोलन में बदला था और बॉदलेयर, मलाम, रिम्बो आदि रचनाकारों को, उन्हीं के वक्तव्यों के आधार पर या अपने विवेचनात्मक अध्ययन से प्रतीकवादी सिद्ध किया था। इंग्लैण्ड के ह्यूम, पाउन्ड, येट्स, टी० एस० इलियट और अमेरिका के एमर्सन, पो, मेलविले, थोरो आदि अनेक नाम भी साहित्यिक प्रतीकवादी आन्दोलन के साथ जुड़े हुए हैं। इन सब की यह सामान्य धारणा थी कि रचना-कर्म में प्रतीक ही एक ऐसा तत्व है जो अकथनीय को भी कथनीय बनाता है और वस्तु तथा रूप में एकता स्थापित करता है। हर आन्दोलन की तरह इस आन्दोलन के भी अपने पूर्वाग्रह थे, लेकिन इससे प्रतीक-प्रतिष्ठा को बल मिला और विश्व के अन्य साहित्यकार भी देर-सवेर से इसके द्वारा प्रभावित हुए।

1 4. हिन्दी में प्रतीकोन्मुखी प्रवृत्ति और प्रतीक-विचार

हिन्दी में प्रतीकवादी प्रभाव को निश्चित रूप से तो रेखांकित नहीं किया जा सकता लेकिन हिन्दी साहित्य के हर युग में, जाने या अनजाने रचनाकारों ने प्रतीकोपयोग अवश्य किया है। आधुनिक काल में भारतेन्दु के नाटकों में इसकी सायास शुरुआत हुई थी, लेकिन आग्रह के स्तर पर छायावादी रचनाओं में और अब सभी प्रकार के नये साहित्य में प्रतीकोन्मुखी प्रवृत्तियों को आसानी से लक्षित किया जा सकता है।

1 4.1 प्रतीक को महत्वांकित करने वालों में अज्ञेय अग्रगण्य हैं। जिस प्रकार पश्चिम में केसिरर, वाइटहेड, सूज़ा लेंगर, चार्ल्स मॉरिस, लारेंस और इलियट आदि ने प्रकारान्तर से समस्त मानवीय कार्यिकी को प्रतीकात्मक माना है उसी प्रकार अज्ञेय भी प्रतीक को साहित्यकलात्मक सिसृक्षण के विशेष परिप्रेक्ष्य में ही नहीं, मनुष्य और उसके मनुष्यत्व के निर्धारक गुणों में सर्वप्रमुख गुण के रूप में देखते हैं। अज्ञेय के शब्दों में– "मानव केवल विवेकशील प्राणी—होमो सेपिएस—ही नहीं है। पशु और मानव में इतना ही मौलिक अन्तर यह है कि मानव प्रतीक-स्रष्टा प्राणी है—होमो सिम्बालिकम्। मानव प्रतीकों की सृष्टि कर सकता है, यह बात उसे पशु से और भी महत्वपूर्ण ढंग से अलग करती है और यह उसके सारे सांस्कृतिक और प्रातिभ विकास का आरम्भ-बिन्दु है। विवेक की प्रतिभा भी प्रतीक-सृष्टि की प्रतिभा का सहारा लेकर ही प्रतिफलित होती या हो सकती है।"[1] यह मानकर कि प्रतीक मनुष्य की भाषा में संकेतात्मक सम्प्रेषण या विद्यारम्भ की पहली इकाई है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अनन्त सम्भावना-सम्पन्न तथा 'मुक्त' है, उन्होंने साहित्यिक सृजन-व्यापार में प्रतीकोपयोग की अनिवार्यता को रेखांकित किया है। उनके अनुसार—"प्रतीक अनिवार्यतया अनेकार्थसूचक होते हैं।

---

1. सच्चिदानन्द वात्स्यायन, आलवाल (दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1977), पृ० 95।

एक अर्थ दूसरे अर्थ या अर्थों के बदले नहीं आता—प्रतीक रूपक नहीं होते—एकाधिक अर्थ साथ-साथ झलकते हैं। दोनों के बीच एक तनाव का सूत्र रहता है और अर्थ उसी की प्रणाली से बहता रहता है, कभी इधर अधिक, कभी उधर अधिक। पर स्तर बहुत-से हों या केवल कुछ-एक, आवश्यक यह है कि सारे अर्थ प्रतीक में ही होने चाहिए, प्रतीक में ही सम्पूर्ण होने और झलकने चाहिए।"[1] हिन्दी के आधुनिक रचनाकारों में शायद अज्ञेय ही ने प्रतीकों पर बहुत कुछ लिखा है। 'प्रतीकों का महत्त्व', 'प्रतीक और सत्यान्वेषण', 'मानव . प्रतीक-सृष्टा' और 'काल का डमरू-नाद' आदि अनेक लेखों में उन्होंने प्रतीक के महत्त्व को 'कालजीवी मानव की सार्थकता की पहचान' तक, अथवा 'चिरन्तन वर्तमान में अमरत्व' प्राप्त करने तक विस्तार दिया है।

1.4 2 इधर 'प्रतीक शास्त्र' (परिपूर्णानन्द वर्मा), 'प्रतीकवाद' (पद्मा अग्रवाल) और 'प्रतीक-दर्शन' (वीरेन्द्र सिंह) जैसी सैद्धान्तिक पुस्तकों के अतिरिक्त 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रतीक विधान' (नित्यानन्द शर्मा) और अभिव्यंजना-शिल्प (हरदयाल), अप्रस्तुत-विधान (नरेन्द्र मोहन), प्रतीक-नाटक (रमेश गुप्त) तथा सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित अनेक शोध कार्यों एवं समीक्षाओं में भी प्रतीक के महत्त्व को पहचाना जा रहा है, जिससे सिद्ध होता है कि सिसृक्षण में प्रतीक-प्रयोग अभिव्यक्तिगत अनिवार्यता है।

1.5. रचना-प्रक्रिया में प्रतीकन की भूमिका

अभ्यन्तर का बाह्यीकरण करते समय कोई भी श्रेष्ठ रचनाकार सशक्त भावों को सशक्त भाषा में अभिव्यक्त करना चाहता है। प्रतीकों से भाषा सशक्त और कलात्मक बनती है क्योंकि वर्ण्य वस्तु के प्रतिस्थापक बनकर ये जिन अर्थों का संकेत देते हैं उनका संयोजन और सम्प्रेषण दैनिक सलाप की सामान्य भाषा में नहीं हो सकता। सामान्य भाषा के शब्द प्राय इकहरे अथवा अभिधात्मक अर्थ वाले होते हैं या फिर किन्हीं रूढ़ प्रतीकों के व्यंजक बनकर भी वे अर्थ को समुचित गहराई तथा विस्तार नहीं दे पाते। जिस प्रकार हर रचनाकार के सामने दृश्य वस्तुओं का स्वरूप, प्रतीयमान स्वरूप की अपेक्षा भिन्नस्तरीय होता है, उसी प्रकार वह उन शब्दों से भी सन्तुष्ट नहीं होता जो उसके कल्पित अर्थ का उपयुक्त प्रतिनिधित्व नहीं करते। जिस प्रतीक का प्रयोग वह करता है; उसे लगता है कि वह शब्द चाहे एक स्थानापन्न शब्द है, मगर उस स्थानापन्न का कोई अन्य विकल्प नहीं हो सकता। वास्तव में प्रतीक अनुभूति पर अर्थ की और अर्थ पर भी ठोसपन या विशिष्टार्थ की वरीयता का द्योतक है। सालवेलो के शब्दों में—"चीजें वैसी नहीं होतीं जैसी कि प्रतीत होती हैं। और हर हालत में जब तक वे किसी बड़े तथा उपयुक्त अर्थ का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं, तब तक लेखक लोग उन्हें लेकर अपना

---

1. वही, पृ० 97।

सिर नही खपाते। कोई भी गम्भीर पाठक बता सकता है कि वस बदलना एक यात्रा-मोटिफ है, चाहे वह किसी उपन्यास ही मे घटित क्यों न हो; कि एक यात्रा-पुस्तिका मृत्यु को संकेतित करती है और कोयला-घर निम्न सामाजिक स्तर या अपराधी-वर्ग को।···लेकिन क्या हम उस सब को अर्थ देते फिरेंगे जो सब लेखक द्वारा चरा जाता है?···सच्चा प्रतीक आकस्मिक अथवा अतात्विक नही, ठोस अथवा तात्विक होता है। आप उससे बच नहीं सकते, उसे हटा नही सकते। आप अथेलो से उसका रूमाल अलग नही कर सकते।"[1]

1 5 2 रचनाकार का प्रतीक-विधान जीवन-यथार्थ के प्रति उसके दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। मुक्तिबोध के लिए वह यथार्थ है वर्ग-वैषम्य पर आधारित पूंजीवादी व्यवस्था के 'अँधेरे मे' उभरती हुई चीखो को सुनकर 'सूरज के वंशधरो' की बात करना, 'दमकती दामिनी' को आमन्त्रित करना, 'काव्यात्मन् फणिधर' को उकसाना, घुमकर 'सृजन-क्षण' मे जीना और 'लाल सलाम' निवेदित करते हुए 'जिन्दगी में जो कुछ महान् है' उसके रेखांकन द्वारा 'अपने लोगो' को समर्पित हो जाना। इसलिए एक ओर वह *अपनी प्रज्ञा के सृजन-क्षण को 'मनोमूर्ति यह चिरप्रतीक'*[2] मानते हैं, दूसरी ओर उस 'ब्रह्मराक्षस' का असली चेहरा दिखाते हैं जो कोठरी मे बन्द रहने की वास्तविकता "पागल प्रतीको मे निरन्तर कह रहा है"[3] और तीसरी ओर विश्वास दिलाते है कि "घबराये प्रतीक और मुसकाते रूप चित्र, लेकर मैं घर पर जब लौटता ··"। उपमाएँ द्वार पर आते ही कहती हैं कि / सौ बरस और तुम्हे / जीना ही चाहिए"[4] क्योंकि "मेरे प्रतीक रूपक सपने फैलाते हैं आगामी के।"[5] अत: हम देखते है कि मुक्तिबोध की भाषा में, स्वयं उन्ही के अनुसार, मनोमूर्तिमय प्रतीक है, पागल प्रतीक भी हैं, घबराये प्रतीक भी हैं और सपना फैलाने वाले फतासी-प्रतीक भी है। ये सब जीवन-यथार्थ के प्रति उनके दृष्टिकोण के सूचक हैं। शमशेर ने ठीक ही लिखा है कि—"कुछ कवि अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट शब्द की खोज करते है। मुक्तिबोध विशिष्ट बिम्ब, बल्कि उससे अधिक विशिष्ट प्रतीक की योजना लाते हैं। उनके प्रतीक भी 'कथा' (या 'गाथा', 'मिथ') सृष्टि की भूमिका बनाने लगते है। मुक्तिबोध की रचनात्मक प्रक्रिया मे अद्भुत-अनोखे का विद्युत्प्राण चमकता है। रूढि और परम्परा से वितृष्ण, उनसे विद्रोह और नयी मानवता

---

1 सालवेलो, डीप रोडर्ज ऑफ दि वर्ल्ड बिवेअर, लिटरेरी सिम्बॉलिज़म, सम्पादक मौरिस बीब (*सान फ्रांसिस्को, वाड्सवर्थ पब्लिशिंग कम्पनी, 1960*), पृ० 5-6।

2 मुक्तिबोध, सृजन-क्षण, मुक्तिबोध रचनावली भाग-1 (पूर्वोद्धृत), पृ० 94।

3 मुक्तिबोध, ब्रह्मराक्षस, वही, पृ० 349।

4 मुक्तिबोध, मुझे कदम-कदम पर, वही, पृ० 190।

5 मुक्तिबोध, एक अन्तर्कथा, वही, पृ० 155।

का साग्रह आह्वान उनकी शब्दावली को उत्तेजना से, रेटॅरिक से भर देता है और चित्र विद्रूप तक हो उठते हैं; पर वस्तु-तथ्य के आधार पर वे कभी कष्टकर नहीं होते।"[1]

1.5.3. मुक्तिबोध की रचनाओं में प्रतीक-वैविध्य उपलब्ध होता है, लेकिन कुल मिलाकर उनके प्रतीकों का मुख्य स्वर भौतिक है। इसी प्रकार, जीवन-यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण के अनुरूप किसी अन्य रचनाकार के प्रतीक आध्यात्मिक हो सकते हैं (जैसे सुमित्रानन्दन पन्त का परवर्ती लेखन), किसी के संवेग प्रधान (जैसे अज्ञेय-काव्य), किसी के विद्रूप-प्रधान (भुवनेश्वर की रचनाएँ), किसी के लोक-तात्विक (नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल), किसी के समकालीन नागर (रघुवीर सहाय), किसी के विसंगत (मोहन राकेश, मणि मधुकर, रमेश बक्षी, गोविन्द मिश्र), किसी के व्यंग्य-वास्तविक (श्रीलाल शुक्ल, नरेन्द्र कोहली, हरिशंकर परसाई), किसी के लालित्य-बोधक (हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय), किसी के रोमानी (प्रसाद, महादेवी, बच्चन, नीरज, धर्मवीर भारती), किसी के मिश्रित (निराला)—आदि-आदि, अर्थात् जाकी रही भावना जैसी। यह देखना आलोचकों का काम है कि किन प्रतीकों को प्रवर और किन्हें अवर की कोटि में रखा जाए। वैसे बहुत पहले थॉमस कार्लाइल ने लिखा था—"प्रतीकों के विषय में आगे मैं यह कहना चाहता हूँ कि उनका बाहरी और भीतरी, दोनों तरह का मूल्य-महत्व होता है; अक्सर पहली तरह का महत्व।...तमाम प्रतीकों में उच्चतम वे होते हैं जिनमें कलाकार या कवि पैगम्बर के स्तर तक उठ जाता है, जिनमें जन-सामान्य को एक वर्तमान ईश्वर की पहचान मिलती है - मेरा मतलब है धार्मिक प्रतीक।"[2] धार्मिक प्रतीकों को वह सर्वाधिक चिरजीवी मानकर ही अति-महत्व देते हैं; लेकिन यह उनके युग की सीमा थी, आज के रचनाकार की कोई दूसरी सीमा हो सकती है। यह मानी हुई बात है कि रचनाकार यदि प्रतीकों द्वारा भावों और विचारों को नहीं उभार पाता तो उसका प्रतीक-विधान बेकार का व्यायाम ही कहा जा सकता है। उसके द्वारा प्रयुक्त प्रतीक पारम्परिक तथा सार्वजनिक भी हो सकते हैं, मगर अधिकांशतः वह निजी प्रतीकों को विकसित करता है। सार्वजनिक अथवा पूर्व-प्रयुक्त प्रतीक आसानी से बोधगम्य हो जाते हैं; उदाहरण के लिए कबीर की 'चदरिया', सूर का 'मधुप', महादेवी का 'दीपक'। लेकिन निजी प्रतीकों को पहली नज़र पर समझना कठिन होता है, फिर धीरे-धीरे उनके अर्थ खुलने लगते हैं जो गहराई में उतरने पर बाध्य करते हैं; जैसे मुक्तिबोध का 'चाँद' या 'औरांग-उटांग', सर्वेश्वर की 'कुआनो नदी' या 'बर्फ की सिल', रघुवीर सहाय का 'खुदीराम', श्रीकान्त वर्मा का 'जलसा घर', दुष्यन्तकुमार का 'गुलमोहर'—

---

1. शमशेर बहादुर सिंह, एक विलक्षण प्रतिभा, मुक्तिबोध के काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (नयी दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, सं० 1978) की भूमिका, पृ० 26।
2. थॉमस कार्लाइल, सिम्बल्ज़, लिटरेरी सिम्बालिज़्म, सम्पा० मौरिस बीब (पूर्वोद्धृत) पृ० 22-23।

इत्यादि। समर्थ रचनाकार प्रतीकों के द्वारा वस्तुओं का अन्यथाकरण करता है और उन्हें विचारों में बदलता है। तब वस्तुएँ अपने ऊपरी अर्थ को खोकर और सादृश्य या गुण-धर्म को गँवाकर और-की-और हो जाती हैं। बर्नार्ड० एन० नाइजेर ने 'हम्प्टी-डम्प्टी एण्ड सिम्बालिज्म' (1959) नामक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया है कि बच्चों को प्रारम्भिक कक्षा में पढ़ायी जाने वाली 'हम्प्टी-डम्प्टी सैट ऑन ए वाल' नामक कविता प्रतीक-प्रयोग का विलक्षण उदाहरण है। अपने प्रतीकार्थ में यह एक धार्मिक कविता है जिसमें 'हम्प्टी-डम्प्टी' अण्डा मात्र न रहकर मानव-जीवन और उसकी नश्वरता का पर्याय बन जाता है। "अण्डा कब अण्डा नहीं रहता? एक जवाब यह है कि 'हम्प्टी-डम्प्टी' बनकर अण्डा साहित्यिक प्रतीक में बदल गया है। हम्प्टी-डम्प्टी में अण्डे की कोई विशेषता नहीं, उसका व्यवहार भी अण्डे जैसा नहीं। यहाँ पाठक का सांस्कृतिक ज्ञान काम आता है। अतः कोई रचना कई बार उतनी ही सशक्त होती है जितनी कि 'वास्तविक' से दूर चली जाती है, प्रतीक का अर्थ कभी खत्म नहीं होता।"[1]

1 5.4 वास्तव में प्रतीक रचनाकार के अभिव्यक्ति-परक कूट होते हैं जिनमें जितनी अधिक अप्रकटता होती है उतनी ही गहरी प्रकटता भी, जितनी शाब्दिक मित-व्ययता होती है उतना ही अधिक अर्थ-प्रसार भी। वे सिसृक्षात्मक आवेग अथवा सशक्त वैचारिक मौन या अमूर्त को वाणी प्रदान करते हैं। यही कारण है कि ज्योंही हम किसी प्रतीक को रचनात्मक भाषा से अलग करते हैं त्योंही उसका समस्त सौन्दर्य छिन जाता है। येट्स ने काव्य-भाषा में प्रतीकों की भूमिका पर विचार करते हुए पहले बर्न्ज़ की ये पंक्तियाँ उद्धृत की हैं—

सफेद चांद लहर के पीछे डूब रहा है
और मेरे साथ समय, ओह!

और फिर लिखा है—"ये पंक्तियाँ पूरी तरह प्रतीकात्मक हैं। इनसे चांद और लहर की सफेदी छीन लीजिए, जिसका 'समय' के अस्त होने के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और आप इनका सौन्दर्य नष्ट कर देंगे। लेकिन जब वे साथ-साथ हैं तब संवेगों का जैसा उद्दीपन होता है वैसा अन्य किसी शब्द-संयोजन द्वारा नहीं हो सकता।"[2] अतः प्रतीकों के द्वारा विचार और कलात्मक सौन्दर्य का, संवेग की भूमि पर, संलयन होता है। इससे सम्प्रेष्यार्थ की ताजगी कभी समाप्त नहीं होती। वास्तविक से विचलन करके वास्तविक ही को अपरिसमाप्य अर्थ के स्तर पर, शिद्दत से उद्घाटित करने की यह विलक्षण भाषिक पद्धति है। लारेंस ने ठीक ही लिखा है—"प्रतीक चेतना की मूलभूत इकाई है। इसका

1. बर्नार्ड० एन० नाइजेर, हम्प्टी-डम्प्टी एण्ड सिम्बालिज्म, लिटरेरी सिम्बालिज्म (पूर्वोद्धृत), पृ० 57।
2. डब्ल्यू० बी० येट्स, ऐस्सेज (न्यूयार्क, मैकमिलन, 1924), पृ० 195।

अपना जीवन होता है। इसे आप निश्चित व्याख्या में नहीं बाँध सकते क्योंकि इसकी महिमा गत्यात्मक, सांवेगिक और संवेदनात्मक—शरीर तथा आत्मा दोनों की चेतना से सम्बन्धित होती है, सिर्फ मानसिक नहीं।"[1]

2. मिथक

अभ्यन्तर के बाह्यीकरण में रचनाकार का मिथक-ज्ञान भी बहुत सहायक होता है। चूँकि यह ज्ञान उसकी आदिम चित्यात्मक सामग्री का अंश होता है, इसलिए यह उसे संस्कारों से भी मिलता है और वह इसे अध्ययन आदि के द्वारा अर्जित भी करता है। वैसे तो 'प्रतीक-बिम्ब' तथा 'मिथकीय बिम्ब' जैसे शब्दों का प्रचलन ही बताता है कि मिथक बिम्ब-सृष्टि से बहुत पृथक नहीं है, लेकिन मिथक की विशेषता यह है कि एक तो उसका आधार अनिवार्यतः कथात्मक होता है, दूसरे वह एक लम्बे एवं सम्पूर्ण अनुभव को उभारता है और तीसरे वह रचनात्मक भाषा ही को नहीं, किसी कृति की पूरी विधा-रूपात्मक गठन को प्रभावित करता है। 'कामायनी', 'उर्वशी', 'आत्मजयी', 'संशय की एक रात', 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'एक कंठ विषपायी', 'अन्धायुग' जैसी अनेक आधुनिक रचनाएँ हैं जो उक्त तीनों विशेषताओं को प्रमाणित करती हैं और आसानी से मिथकीय कही जा सकती हैं। इनके रचनाकारों ने एकाधिक स्तरों पर मिथक की सहायता ली है।

2.1. मिथक का अर्थ

कोशीय अर्थ में 'मिथक' (मिथ) "एक परम्परागत या अनुश्रुत कथा है जो किसी अतिमानवीय या तथाकथित प्राणी अथवा घटना से सम्बन्ध रखती है, जिसकी कोई निर्धारक तथ्यपरकता अथवा स्वाभाविक व्याख्या हो भी सकती है और नहीं भी। विशेष रूप से इसका वास्ता देवताओं, अर्धदेवताओं, विश्व की उत्पत्ति तथा उस विश्व के वासियों से होता है।…यह एक ऐसा सामूहिक विश्वास भी है जो अतर्कतः स्वीकार कर लिया जाता है जिसके द्वारा किसी सामाजिक 'संस्था' के औचित्य को सिद्ध किया जाता है—जैसे दास-समाजों में दासों की जैविक निकृष्टता में विश्वास।"[2]

हिन्दी में 'मिथक' शब्द का प्रयोग उपयुक्त 'मिथ' के अर्थ ही में किया जाता है। वैसे 'मिथ' "यूनानी 'म्यूथॉस'" से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है मौखिक शब्दोच्चार। सामान्यतः 'मिथ' एक मिथ्या कथा है। उसमें नियमतः अतिप्राकृतिक या अतिमानवीय प्राणियों का संयोजन रहता है। वह हमेशा सृष्टि-प्रक्रिया से सम्बन्धित होती है। मिथ से पता चलता है कि कोई चीज अस्तित्व में कैसे आई? उससे अनुभूति और अवधारणा

---

1. डी० एच० लारेंस, सिलेक्टिड लिटरेरी क्रिटिसिज्म, सम्पा० एथनी बील (लन्दन, विलियम हेनमान, 1955), पृ० 106।
2. दि रेंडम हाउस डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश लेंग्वेज, पृ० 946।

को मूर्त रूप मिलता है।...बहुत से मिथक अर्ध-मिथक होते हैं और प्राकृतिक व्यवस्था तथा ब्रह्माण्ड की आदिम व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। क्लासिकल लेखकों के पास एक अपना बना-बनाया मिथक-शास्त्र होता था। आज के लेखक इतने भाग्यशाली नहीं हैं। अतः कुछ लेखकों ने स्वयं मिथक-निर्माण के उपाय किए हैं, ताकि उन्हें अपने विश्वासों का संवाहक बना सकें।"[1] हिन्दी के पारिभाषिक कोशों में भी 'मिथ' को 'पुराणकथा' या 'धर्मगाथा' कहकर उसका लगभग यही अर्थ किया गया है; और उसे 'दन्तकथा' या 'लीजेंड' से इस आधार पर अलगाया गया है कि दन्तकथा का विषय प्रकृति की शक्ति नहीं, मनुष्य होता है।[2] 'मिथ' के लिए 'मिथक' शब्द आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सबसे पहले व्यवहार में लाया गया था।

2.2. विज्ञान-युग और मिथक

मिथक में विचारणा, तर्क और आलोचना की शक्तियाँ नितान्त नगण्य होती हैं और प्रतीयमान 'मिथ्या' के प्रति नैतिक आस्था का भाव प्रधान होता है। उसमें सृष्टि तथा मनुष्य से सम्बन्धित रहस्यों को चमत्कार के धरातल पर प्रस्तुत करके और अधिक रहस्यमय बना दिया जाता है। उदाहरण के लिए अण्डे में से सृष्टि की उत्पत्ति, या प्रलय के उपरान्त किसी दिव्य चरित्र द्वारा मानव-जाति को विकसित करने के मिथक बहुत-सी संस्कृतियों में प्रचलित हैं, जिनकी विकासवादी अवधारणा और ऐतिहासिक तथ्यपरकता के साथ कोई तुक नहीं बैठती। इसलिए बहुत से विद्वानों के विचार में मिथक इतिहास-विरोधी, विज्ञान-विपरीत तथा आधुनिक औद्योगिक समाजों में अप्रासंगिक होने के कारण, विज्ञान युग का सन्दर्भ नहीं बन सकते। उनका तर्क है कि मनुष्य जहाँ आज खड़ा है वहाँ मिथकीय अवस्था का अतिक्रमण करके ही पहुँचा है, यही कारण है कि आज वह नये मिथकों का निर्माण नहीं करता और अनेक प्रकार के ज्ञान की मिथकीय व्याख्यायें भी नहीं जिस सामूहिक व्यक्तित्व ने मिथकों को गढ़ा था वह भी पूरी तरह विघटित हो चुका है। अतः वर्तमान और भविष्य में मिथक की न कोई सम्भावना है, न सार्थकता।

2.2.1 विज्ञानवादियों की यह धारणा आंशिक रूप से सही हो सकती है। इसे झुठलाना विज्ञान और उसकी उपलब्धियों को झुठलाना है; लेकिन इसके बावजूद आज का मनुष्य अधिकांशतः ईश्वर-विश्वासी है, देवी-देवताओं या अतिमानवीय गुरुओं की उपासना करता है, धर्मात्म होकर सार्थक बनना चाहता है। वह मिथक बना नहीं रहा है, आदिम स्तर पर उन्हें जी भी नहीं रहा है, लेकिन अपनी आध्यात्मिक समस्याओं, कलारूपों और उच्चस्तरीय सम्प्रेषण की तलाश के सदर्भ में उनकी तरफ़ कभी-कभी

1. जे० ए० कडन, डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स (नयी दिल्ली, इण्डियन बुक कम्पनी, 1977), पृ० 400।
2. मानविकी पारिभाषिक कोश-साहित्य खण्ड, पृ० 177।

लौटता अवश्य है। मनोविज्ञान भी मानता है कि मनुष्य के दिवा-स्वप्नों, उसकी कल्पनाओं-फंतासियों में मिथकीय चेतना क्रियाशील रहती है। फ्रायडियन मनोविश्लेषकों ने मिथक को मनुष्य के आदिम चिरात्मक तत्वों मे सर्वकालिक स्थान दिया है और उसके अचेतन मे, इसी के परिणामस्वरूप, शिशु सुलभता तथा त्रास आदि की उपस्थिति को स्वीकार किया है।

2.2.2. मनोवैज्ञानिक रोलो मे इससे भी आगे जाते हैं। उन्हें शिकायत है कि फ्रायडियन लोग मिथक तथा प्रतीक के केवल प्रतिगमनात्मक (रिग्रेसिव) पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करते हैं जबकि मिथकीय चेतना अग्रगमनात्मक (प्रोग्रेसिव) अथवा प्रगतिपरक भी होती है; और आज भी यदि मिथक पूरी तरह से मरे नही हैं तो अपनी इसी प्रकृति के कारण जो उन्हें भविष्य का सन्दर्भ भी बनाती है। उनके शब्दो मे मिथक "नये अर्थ, नये रूपो को भी जन्म देते हैं और इस प्रकार उस यथार्थ को उद्घाटित करते हैं जो पहले विद्यमान नही था। वह यथार्थ सिर्फ आत्मनिष्ठता का यथार्थ नही है, उसका एक दूसरा ध्रुव भी है जो हमसे बाहर है। प्रतीक और मिथक का यही अग्रगामी पक्ष है जो आगे की ओर संकेत करता है, जो समन्वयात्मक होता है प्रकृति और हमारे अस्तित्व के सम्बन्ध की संरचना को प्रगतिपरक अर्थ देता है।"[1] रोलो मे के अनुसार मनुष्य की सर्जनात्मक कायिकी मे यही पक्ष अपनी भूमिका अधिक निभाता है। मनोवैज्ञानिक व्याख्या मिथकों को चेतन और अचेतन के आपसी सम्बन्ध के रूप मे देखती है। यह व्याख्या निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है मगर मिथको पर विचार करने के बहुत से उपागमो मे यह एक उपागम मात्र है। "···मिथक विशुद्धत मनोवैज्ञानिक कभी नही होता। उसमे श्रुति या प्रकाशना (रेविलेशन) का तत्व हमेशा अन्तर्विष्ट रहता है।···अगर हम इस धार्मिक तत्व का पूरी तरह मनोविज्ञानीकरण करते हैं तो हम उस ताकत की प्रशंसा कभी नही कर सकते जिससे एस्किलस और सोफ्तोक्लिस ने अपने नाटक लिखे थे, यहाँ तक कि हम उनके वर्ण्य विषय को भी समझ नहीं सकते।···उनकी महान त्रासदियाँ मिथकों के धार्मिक आयामों के कारण लिखी गयी थीं। इन्हीं की वजह से जातीय गरिमा और उसकी नियति के अर्थ में उनके विश्वास को संरचनात्मक वर्तुलता प्रदान की जा सकी थी।"[2]

2 2 3 समाजविज्ञानो मे मिथकों को मनुष्य की संक्रमणकालीन जरूरत के रूप मे देखा जाता है। यहाँ यह बात सर्वस्वीकार्य है कि "मिथक उद्भवो से सम्बन्ध रखते हैं मगर संक्रमणो (ट्रांजिशन्ज़) मे उत्पन्न होते हैं।" वे अल्पतम प्रत्यक्ष (लिमिनल) का घटना-विधान हैं—विकास की ऐसी अवस्था हैं जो अनेक सांस्कृतिक तथा संरचनात्मक समस्याएँ पैदा करती है। "कोई व्यक्ति अथवा समूह जब मिथकीय प्रक्रिया को इस

---

1. रोलो मे, दि करेज टु क्रिएट (पूर्वोद्धृत), पृ० 91।
2 वही पृ० 111।

अल्पतम-प्रत्यक्षावस्था या आनुष्ठानिक संक्रमण-काल से गुजर रहा होता है तब वह न यहाँ होता है न वहाँ, वह अधर में लटका होता है।"[1] अत उसका व्यवहार फंतासी-परक हो जाता है और वह उस अल्पतम-प्रत्यक्ष प्रतीकवाद से काम लेता है जो, प्रत्यक्ष या लाक्षणिक स्तर पर, नैतिक आचरण की उल्लघनाओं से भरा हुआ होता है—जैसे नर-बलियाँ, नर-मांस-भक्षण, बहन-भाई अथवा माता-पुत्र के काम-सम्बन्ध। "मिथक मे एक प्रकार की असीम स्वतन्त्रता होती है—कार्य की प्रतीकात्मक स्वतन्त्रता जो किसी समाज-सस्कृति के मान-बद्ध अथवा आचार-प्रतिष्ठ व्यक्ति को प्राप्त नही होती।"[2]

मर्सिया इलियेड के अनुसार मिथक मिथ्या नही होते, बल्कि उनकी भी एक 'वास्तविकता' होती है, वे कपोल-कथाएँ मात्र नही, जिया गया यथार्थ है, सप्राण शक्तियाँ हैं। "यही कारण है कि मिथक को सत्तामीमांसा (आंटालोजी) के साथ जोडा जाता है; वह सिर्फ वास्तविकताओ की बात करता है (उसके अनुसार जो पावन है वही वास्तव है), जो वास्तव मे घटा और पूर्णतः प्रत्यक्ष हुआ था।"[3] इसी प्रकार, इलियेड के लिए यदि मिथक अध्यात्म का यथार्थ है, तो मालिनोव्स्की के लिए वह सस्कृति का यथार्थ है; अमानवीय पात्रो या सास्कृतिक नायको की धर्मतात्विक भाषा है।[4]

2 2 4 उपर्युक्त विचारो से सिद्ध होता है कि आज के विज्ञान-युग मे भी मिथको को अप्रासागिक कहकर खारिज नही किया जा सकता। उनका सम्बन्ध मानवीय अस्तित्व की समस्याओ से भी है, मानव-संस्कृति से भी है, मानव-मन के विज्ञान से भी है और अकुण्ठ मानवीय स्वातन्त्र्य से भी है। वास्तव में मिथक की जमीन पर ही आधुनिक सभ्य तथा रचनाधर्मी मनुष्य, किसी भी स्तर पर सही, आदिम मनुष्य के साथ सवादशील रहता है, बल्कि अपनी रचनात्मकता के आदिम आयाम का वर्तमान के सन्दर्भ मे साक्षात्कार करता है। उसके धर्म-कर्म, पर्व-त्योहार, ऋतु-उत्सव, व्रत-नियम, कला-साहित्य आदि मे आज भी मिथक उपस्थित हैं; मिथक, जिनका कभी कोई भौतिक अस्तित्व नही हो सकता, फिर भी जिनमें विलक्षण नाटकीयता के साथ सब कुछ यथार्थवत् घटता है, जो मानवीय कल्पना और रचनात्मक अभिव्यक्ति के सबसे बड़े प्रमाण हैं। "इस आधार पर यही सोचना सगत होगा कि मानव-मानस कही बहुत गहराई में मिथ से जुड़ा हुआ

---

1 विक्टर डब्ल्यू टर्नर, मिथ एण्ड सिम्बल, इटरनेशनल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइंसिज, सम्पा० डेविड० एल० स्टिल्ज़ (न्यूयार्क, दि मेकमिलन कम्पनी एण्ड दि फ्री प्रेस, 1968), पृ० 576।

2. वही, पृ० 577।

3 मर्सिया इलियेड, दि सेक्रिड एण्ड दि प्रोफाउण्ड (न्यूयार्क, हार्कोर्ट, 1959), पृ० 95।

4 मालिनोव्स्की, मेजिक साइंस एण्ड रिलिजन एण्ड अदर एस्सेज (लन्दन, फ्री प्रेस, 1948), पृ० 101।

है और यह भी कि वैज्ञानिक बोध ही इसकी सीमा नहीं है। मानवीय बोध या ज्ञान का बहुत बडा क्षेत्र ऐसा है जो बौद्धिकता, विश्लेषण या विज्ञान से नहीं, मिथ, मनोवेग, कविता और कला से सम्बन्ध रखता है।"[1]

2.3 रचना-प्रक्रिया और मिथक

रचनाकार और रचनाकर्म में मिथकीय चेतना की उपस्थिति कोई नयी या अजीब बात नहीं है। हर लेखक-कलाकार में चेतावचेतस्तरीय आदिम प्रवृत्ति, आम आदमी से कुछ अधिक तीव्र होती है—यह बात अब बहस का विषय नहीं रह गई है। अपने मिथक-ज्ञान की अकिंचनता के बावजूद आज का रचनाकार अभिव्यक्ति की अपर्याप्तता से व्याकुल होकर कभी-कभी आदिम बन जाता है और मिथक के माध्यम को अपनाता है। "अन्ततः कंदरावासी कलाकार और आधुनिक कलाकार में कोई विशेष भेद नहीं रहता। दोनों ही में एक अपर्याप्तता चीत्कार करती है।"[2] यह अज्ञेय का कथन है। मुक्तिबोध कलाकार की इस आदिमता को असह्य जिज्ञासा और उसके दमन-प्रयासों से जोड़ते हैं। उनकी मान्यता है कि जिज्ञासु व्यक्ति सामान्य सामाजिक अर्थ में कभी सभ्य या अभिजात नहीं होता। "जिज्ञासा वाला व्यक्ति एक बर्बर असभ्य मनुष्य होता है। वह आदिम असभ्य मानव की भाँति हरेक जड़ी और वनस्पति चखकर देखना चाहता है। ज़हरीली वस्तु चखने का खतरा तक मोल ले लेता है।"[3] निर्मल वर्मा की मान्यता है कि "कला में जो सचेत रूप से उपलब्ध किया जाता है, वह पहले से ही, नैसर्गिक रूप में, मिथक के वातावरण में मौजूद रहता है। दूसरे शब्दों में, कला अपने सृजन के उदात्ततम क्षणों में मिथक होने का स्वप्न देखती है, 'एक ऐसा स्वप्न जिसमें व्यक्ति और समूह का भेद मिट जाता है'।"[4] निर्मल वर्मा का विचार है कि अपने उदात्ततम क्षणों में मिथक होने का स्वप्न देखने के बावजूद कला में आज वे उदात्ततम क्षण दुर्लभ हो गए हैं क्योंकि 'चिरन्तन वर्तमान' के काल की चेतना को खोकर कलाकार जिस सीमित 'ऐतिहासिक काल' को जी रहा है उसमें वह स्वयं को प्रकृति तथा समूह के साथ संगति या तादात्म्य की स्थिति में नहीं, विरोध की स्थिति में अनुभव कर रहा है। महाकाव्यों ने मिथक और इतिहास के बीच की खाई पर पुल बाँधा था, मगर आज वह पुल भी टूट चुका है। आज जीवन और साहित्यकलाओं के केन्द्र में तादात्म्यप्रधान सामूहिक अवचेतना नहीं, अह-

---

1 दिनेश्वर प्रसाद, काव्य-रचना-प्रक्रिया और मिथ, काव्य-रचना-प्रक्रिया, सम्पा० कुमार विमल (पूर्वोद्धृत), पृ० 99-100।
2 अज्ञेय, त्रिशंकु (पूर्वोद्धृत), पृ० 30।
3 मुक्तिबोध, सौन्दर्य प्रतीति की प्रक्रिया, मुक्तिबोध-रचनावली-4, पृ० 146।
4 निर्मल वर्मा, कला मिथक और यथार्थ, कला का जोखिम (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1981), पृ० 21।

प्रधान आत्मचेतना आ गई है। "अनुभव के मिथकीय ढांचे में एक व्यक्ति की स्मृतियाँ हमेशा दूसरे व्यक्ति की स्मृतियों में अन्त ग्रथित और गुम्फित होती है—वहाँ अस्मिता की पहचान मनुष्य की नियति और प्रकृति से अलग नहीं होती; किन्तु इस मिथकीय दृष्टि से एक बार विगलित हो जाने पर मनुष्य सहसा अपने को एक अराजक, विशृंखलित दुनिया में पाता है, जहाँ वह अपनी अस्मिता को दूसरो के माध्यम से नही, बल्कि दूसरो के विरोध में ही परिभाषित कर सकता है।"[1] फिर भी सामान्य मनुष्य और कलाकार की मिथक-चेतना मर कभी नहीं सकती क्योंकि इसका सम्बन्ध काम्य उपलब्धियों के स्वप्न देखने से है; वह खण्ड-खण्ड हो सकती है, हो भी चुकी है। जिस प्रकार जीवन में मनुष्य 'महर्षियों' और 'योगियों' के पीछे दौड़ रहा है, उसी प्रकार कलाओं और साहित्य की दृष्टि में भी मिथकीय सन्दर्भों या मिथकीय ढाँचे का आत्मकेन्द्रित और विखण्डित सहारा ले रहा है।

2 3.1. सारीयता जो भी हो, महाकाव्य-काल से लेकर आज तक देश-विदेश के लेखकों ने, विशेष रूप से कवियों ने, न केवल स्वदेशीय बल्कि अन्य देशीय मिथकों के माध्यम से भी अभ्यन्तर का बाह्यीकरण किया। हमारे यहाँ संस्कृत के लगभग सभी काव्यों और नाटकों में, पश्चिम में गेटे, मिल्टन, कालरेज, ब्लेक, मेलविले, येट्स, जेम्स ज्वायस, लारेंस, इलियट आदि असंख्य लेखकों ने, हिन्दी में मध्य-युगीन तुलसी, सूर, जायसी और केशव, घनानन्द, भूषण से लेकर मुक्तिबोध, दुष्यन्त, नरेश मेहता या जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सुरेन्द्र वर्मा या हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र कोहली और अनेक आधुनिकों अथवा समकालीनों तक (जिनमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद और निराला भी शामिल हैं)—बहुत से रचनाकारों ने, बहुत-सी विधाओं में, मिथकीय सामग्री का उपयोग-प्रयोग किया है। पहले मिथकों को अभिव्यक्ति का साध्य अधिक बना लिया जाता था और अन्तर्वस्तु तथा रूप दोनों स्तरों पर मिथक की प्रधानता रहती थी, लेकिन वैज्ञानिक युग में इन्हें यथासम्भव अलीक-मुक्त करके या तो आधुनिक मनुष्य की मनोदशा का संवाहक बना लिया जाता है या साहित्य-रूप तथा भाषिक अभिव्यक्ति की समृद्धि का साधन अधिक बनाया जाता है। उदाहरण के लिए निराला के राम (राम की शक्ति पूजा) और दुष्यन्त के शिव (एक कंठ विषपायी) या भारती के धृतराष्ट्र (अन्धा युग) मिथकीय पात्र होकर भी मिथकीय नहीं है। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि आज का रचनाकार मिथकों की ओर लौटता है।

2 3 2. आखिर रचना की प्रक्रिया में मिथकों की ओर क्यों लौटा जाता है? इसका एक जवाब तो यह है कि मिथकीय चेतना रचनाकार के मनोविज्ञान का अविभाज्य हिस्सा होती है। वह स्वभाव ही से प्रकृति और समूह के साथ जुड़ा रहना चाहता है; अगर अपनी रचनाओं में वह किसी मिथकीय पात्र या घटना का स्पष्ट उल्लेख नहीं भी

1. वही, पृ० 17।

करता, तो भी इस चेतना से मुक्त हो पाना उसके लिए सम्भव नहीं। युग के सामूहिक अवचेत का सिद्धान्त आज भी कहीं-न-कहीं उस पर लागू अवश्य होता है। अपने एकान्त-भरे विसगत काल-खण्ड और अपने मर्दित अहं से ऊपर उठकर सामूहिक मुक्ति और व्यापक या अखण्ड मानवीय काल में विचर सकने की ललक उसमें बनी रहती है। यही आदिम ललक उसे मिथकीय माध्यम से अभिव्यक्त होने की प्रेरणा देती है। अत मिथक उसके सामाजिक जीवन की अपेक्षा उसके मनोविज्ञान का प्रश्न अधिक बन गया है। तीन-चार वर्ष पहले मनोवैज्ञानिक पाल स्वार्ट्ज़ ने, मनोविज्ञान के लिए साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करते समय, यह निष्कर्ष भी दिया था कि "मनोविज्ञान और साहित्य का मिलाप मिथक की जमीन पर होता है"[1] क्योंकि यह विश्व-व्यवस्था में मनुष्य की सामूहिक सहभागिता का सवाल है जिससे बचा नहीं जा सकता। कॉलरेज अक्सर कहा करते थे कि प्राचीन मूलप्रवृत्ति पुराने नामों की ओर लौटाती है। ब्लेक ने अपने ही मिथक गढ डाले थे। वे अपनी एक अलग रचना-प्रणाली ईजाद करना चाहते थे क्योंकि उन्हें इसके अभाव में किसी दूसरे के 'सिस्टम' पर आश्रित हो जाने का खतरा था। जर्मन उपन्यासकार स्टीफन आन्द्रे भी अपनी रचना-प्रक्रिया के हवाले से सिद्ध करना चाहते हैं कि लेखक मूलत मिथक-कार होता है। वह लिखते है—"जब मैंने पहली बार गद्य में लिखा था तब मेरी आयु पन्द्रह वर्ष की थी। मैं धर्म-तत्वज्ञ बनना चाहता था, मगर मैं धर्म-विज्ञान के प्रति बहुत ईमानदार न रह सका क्योंकि उसका सम्बन्ध मूल तत्व से होता है। मेरा विषय मनुष्य है, अतः एक योरुप निवासी ईसाई के रूप में मुझे जो विचार-प्रणाली मिली थी, उसके ढाँचे में मैंने मनुष्य की तलाश की। मेरा लक्ष्य नया 'सिस्टम' बनाना या पुराने का समर्थन करना नहीं है। लेखक धर्मतत्वज्ञ नहीं होता, धर्ममण्डक तो बिल्कुल नहीं, बल्कि यदि उसने अपने कोई पहचान बनानी ही है तो उसे मिथककार कहा जा सकता है।"[2]

2 3.3 कि लेखन मूलत. एक मिथकीय प्रक्रिया है, यह बात हिन्दी के कुछ मिथक-संस्कृति-विचारों को भी स्वीकार्य है। कुछ रचनाकारों का हवाला पहले दिया जा चुका है। दिनेश्वर प्रसाद ने काव्य-रचना-प्रक्रिया के विषय में यह प्रमाणित करना चाहा है। उनके शब्दों में—"मानव-विज्ञान, मनोविज्ञान और ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में जो कार्य हुए हैं···उनमें यह भी प्रमाणित होता है कि काव्य की प्रक्रिया मूलत मिथक-प्रक्रिया है।"[3] उनकी धारणा है कि रचना-प्रक्रिया में मिथकीय चेतना की अनिवार्य उप-

---

1. पाल स्वार्ट्ज़, ऑन दि रेलेवेंस ऑफ लिटरेचर फॉर साइकॉलॉजी, साइकॉलॉजिकल एब्स्ट्रैक्ट्स (पूर्वोद्धृत) वॉल्यूम-64, पृ० 1304-5।
2 स्टीफन आन्द्रे, एबाउट माइ वर्क, मोटिव्ज़ वाइ डू यू राइट (पूर्वोद्धृत), पृ० 14-15।
3. डी० एच० लारेंस, सिलेक्टिड लिटरेरी क्रिटिसिज़्म (लंदन, विलियम हेनमान, 1955)।

स्थिति को तभी समझा जा सकता है जब हम संस्कृति, मानवीय आस्था और लोकतत्व को पहचानते हुए यह स्वीकार करें कि इतिहास मिथकों को जन्म दे सकता है। "किसी भी जाति के जीवन को प्रभावित करने वाली असाधारण महत्व की घटनाएँ और उसके स्वरूप को गढ़ने वाले नायक मिथिक अभिप्रायों से युक्त हो जाते हैं।" उनके अनुसार समस्त मानव-जाति की मानसिक सरचना मे समानता है और उसे आदिम तथा गैर-आदिम जैसे खानों में बाँटने का बहुत सीमित महत्व ही हो सकता है। मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, प्रतीकात्मक, तर्कशास्त्रीय और सरचनात्मक सिद्धान्त-दृष्टियों के आलोक में उन्होने मानव-अस्तित्व के बुनियादी स्वभाव को मिथकोन्मुखी माना है और मनुष्य की इस 'जीवित विशेषता' को पन्त की 'छाया' तथा महादेवी की 'वसन्त-रजनी' आदि कविताओ मे उद्घाटित किया है।

2.3.4. सर्जन-व्यापार में मिथक की भूमिका को इस सन्दर्भ में भी रेखांकित किया जा सकता है कि मिथकीय पद्धति जीवन के समग्र अनुभव को (क्योंकि उसका आधार कथानुभवात्मक होता है) व्यक्त करने का अवकाश अधिक देती है—बिना किसी बौद्धिक तर्क के, बिना किसी निष्कर्षात्मक समाप्ति के। डी०एच० लारेंस ने इस तथ्य को सर्वाधिक महत्व दिया है। उनके शब्दो मे—"मिथक दलील कभी नही होता। उसका मुख्य प्रयोजन न तो दलील देना है, न नैतिक उद्देश्य की पूर्ति। आप उससे कोई निष्कर्ष नही निकाल सकते। वह तो किसी समग्र मानवीय अनुभव को व्यक्त करने का प्रयास है जिसका उद्देश्य बहुत गहरा होता है—मानसिक व्याख्या या वर्णन के लिए रक्त और आत्मा मे गहरे उतरना। कहने को हम 'क्रोनास' के मिथक को आसानी से खोल सकते हैं, मगर ऐसा करते समय हम तनिक अल्पबुद्धि होने का ही परिचय देते हैं। वह मिथक व्याख्यातीत बना रहता है क्योंकि उसमे ऐसे अनुभव का निरूपण है जो कभी नही चुकता।"

उदाहरण के लिए जब गेटे कहते है कि हम अपने नरक-दूत स्वय हैं, हम अपने-आप ही को अपने स्वर्ग से निष्कासित कर देते है, तब क्या इतने बड़े अनुभव को आसानी से और निश्चित अर्थ मे पकड़ा जा सकता है ? पकड़ा नही जा सकता, मगर गहराई से महसूस किया जा सकता है। मिथक-चेतना का कमाल है कि वह भाषा को चिरन्तन अनुभव बना देती है, उसे लम्बी विरासत के साथ जोडती है, एक ही कूट-सकेत मे बहुत कुछ कह जाती है, लेकिन इस कहने के अन्दाज़ से आनन्दित या लाभान्वित वही होता है जिसे उस भाषिक-प्रसग के मिथक की जानकारी हो। अत मिथकीय अभिव्यक्ति या तो विशिष्ट पाठकत्व की माँग करती है या फिर उन्ही मिथकों का चयन करती है, जो लोक-प्रचलित हों। कथा-सरचना के स्तर पर उर्वशी के मिथक का प्रयोग कालिदास ने भी किया है, रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी, जयशकर प्रसाद ने भी, महर्षि अरविन्द ने भी और दिनकर ने भी। सबने बात अपनी-अपनी कही है, मगर मूल मिथक यदि लोक-प्रचलित न होकर गौण अथवा पुराण-पुस्तक तक सीमित होता तो उसकी सम्प्रेष्यता सदिग्ध हो

जाती। मिथकीय समग्रानुभव की सम्प्रेष्यता संस्कृति-सापेक्ष और ज्ञान-सापेक्ष दोनों होती हैं। कोरे सवेगों से उसका अभिग्रहण नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि आज के रचना-कर्म में भी उसकी सार्थकता बनी हुई है।

2.3.5 मिथक किसी राष्ट्र की कामना-भरी फंतासियाँ हैं। उनके माध्यम से रचनाकार अपनी संदृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि उसे विचारों के सामान्यीकरण और पात्रों के प्रतिनिधिकरण की सुविधा महसूस होती है। ऊपरी नजर से देखने वालों को उसकी मिथकीय रचना में मिथक की प्रधानता दिखाई देती है, मगर गहराई से देखने पर पता चलता है कि मिथक के कथा-तत्व तो उसकी संदृष्टि को ढकने के आवरण मात्र है। उस संदृष्टि को वह ऐसे रूप और ऐसी भाषा मे प्रस्तुत करना चाहता है जो मिथक के बहाने से उसके चिन्तन के सामूहिक सूत्र को प्रतिष्ठित करते हैं। युग ने ठीक ही कहा था कि "इसीलिए कवि से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह अपने अनुभव को समुचित अभिव्यक्ति देने के लिए मिथक-शास्त्र का सहारा लेगा। यह सोचना बहुत गलत है कि ऐसा करने समय वह पुरानी या सुनी-सुनायी (सेकेण्ड-हैंड) सामग्री का उपयोग करता है। 'प्राइमार्डियल अनुभव' उसकी सिसृक्षाशीलता का स्रोत है जिसकी गहराई को मापा नहीं जा सकता; परिणामत उसे रूप-बद्ध करने के लिए मिथकीय बिम्ब-विधान की आवश्यकता पड़ती है।"[1]

लेकिन, जैसा कि युग ने संकेत मात्र किया है, कोई लेखक या कलाकार मिथकीय सन्दर्भों से तभी सार्थक सहायता ले सकता है जब वे उसकी संवेदना तथा अनुभूत समकालीन समस्याओं का संवहन कर सकें, उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम बनें; अन्यथा 'मिथक के लिए मिथक' की कोई विशेष प्रासंगिकता नहीं हो सकती। यही कारण है कि कोई भी सही रचनाकार, अपनी जरूरत के अनुसार, मिथक को घटाने-बढ़ाने, यहाँ तक कि उसमें अर्थ-विपर्यय को संग्रथित करने की छूट ले लेता है। इस प्रक्रिया में मिथकों का नवीकरण भी होता रहता है।

2.4. मिथकोपयोग के प्रकार

प्राचीन काल से आज तक असंख्य रचनाकारों ने विभिन्न प्रकार से मिथकोपयोग किया है। कालान्तर में इस उपयोग का स्वरूप और प्रयोजन बदला है। उपलब्ध मिथकीय रचनाओं के आधार पर इस उपयोग के निम्नलिखित प्रकारों को स्पष्टतः रेखांकित किया जा सकता है—

---

1. सी० जी० युंग, साइकॉलॉजी एण्ड लिटरेचर (पूर्वोद्धृत), पृ 217।

2.4.1. मिथकों का अपरिवर्तित उपयोग

क्या कोई रचनाकार अपनी पूरी रचना में, आन्तर और बाह्य के स्तर पर, मिथकों का विशुद्धतः अपरिवर्तित उपयोग कर सकता है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी, कथात्मक संरचना और अन्तर्वस्तु दोनों में अपरिवर्तित-प्राय मिथकोपयोग प्राचीन महाकाव्यों में सर्वाधिक उपलब्ध होता है। इनके रचनाकारों ने अपने युग की परिस्थितियों का पूर्ण अतिक्रमण करके या उन्हें अतिप्रच्छन्न रख के, मिथकों को धर्म-नैतिक आस्था-भाव से ग्रहण किया है और उनके पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित ही नहीं रखा, अतिशयोक्तियों से और अधिक महिमा-मण्डित भी किया है। यही कारण है कि ये महाकाव्य अधिकांशतः राष्ट्रीय धर्म-चेतना के आदर्श भी बन गए हैं। इनके सामान्यीकरण वैश्विक हैं और इनकी मूल्य चेतना सामूहिक तथा सार्वभौम है। इनके कूटों को खोलकर ही इनकी तर्क-सम्मत व्याख्या की जा सकती है। 'रामायण', 'महाभारत', 'रामचरितमानस' और 'सूरसागर' के प्रबंधात्मक अंश इसी कोटि में आते हैं। इन्हें यदि प्रचलित मिथकों का काव्यात्मक रूपान्तरण कहा जाए तो असमीचीन नहीं होगा। इनमें इतिहास का अंश भी इस प्रकार मिथकीय बन गया है कि उस पर स्वतन्त्र रूप से उँगली रखना अति कठिन हो जाता है। इनकी वास्तविक गरिमा लोकमानस की आद्यप्रारूपात्मक अभिव्यक्ति में हैं जिसने इनके प्रभाव को अतिव्यापक तथा अक्षुण्ण बना दिया है। अन्तर्बाह्य स्तर पर मिथकों का इस प्रकार का उपयोग, प्रत्येक देश में एक विशेष युग के बाद उपलब्ध नहीं होता।

2.4.2 मिथकों का किंचित परिवर्तित उपयोग

ऐसे रचनाकार भी प्रचुर संख्या में हुए हैं जिनका परम्परागत मिथकों के प्रति प्राचीन महाकाव्यात्मक आस्था-भाव भी है, मिथकीय नायकों-प्रतिनायकों की चारित्रिक विशेषताएँ भी जिन्हें लगभग उसी रूप में स्वीकार्य हैं, जिनका सामूहिक अवचेत भी शिथिल नहीं पड़ा है, जिनकी मूल्य-दृष्टि भी प्रखरतः धर्म-नैतिक है; फिर भी जिन्होंने मिथकों को कूट-स्तरीय रहस्यों से मुक्त करके, अपने युग की वांछनीयताओं के सन्दर्भ में अधिक तर्क-संगत तथा विश्वास्य बनाया है। अतः इनकी रचनाओं के कथात्मक रूप-विधान में तो मिथकीय ढाँचे का अपरिवर्तित उपयोग उपलब्ध होता है, लेकिन इनके मिथकीय पात्र और घटना-सन्दर्भ अधिक मानवीय हो गए हैं। हिन्दी में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के प्रारम्भिक आधुनिक कालीन लेखकों से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक ने मिथकों का अवलम्ब प्रायः इसी धरातल पर ग्रहण किया है। चूँकि इस काल की रचनाओं का मुख्य स्वर हिन्दू पुनरुत्थानवादी है, इसलिए मिथकों के प्रति इनका श्रद्धापूर्ण झुकाव स्वाभाविक है। यही कारण है कि इस काल में विपुल-मात्रिक पौराणिक साहित्य रचा गया। हिन्दी के प्रथम नाटक के रूप में जिन दो नाटकों की चर्चा प्रायः की जाती है वे भी (विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और गोपाल चन्द्र का 'नहुष') इसी कोटि की मिथकीय,

रचनाएँ है। भारतेन्दु का 'सत्य हरिश्चन्द्र' भी परम्परागत मिथक-निर्वाह का सुन्दर उदाहरण है। इसी प्रकार कविता के क्षेत्र मे गुप्त जी की 'पचवटी', 'जयद्रथ-वध', 'साकेत' आदि, हरिऔध की 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही-वनवास', सियारामशरण गुप्त की 'नकुल' और 'गीता-सवाद', रामचरित उपाध्याय की 'रामचन्द्र-चन्द्रिका', नवीन की 'उर्मिला' जैसी अनेक काव्यकृतियों में मिथको का परम्परा-समर्थित मगर युगानुरूप किंचित परिवर्तित उपयोग उपलब्ध होता है। उदयशंकर भट्ट के तीनों गीतिनाट्य —'मत्स्यगधा', 'विश्वामित्र' और 'राधा' पुराण-मिथकीय सुन्दरियो की कथा कहते है और मूल्यप्रधान प्रेम की प्रतिष्ठा करते है। हिन्दी साहित्य मे पुनरुत्थानवादी सास्कृतिक प्रवृत्ति की समाप्ति के साथ ही इस स्तर का मिथकोपयोग भी समाप्तप्राय-हो गया; फिर भी जगदीशचन्द्र माथुर का अन्तिम नाटक 'दशरथ-नदन' प्रमाण है कि धर्म-प्रधान आधुनिक समाजो में इस धारा का पूरी तरह सूख जाना सम्भव नही।

2 4 3 मिथकों का सर्वस्तरीय संशोधित उपयोग

नही रचनाकार के लिए मिथको की सार्थकता परम्परा-मण्डन या धार्मीय आदर्श-प्रतिष्ठापन मे नही, युगीन सत्य के उद्घाटन और सजटिल मानसिकता के रेखाकन मे होती है। इसलिए उसके द्वारा प्रयुक्त मिथक पुराना अर्थ और सन्दर्भ उतना नही रखते जितना कि समकालीन। मिथको को काट-छाटकर या सशोधित विस्तार देकर उसके माध्यम से नयी सवेदना को वाणी देने की प्रवृत्ति आज हिन्दी में सर्वाधिक मुखर है। यह प्रवृत्ति बौद्धिक, विचार-विश्लेषण प्रधान तथा मनोवैज्ञानिक अधिक है और एकाधिक विचारधाराओं से प्रभावित है। इसकी समर्थतम शुरुआत शायद 'कामायनी' से हुई थी। कामायनी की कथा का सधान तो प्राचीन मिथकीय सामग्री मे किया जा सकता है मगर प्रसाद ने उसके आन्तर-बाह्य मे, अपनी रचनात्मक अपेक्षा के अनुसार, कुशलता से सशोधन किया है। उनका मनु पिछला मनु न होकर उस सक्रमण-काल का मनु है जिसमें भारतीय समाज सास्कृतिक अथवा समूह-समर्थित जीवन-मूल्यों से कटकर औद्योगिक तथा सयान्त्रिक होने की दिशा मे अग्रसर हो रहा था। इसी प्रकार केदारनाथ मिश्र प्रभात की 'कैकेयी' मे दशरथ और कैकेयी दोनो ही समकालीन षड्यन्त्रप्रधान राजनीति की विडम्बनाओ के सवाहक है। दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' का युधिष्ठिर भयानक महायुद्धों के दुष्परिणामो से आतकित होकर "इतिहास के अध्याय पर" रोता है और रसेल की मानवतावादी चेतना का प्रसार करता है; 'रश्मिरथी' का कर्ण अवैध सन्तान होने और जाति-भेद के मर्मान्तिक द्वन्द्व को भोगता है; 'उर्वशी' का पुरुरवा पार्थिव-अपार्थिव के प्रश्न से अतिक्रान्त है तो उसकी सम्भोग्या उर्वशी विशुद्ध नारीत्व का समर्थन-पक्ष है। इसी प्रकार कुंवरनारायण का आत्मजयी, भारती का 'अन्धा युग' और 'कनुप्रिया', नरेश मेहता का 'सशय की एक रात', नागार्जुन का 'भस्माकुर', दुष्यन्त कुमार का 'एक कठ विषपायी,' आरसी प्रसाद सिंह का 'सजीवनी'--इत्यादि मिथक के कलेवर में कई प्रकार की समकालीन समस्याओ की सजटिलता या विश्लेषण करते हैं। नाटको मे माथुर का

'पहला राजा' सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', शंकर शेष का 'अरे मायावी सरोवर', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' यदि मिथकीय प्रयोग की नवलता के सुन्दर उदाहरण हैं तो उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री के 'वय रक्षामः' और हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'पुनर्नवा' से लेकर नरेन्द्र कोहली के 'अवसर', 'दीक्षा' आदि रामकथात्मक उपन्यासों तक में इस प्रकार के कई महत्वपूर्ण प्रयोग किए गए हैं। लक्ष्मीनारायण लाल का 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' तो इस प्रयोग का अप्रतिम उदाहरण है जिसमें नाटक में नाटक की पद्धति से मिथक को निभाया ही नहीं गया है बल्कि समकालीन राजनैतिक विसंगतियों में जिया अधिक गया है। वास्तव में उक्त सभी रचनाओं में मिथकीय पात्रों, घटनाओं, मूल्य-मानकों और परम्परित विचारों को इस प्रकार नये मोड़ दिये गए हैं कि वे आज के कटु यथार्थ बन गए हैं। इनके रचनाकारों की मिथक-चेतना में संतुलन, आलोचनात्मक असम्पृक्ति तथा प्रयोग-शीलता का अद्भुत कलात्मक समन्वय उपलब्ध होता है।

2 4 4 मिथकों का खण्ड-खण्ड उपयोग

हिन्दी के अनेक रचनाकारों ने अपने लेखन में कलेवर या ढाँचा तो सामाजिक या ऐतिहासिक रखा है मगर अपनी रचनाओं के बीच-बीच में मिथकीय सन्दर्भों को उठा कर, अन्तर्वस्तु तथा अभिव्यक्ति को नये आयाम दिए हैं। उदाहरण के लिए जगदीश चन्द्र माथुर ने 'कोणार्क' नाटक में सूर्य और कुन्ती के मिथक को कलाकार की प्रेरणा के संदर्भ में प्रसंगवश इस्तेमाल किया है। शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' भी इसी कोटि की मंच-प्रिय नाट्य-रचना है। इसी प्रकार शिवप्रसाद सिंह ने 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास में, रांगेय राघव के 'मुर्दों का टीला में' नागर के दोनों जीवनीपरक उपन्यासों ('मानस का हंस' और 'खंजन-नयन') और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के लगभग सभी उपन्यासों में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया जा सकता है। कुछ मिथकीय घटनाओं को लेकर स्वतन्त्र कविताएँ भी लिखी गई हैं—जैसे दुष्यन्त कुमार की 'दिग्विजय का अश्व'। लम्बी कविताओं में मिथकीय प्रसंगों का संयोजन आम बात है।

2 4 5 मिथकों का विपरीतात्मक उपयोग : मिथक-भंजन

इसमें संदेह नहीं कि मिथक-विपर्यय या मिथक-भंजन से मिथकीय सामूहिक अवचेत का उग्र एवं सीमित व्यष्टि-अवचेत में प्रतिक्रियात्मक स्थानान्तरण हो जाता है; मगर रचनाकार कई बार मिथक को तोड़कर भी अपने कथ्य की प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करता है और कर सकता है। हिन्दी में यह प्रवृत्ति बहुत नगण्य है। इसके कुछ स्फुट उदाहरण, विशेषतः विसंगतिमूलक नाट्य-रचना के संदर्भ में, उपलब्ध होते हैं। शंकर शेष के नाटक 'कोमल-गांधार' में गांधारी के परम्परागत मिथक को तोड़कर उसे उल्टा अर्थ दिया गया है—पुरुष-प्रधान समाज में प्रवंचिता नारी का अर्थ, जो प्रतिकार की भावना से आँखों पर पट्टी बाँध लेती है। इसी प्रकार रमेश बक्षी के 'देवयानी का कहना है' में देवयानी यद्यपि मिथक-पात्र न होकर नितान्त आधुनिका है

तथापि उसकी पात्र-रचना में अर्थ-विपर्यय बहुत स्पष्ट है। मिथक में देवगुरु बृहस्पति का पुत्र कच असुर-देव शुक्राचार्य से सजीवनी विद्या प्राप्त करने के लिए शुक्र-सुता देवयानी से प्रेम करता है और स्वार्थ-सिद्धि के बाद उसे छोड़कर चला जाता है; मगर इस नाटक की देवयानी ही सम्भोग के बाद अपने प्रेमी को-अस्वीकार कर देती है और परम्परागत नर-नारी सम्बन्ध को कपड़ो की तरह उतार बदलने का समर्थन करती है। लक्ष्मीनारायण लाल के 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' की शैब्या भी श्राप और भय को विश्वामित्री शोषण की शक्ति मानती है और रोहित सारी कथा को झूठी साबित करता है। रांगेय राघव के 'स्वर्गभूमि का यात्री' मे गान्धारी आँखो की पट्टी खोल देती है, पाण्डवों की कीर्ति पतित हो जाती है, पांचाली को रूप-ज्वाला से घर मे आग लगाने वाली सिद्ध किया जाता है, न्याय की दृष्टि में इन्द्र और कुत्ते को समान समझा गया है, वृद्ध कृष्ण अपने पुत्र साम्ब के कोढ़ी हो जाने पर साधारणतम व्यक्ति की तरह पीडित दिखाये गए हैं—अधक जाति के लुटेरे उनकी पट्टमहिषी रुक्मिणी को उठाकर ले जाते है और यह समाचार सुनकर अर्जुन सिर्फ इतना कहकर रह जाते है—"गांडीवधन्वा! तुम भी तो वृद्ध हो गए हो? समय क्या नही करता?" निराला ने 'कुकुरमुत्ता' के आत्मश्लाघापरक कथनो में मिथक-भजन किया है और मुक्तिबोध ने ब्रह्मदेव चन्द्रमा के मिथकीय बिम्ब को तोड कर ('ओ काव्यात्मन् फणिधर!') उसे विलासी तथा दोहरे चरित्र वाले शोषक के रूप मे चित्रित किया है, "लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया" (एक अरूप शून्य के प्रति') भी उनकी कविताओ मे उपस्थित है जो आत्मा-परमात्मा के मिथकीय नियति-वाद का मजाक उड़ाती है।

किसी भी रचनाकार के लिए मिथक-भंजन साहस ही नही दुस्साहस का काम भी होता है—खास तौर पर उन समाजो-संस्कृतियों में जहाँ मिथक के साथ छेड़-छाड को धर्म-द्रोह और अमर्यादित कर्म माना जाता है।

2.4 6 मिथक का अप्रस्तुत-विधान के स्तर पर उपयोग

अप्रस्तुत के प्रस्तुतीकरण के लिए भाषिक स्तर पर भी बहुत से रचनाकार मिथकीय शब्दो का उपयोग अकसर करते हैं। ऐसे शब्द बहुत सशक्त होते हैं क्योकि वे स्थितियों, समग्रानुभवों, मनोदशाओ, मूल्यों, जीवन-दृष्टियों, वास्तविकताओं, घटनाओ आदि के सक्षिप्त एवं सरलीकृत पर्याय बन कर आते है। 'युधिष्ठिर', 'अहिल्या', 'शबरी', 'द्रोणाचार्य', 'सीता-सावित्री', 'महाभारत', 'वनवास', 'लाक्षागृह', 'नियोग' आदि सैकडो शब्द अपनी नामात्मकता के पीछे बहुत कुछ छिपाये रहते हैं। वाक्यो अथवा वाक्य-खण्डो में भी मिथकीय प्रयोजन किया जाता है। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध ने अपनी काव्य-भाषा मे "शाल्मलि वृक्ष तले उद्विग्न खड़े दुर्धर अर्जुन" का चित्र खीचकर ('मेरे सहचर मित्र') उसे तुलसी-वन मे लगी आग पर चिन्ता करते हुए इसलिए दिखाया है क्योकि सामाजिक परिवर्तन की जरूरत को आहत आकांक्षाओ और उत्तेजित विचारो

का सदर्भ दिया जा सके। इसी प्रकार यह सिद्ध करने के लिए कि आज हम से कैसे अपना ही व्यक्तित्व खो जाता है जो आत्मान्वीक्षण के क्षणों मे हमे फिर से मिलता है, उन्होने "वैदिक ऋषि शुनःशेप के शापभ्रष्ट पिता अजीगर्त" का प्रयोग किया है (अँधेरे मे') ।

2 4 7 मिथक का मिथक-निर्माण के स्तर पर उपयोग

बहुत से विद्वानो की धारणा है कि लेखक या कलाकार अपनी रचनात्मकता को समृद्ध करने के लिए या व्यापक अमूर्त्त को मूर्त्त करने के लिए अपना नया मिथक-निर्माण भी करता है। इसके समर्थन मे या तो अंग्रेज कवि ब्लेक का उदाहरण दिया जाता है या मिथकीय सशोधनों को ही मिथक-निर्माण मान लिया जाता है। वास्तव मे, जब कोई रचनाकार अपनी फतासियो को किन्ही नयी कथा-स्थितियो का नाटकीय रूप प्रदान करता है और उसका यह प्रयोग साहित्य-जगत मे प्रसिद्ध हो जाता है तब उसके प्रयोग को मिथक-वत् प्रसिद्धि और स्वीकृति मिल जाती है। उदाहरण के लिये अज्ञेय की 'असाध्यवीणा' में प्रियवद और राजा की कथा एक मिथकीय रूप धारण कर चुकी है। यही स्थिति मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' और 'चाव्यात्मन् फणिधर' की है। इस अर्थ मे कहा जा सकता है कि मिथक-निर्माण के स्तर पर भी मिथकोपयोग किया जा सकता है, लेकिन ऐसे मिथकों का आविर्भाव रचनाकार की अपनी कल्पना से पहले होता है, बाद में वे विशेष बुद्धिजीवी वर्ग के सामूहिक अवचेत मे बैठ जाते है। सामान्य सामाजिक अर्थ मे भी कभी-कभी किन्ही चमत्कारी व्यक्तियो (धर्म-गुरुओ, पीर-पैगम्बरों) के महिमा-गान के सदर्भ मे नये मिथक निर्मित हो जाते है, लेकिन बहुत कम रचनाकार ऐसे मिथको को उपयोग करते हैं क्योकि ये मिथक सम्प्रदाय-विशेष का द्योतन अधिक करने लगते हैं।

2 5 'समकालीन मिथक' की अवधारणा

इधर, दो दशको से, 'समकालीन मिथक' (काटेम्परेरी मिथ) की अवधारणा भी उभर कर सामने आयी है—खास तौर से लक्षण-विज्ञान या सकेत-विज्ञान (सीमिऑलॉजी) के क्षेत्र मे। इसने मिथक की परम्परावादी धारणा को तोड़ा है। मार्क्स ने मिथक को उत्क्रमणात्मक (इनवर्टेड) माना था और यह सिद्ध किया था कि वह 'सभाजैतिहासिक' को 'प्राकृतिक' मे बदलती या प्रतीपित करती है। दुर्खीम ने उसे 'सामूहिक प्रतिनिधिकरण' की शक्ति के रूप मे देखा था और पत्रकारिता के अनाम वक्तव्यो तथा विज्ञापनबाजी मे उसी के प्रतिबिम्ब को स्वीकार किया था। युग आदि मनोवैज्ञानिको ने भी उसके सामूहिक आधार पर बल दिया था। लेकिन 'समकालीन मिथक' का अर्थ है मिथक को असातत्य मे देखना, प्रबधात्मक वृत्तान्तो की अपेक्षा वाक्य-बधों मे रेखाकित करना; सास्कृतिक अर्थवत्ता से हट कर वाक्यगत अभिधा और लक्षणा (डेनोटेशन एण्ड कोनोटेशन) के

सम्बन्ध-सूत्र या संकेत को पकड़ना—अर्थात् भाषिक संकेत के रूप में ग्रहण करना। रोलाँ बार्थ इसे "वैचारिकता और पदबंधात्मकता को जोड़ना" कहते हैं। अब उनका विचार है कि 'मिथकीय' को समझने का मतलब "मिथकों में नकाब हटाना नहीं बल्कि स्वयं 'प्रतीकात्मक' को चुनौती देने के लिए 'संकेत (साइन) को अनिवार्यतः झकझोड़ना है।...यह मूर्त्तीकरण के स्तरों का, या पदबंधात्मक तीव्रीकरण की अवस्थाओं का जायजा लेना है।"[1] वास्तव में रोलाँ बार्थ संकेतवादियों से भी आगे जाकर कहते हैं कि 'मिथकीय संदेश' का मतलब 'विषय' को समझना नहीं, 'विषय' को बदल देना है—"मेरा कहने का मतलब यह है कि 'मिथकीय' (दि मिथिकल) तो सर्वत्र उपस्थित रहता है।...मिथकीय संदेश को अब फिर से उन्हीं पैरों पर खड़ा करने की जरूरत नहीं है—कि उसके नीचे अभिधा हो और ऊपर लक्षणा, या सतह पर प्रकृति हो और गहरे तल में वर्ग-स्वार्थ—बल्कि उससे नये विषय (ऑब्जेक्ट) को पैदा करना है; और यही वह प्रस्थान-बिन्दु होगा जहाँ एक नया विज्ञान पदार्पण करेगा।"[2] रोलाँ बार्थ के कहने का सार यह है कि मिथकीय भाषा सर्वाधिक संकुल (थिक) होती है और जब तक *मानवीय अभिव्यक्ति बनी रहेगी तब तक उसका विस्तारण (शब्दार्थ के रूप में) होता* रहेगा। निश्चित रूप से सिसृक्षण की प्रक्रिया में, और उससे भी ज्यादा पाठ-पठन की प्रक्रिया में मिथकीय भाषा-संदर्भों का अपार महत्व है।

---

1. रोलाँ बार्थ, इमेज-म्यूजिक-टेक्स्ट (ग्लास्गो, फौंताना बुक्स, 1982), पृ० 168।
2. वही, पृ० 169।

अध्याय—दस

फंतासी और परिवर्तन-परिमार्जन

1 फंतासी

रचना की प्रक्रिया मे, बाह्य का आत्मसात्करण करते समय, रचनाकार के मन पर जो धुंधले और रहस्यात्मक कल्पना-चित्र या स्वप्निल प्रभाव उभरते है, अभ्यन्तर के बाह्यीकरण के दौरान वह उन्हे भी शब्दो मे इस प्रकार उपस्थित करता है कि वे उसके अभिव्यक्ति-पक्ष का स्वाभाविक माध्यम बन जाते हैं। इसे आजकल फंतासी-तकनीक कहा जाता है। वास्तव मे यह कोई नयी बात नही हैं क्योंकि फंतासियो को निर्मित करना मनुष्य के शैशव-स्वभाव का अभिन्न अग है। नीलम देश की परी की फंतासी मे वह स्वय ही राजकुमार होता है। रचनाकार के भीतर छिपा हुआ वह 'शिशु' ही साहित्यिक फंतासियो का निर्माण होता है।

1 1 फंतासी का अर्थ

इस प्रकार फंतासी मूलत. मनुष्य की, विशेष प्रकार की कल्पना-शक्ति है जो सामान्य तथा संगत कल्पना की अपेक्षा अधिक असयमित होती है, वह दिवास्वप्नात्मक या दु स्वप्नात्मक मानसिक बिम्ब भी है, मायावरण भी है, स्वप्नशीलता की पूरक मनोवैज्ञानिक जरूरत भी है, एक सदर्शनात्मक विचार भी है जो किसी ठोस आधार पर टिका हुआ नही होता, मौज अथवा सनक भी है, उम्दा अन्वेषण भी है, साहित्य-सृजन मे ढल कर वह "एक कल्पनाप्रधान और मनमानी रचना का रूप धारण करती है जो खास तौर से अतिप्राकृतिक अथवा अस्वाभाविक घटनाओ या चरित्रों से सम्बद्ध रखती है।"[1] इसीलिए फंतासी और मिथक मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हम पहले ही

---

1 दि रेंडम हाउस डिक्शनरी ऑफ इंग्लिश लेंग्वेज (बम्बई, तुलसी शाह एंटरप्राइजर्ज, 1970), पृ० 515।

स्पष्ट कर चुके है कि मिथक मनुष्य की सामूहिक या राष्ट्रीय या जातीय फंतासियों का ही दूसरा नाम है। आज फंतासी का वह उत्स उससे छिन चुका है; इसलिए हम कह सकते हैं कि वह मिथक से भिन्न है।

फंतासी का सही अर्थ स्वप्नचित्र है। अंग्रेजी में इसके लिए 'फैंटेसी' शब्द का व्यवहार किया जाता है जो "यूनानी शब्द 'फेंटेसिया' से बना है जिसका अर्थ है मनुष्य की वह क्षमता जो सम्भाव्य संसार को रचती है स्वत.स्फूर्त तरीके से भी और किसी राग के उत्पन्न होने पर भी। यह सम्भव है कि किसी समय इस योग्यता का व्यापक विकास नहीं हुआ था और लोग अपने दिवा-स्वप्नों को वास्तविक सदर्शनाओ, शकुनो अथवा देव-प्रकटीकरण के रूप में ग्रहण करते थे।···वायवीय शून्य को स्थान-वास या नाम देने की इस क्षमता ने कवियो, नाटककारो और चित्रकारो को बहुत देर से चक्कर मे डाल रखा है मगर मनोविज्ञान के स्तर पर इसे औपचारिक अध्ययन का विषय बनाना बीसवी शताब्दी मे ही सम्भव हो सकता है। सम्प्रति इसे लगभग 'दिवा-स्वप्न' का पर्याय मान लिया जाता है।"[1] व्यापक मनोवैज्ञानिक अर्थ मे फंतासी का सम्बन्ध उसके विचार-प्रवाह और उसकी चक्षु-बिम्बात्मक अभिव्यक्ति के साथ है। अत यह एक संजटिल माहचार्यात्मक कार्यिकी है जिसमे पिछली कोई घटना किसी कल्पित घटना के साथ जुड़कर संवेदनो तथा अनुभूतियो को स्वप्नचित्रो मे बदल देती है।

1 2 फंतासी : मनोवैज्ञानिक दृष्टि

मनोविज्ञान मे गाल्टन से लेकर आज तक फंतासी पर, व्यवहारवादी प्रक्रिया के रूप मे, बहुत विचार किया गया है और यह भी बताया गया है कि किन उद्दीपको के प्रभाव से ग्रस्त तथा कीट्स जैसे कवियो मे फंतासीपरक विचारण की प्रक्रिया, उनके शैशवानुभवों से जुड कर कविता मे व्यक्त होती थी। फ्रायड ने सम्पूर्ण साहित्य-सृजन को फंतासी ही का एक प्रकार माना है और विचारों के विरेचन मे इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि फंतासी में बाह्य जगत को समझने की अन्तर्दृष्टि अधिक प्राप्त होती है, और यह एक ऐसी धारणा है जो साहित्यिक सिसृक्षण मे भी प्रासंगिक ठहरती है। मनोवैज्ञानिक सिंगर का समावेशी मत है कि फंतासी को संज्ञानात्मक निपुणता (कॉग्निटिव स्किल) ही समझना चाहिए जो तादात्म्य अनुकरण तथा क्रीडा-भाव के कारण अधिक विकसित होती है। उनके अनुसार इसका सम्बन्ध व्यक्ति के अह के साथ ज्यादा होता है और यह सूक्ष्म विचारो के सम्प्रेषण को सुगम बनाती है।[2]

---

1. जेरोम० एल० सिंगर, फैंटेसी, इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसिज़ (न्यूयार्क, मैकमिलन एण्ड फ्री प्रैस, 1968), पृ० 327।
2. वही, पृ० 331-32।

1 3 सर्जन-व्यापार और फंतासी

चूंकि मनोविज्ञान मे एक तो फतासी को शिशु-सुलभ कायिकी के रूप मे देखा जाता है, दूसरे उसे दिवास्वप्नो तक सीमित कर दिया जाता है और तीसरे पर्यावरण या संस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे उसकी भिन्नता पर विचार नही किया जाता; इसलिए साहित्यिक सिसृक्षण में उसकी भूमिका को दूर तक समझने मे सहायता नहीं मिलती। समकालीन साहित्य और समीक्षा-शास्त्र मे फतासी एक विशिष्ट पारिभाषिक बन गया है जो विशेष प्रकार के साहित्य और अभिव्यक्ति के उपकरण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसके बावजूद उसका स्वप्नचित्रात्मक अर्थ यहाँ सुरक्षित है। हिन्दी के पारिभाषिक कोशों मे फतासी को स्वप्न-चित्रमूलक साहित्य कहा गया है जिसमे 'असम्भाव्य सम्भावनाओं' को प्राथमिकता दी जाती है। यह भी बताया गया है कि इस प्रकार के साहित्य के तीन प्रयोजन हो सकते है—"मनोरजन, यथार्थ से पलायन, और सदोष मानव एव उसके द्वारा निर्मित दोषयुक्त ससार के प्रति नया दृष्टिकोण उपस्थित करना।"[1] इस कोश मे देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों के हवाले से यह स्पष्ट किया गया है कि पहले दो प्रयोजनो की सिद्धि करने वाले साहित्य तो हिन्दी में है, मगर तीसरे प्रयोजन की दृष्टि से लिखे गए साहित्य का हिन्दी मे अभाव है, जबकि पाश्चात्य भाषाओं मे स्विफ्ट की 'गुलीवर्ज ट्रेवेल्स', वाल्तेयर की 'कांदीद', बटलर की 'एरेहवान', आर्वेल की 'एनिमल फॉर्म' आदि कथा-प्रधान और रोचक औपन्यासिक कृतियाँ इस प्रयोजन से लिखी गई फतासीमूलक रचनाएँ है।

1 3 1 वास्तव मे 'चन्द्रकान्ता' और 'गुलीवर्ज ट्रेवेल्स' जैसी कृतियों को ही फतासीमूलक रचनाएँ मान लेना भ्रामक है, साहित्यिक फतासी के महत्व को अवमूल्यित करना है। आज इस प्रकार की रचनाएँ नही लिखी जा रही है फिर भी कविताओं, कहानियो और उपन्यासो मे—रोचकता की अपेक्षा कही अधिक गहरे स्तर पर—स्वप्न-चित्रो को लक्षित किया जा सकता है। फतासी को सिसृक्षण की प्रक्रिया की एक सक्रिय शक्ति मान कर ही उसके साथ न्याय किया जा सकता है। हर रचनाकार कहीं न कही फंतासी से काम लेता है; यह और बात है कि इसकी प्रतीति उन्ही रचनाओ मे स्पष्ट होती है जिनमें इसका उपयोग तकनीक अथवा 'फॉर्म' के स्तर पर भी किया जाता है। एक तो दोनो स्तरो पर फतासी का निर्वाह कठिन होता है, इसलिए फतासी परक रचनाएँ सख्या मे कम लिखी जाती है; और दूसरे कोई भी रचना पूरी तरह फतासी नही होती बल्कि उसके वही अश फतासी मे अभिव्यक्त किये जा सकते है जिनका आकलन फतासी मूलक विचार-प्रवाह मे पडकर किया गया हो, और ऐसा समझ लेने पर प्रत्येक गम्भीर रचना मे फतासी के अशो को पकडा जा सकता है—चाहे वह 'कामायनी' हो, 'अँधेरे मे' हो, 'एक और जिन्दगी' हो, 'कफन' हो, या 'एक चूहे की मौत', या अपने-

1. मानविकी पारिभाषिक कोश-साहित्य खण्ड (पूर्वोद्धृत), पृ० 121।

अपने अजनबी' या 'एक चिथड़ा सुख'—कोई भी ऐसी रचना जो अनुभव के धरातल पर 'साकेत' की तरह एक-पक्षीय और अभिव्यक्ति के धरातल पर सपाट वृत्तान्तमयी नहीं है; बल्कि जिसमें तीव्र अन्तर्द्वन्द्व और सजटिल भावों-विचारों की उपस्थिति है, और तदनुरूप मूर्त-विधान की भी।

1.3.2 प्राय देखने में आता है कि जो रचनाकार अपने युग की विडम्बनात्मक विसंगतियों पर ही नहीं रुकते, स्थिति-विपर्यय को पकड़ने के बाद, काम्यावस्था *या* इच्छित स्थितियों की ओर भी उन्मुख होते हैं, जिन्हें विश्वास है कि कल आज जैसा नहीं होगा, वे फंतासियों से अधिक काम लेते हैं—सोचने और कहने के दोनों स्तरों पर। इसीलिए मुक्तिबोध के अनुसार "... फेंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का अनुभूत जीवन-समस्याओं का, इच्छित विश्वासों और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है ..."[1] अत सिसृक्षण की प्रक्रिया में कोई रचनाकार फंतासी का आधार लेकर वस्तु जगत के तथ्यों और अपने प्रभावात्मक आग्रहों को अधिकाधिक नेपथ्य में रखकर, तथ्यों की स्वानुभूत विशेषताओं का स्वप्न चित्रात्मक प्रक्षेप करता है। मुक्तिबोध जब बार-बार अपनी कविताओं में यह संकेत देते हैं कि उनके प्रतीक-बिम्ब आगामी के सपने फैलाते हैं तब उनके वक्तव्य की फंतासी परक सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

1.4 फंतासी : मुक्तिबोध के हवाले से कुछ समाधान

हिन्दी के छायावादोत्तर साहित्य में मुक्तिबोध ने फंतासी का सर्वाधिक उपयोग और विवेचन किया है। इसलिए सिसृक्षण में फंतासी की भूमिका समझने के लिए पहले *उनकी कविताओं में से एक उदाहरण देना और फिर फंतासी सम्बन्धी उनकी अवधारणा* को स्पष्ट करना समीचीन होगा। 'पता नहीं' शीर्षक कविता में उन्होंने क्रान्ति की कामना के उदित होने की स्थिति का एक घटनात्मक चित्र खींचा है जो उन्हीं के शब्दों में *"यह कैसी घटना है" कि स्वप्न की रचना है"*—अर्थात् स्वप्नचित्र या फंतासी है। उसमें अप्रस्तुत को फंतासी के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :—

> मुख है कि मात्र आँखें हैं वे आलोक-भरी
> जो सतत तुम्हारी चाह लिये होतीं गहरी,
> इतनी गहरी / कि तुम्हारी थाहों में अजीब हलचल,
> मानो अनजाने रत्नों की / अनपहचानी सी चोरी में
> धर लिये गये / निज में बसने, बस लिये गये।
> तब तुम्हें लगेगा अकस्मात् / ....
> ले प्रतिभाओं का सार, स्फुलिंगों का समूह / सबके मन का

1 मुक्तिबोध, कामायनी एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली-4 (पूर्वोद्धृत), पृ० 216।

जो एक बना है अग्नि-व्यूह / अन्तस्तल मे
उस पर जो छायी हैं ठण्डी / प्रस्तर सतहें
सहसा कांपी, तडकी, टूटी
औ भीतर का वह ज्वलत् कोष ही निकल पडा ! !
उत्कलित हुआ प्रज्वलित कमल ! !
यह कैसी घटना है··· / कि स्वप्न की रचना है ।
उस कमल-कोष के पराग-स्तर पर / खडा हुआ
सहसा होता है प्रकट एक / वह शक्ति-पुरुष
जो दोनो हाथो आसमान थामता हुआ
आता समीप अत्यन्त निकट / आतुर उत्कट
तुम को कधे पर बिठला ले जाने किस ओर
न जाने कहाँ व कितनी दूर ! ![1]

अब अगर इस कविताश को फंतासी-चित्र के निगूढार्थ से काटकर देखें तो 'तुम' स्पष्टत· मुक्तिबोध का वह अप्रस्तुत श्रोता है जिसके दु ख से पिघल कर मुक्तिबोध ने जिसे अनेक कविताओं मे सम्बोधित किया है। मुक्तिबोध उसे बता रहे है कि जब उसके हाथ मे मित्र का हाथ होगा तब वही बरगद-छाँह फैलेगी और स्वर्गीय उषा का उदय होगा (यह कविताश उसी उषा की फंतासी है)। उस उषा की आलोक भरी आँखें, अप्रस्तुत पाठक की मानसिक थाह के साथ इतनी गहरी हो जाती है कि पाठक-श्रोता के मन में हलचल मच जाती है, उसे लगता है कि वह अनजाने रत्नो की चोरी मे धर-कम लिया गया है। फिर अचानक उसे सपना सा दीखता है—कि उसके अन्तस्तल मे जो अगारो का समूह था उस पर पडी हुई पथरीली तहें तडक-टूट गयी है और भीतर का अगर-पुज बाहर निकल पड़ा है। फिर दिखाई देता है कि एक अग्नि-कमल खिल उठा है जिसके बीचों-बीच एक विराट शक्ति पुरुष प्रकट हो गया है। उसने दोनो हाथो पर आसमान उठा रखा है, वह बहुत निकट आ रहा है, हमे कन्धो पर बिठा कर न जाने कहाँ और कितनी दूर ले जाना चाहता है। सपना समाप्त होता है। प्रभाव छोड जाता है कि पता नही जिन्दगी अब कौन से खतरो से जूझेगी !

उक्त कविताश और उसका प्रारम्भिक अर्थ-ग्रहण कुछ प्रश्न छोड जाता है जिनका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है —

1 इस फतासी का वास्तविक वस्तु-पक्ष या निगूढार्थ क्या है ?
2. क्या वह वस्तु-पक्ष पूर्व-चिन्तित था ?
3. क्या शब्द-बद्ध रूप मे उपलब्ध होने वाला वस्तु-पक्ष या स्वप्नचित्र वही है जिसका कल्पना में स्वप्निल आकलन किया गया था।

---

1 मुक्तिबोध, पता नही, मुक्तिबोध रचनावली-दो (पूर्वोद्धृत), पृ० 278-79।

4. मुक्तिबोध को फंतासी-शिल्प ने ऐसी कौन सी सुविधा प्रदान की है जो सरल प्रतीकों या किसी अन्य मूर्त विधान से प्राप्त न होती ?

1.4.1 इस फंतासी के वस्तु-पक्ष या निगूढार्थ को मुक्तिबोध की अन्य कविताओं और उनके गद्यात्मक वक्तव्यों की सहायता से ठीक-ठीक समझा जा सकता है। इसका सम्बन्ध मुक्तिबोध की मार्क्सवादी या समाजवादी दृष्टि से है और यदि इसकी अन्य पूरक कविताओं का ज्ञान हमें न भी हो (आखिर कविता को खुद ज्यादा बोलना चाहिये) तो भी विचारधारात्मक कविताएँ अपने सदर्भगत सम्प्रेषण के लिए अतिरिक्त पाठकीय ज्ञान की मांग करती है। अत विचारधारात्मक सन्दर्भ के अनुसार—मित्र का हाथ पकड़ कर, सुनहली उषा के आलोक में शक्ति-पुरुष के कन्धों पर बैठकर दूर की यात्रा पर निकलने का एक ही अर्थ हो सकता है इकाई का समूह में या आत्म का अनात्म में, या व्यष्टि का समष्टि में व्यक्तित्वान्तरित हो जाना और क्रान्ति के मार्ग से वर्गहीन समाज के कठिन तथा लम्बे सकल्प को पूरा करना। कविता के शेष फंतासी मूलक उपचित्र इसी सकल्प में रंग भरते हैं। इस संकल्प की पूर्ति के लिए जरूरी है कि *पीड़ित वर्ग के लोग अपने अनुभवों को साँझा करें, यथार्थ को पहचानें ताकि समानधर्मी* बनकर क्रान्ति के समान-लक्ष्य की ओर उन्मुख हो सकें। *'स्वर्णिम उषा'* उसी क्रान्ति या नवजागरण का सपना है जो बहुमुखी होकर हजार आँखों से परिवर्तन-कामी मनुष्य के मन में उद्वेलन तथा उमग भरता है। वह इस सपने में कस लिया जाता है और अब तक के अनजाने विचार-रत्नों को चुरा कर प्रतिबद्ध हो जाता है। 'चोरी' में प्राथमिक आशका का भाव निहित है। लेकिन धीरे-धीरे सामूहिक मुक्ति या क्रान्तिपरक विचारधारा का अग्निव्यूह, सदियों से जमी हुई सस्कार-पर्तों को फोड़कर भास्वर हो उठता है। फिर वह अग्नि समूह या 'ज्वलत्कोष' एक 'प्रज्वलित कमल' में बदल जाता है। यह क्रान्ति का नव-निर्माणात्मक पक्ष है, उसकी मानव-प्रेम से ओत-प्रोत कठोर कोमलता है। तभी *उस प्रज्वलित कमल के केन्द्र में मुक्तिबोध का प्रिय शक्तिपुरुष उपस्थित होता है।* "उक्त शक्तिपुरुष सर्वहारा जनक्रान्ति का अग्रदूत है जो मध्यवर्ग के मुक्ति को छटपटाते जनों को आत्मचेतस बनाता है और उनका वर्गापसारण करने के लिए सक्रिय रहता है।"[1]

1.4.2 यह दावा करना तो बहुत गलत होगा कि उक्त फंतासी-चित्र का उक्त अर्थ ही अन्तिम है क्योंकि फंतासी या विधान ही अर्थ की निरन्तरता के लिए किया जाता है, और फिर प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत की जितनी असगति फंतासी में होती है उतनी किसी दूसरे विधान में नहीं (मुक्तिबोध के शब्दों में "वह फंतासी ही क्या जिसमें असगति न हो ?"); फिर भी इसके सभी अर्थ इसी वस्तु पक्ष की धुरी पर घूमेंगे। क्या यह वस्तु-पक्ष मुक्तिबोध का पूर्वचिन्तित था ? हाँ अगर यह अपूर्व चिन्तित होने का या

1. अशोक चक्रधर, मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया (नयी दिल्ली, मैकमिलन (1975), पृ० 157

स्वत स्फूर्त होने का आभास देता है तो इसका कारण इसकी प्रच्छन्नता, इसमें भाव-पक्ष की प्रधानता और फतासी-विधान की अपनी नियमशीलता है। पूर्वचिन्तित इसलिए है कि इसमे वाह्य जगत और कवि-चेतना के द्वन्द्व से विकसित वह अनुभव विद्यमान है जो मुक्तिबोध को मथता रहा है और जिसे समुचित अभिव्यक्ति देने की कोशिश मे ही वह यहाँ तक पहुँचे है। कला के तीन क्षणो (अनुभव, फैंटेसी और शब्दबद्धता) का विवेचन करते समय उन्होने फैंटेसी को अनुभव की कन्या और कृति को फैंटेसी की पुत्री कहा है। उनके अनुसार फतासी के क्षण मे वैयक्तिक अनुभव बदल कर निर्वैयक्तिक हो जाता है, उसमे एक उद्देश्य समा जाता है जो फतासी को गतिशील रखता है। "क्यो कलाकार को प्रतीत होता है कि उसकी बात सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है? इसलिए कि स्थितिबद्ध और स्थिति मुक्त वैयक्तिकता का समन्वय उच्चतर स्थिति मे पहुँच जाता है।"[1] इसके परिणामस्वरूप, वे प्रभाव जो पहले आभास-मात्र होते है, कवि के मानस-पटल पर "चित्रों की पाँत" बन कर उभरने लगते हैं और वह उन्हे "भाषा-प्रवाहित" करना चाहता है।

1 4 3 लेकिन रचनाकार द्वारा मानसिक स्तर पर आकलित फतासी और शब्दबद्ध फंतासी मे भारी अन्तर आ जाता है। शब्दो मे बँध कर 'स्वप्न' यथार्थ में बदल जाता है। "कला के तीसरे क्षण मे फैंटेसी का मूल मर्म, अनेक सम्बन्धित जीवनानुभवो से उत्पन्न भावो और स्वरो से युक्त होकर, इतना अधिक बदल जाता है कि लेखक उस पूरी फंटेसी को एक नयी रोशनी में देखने लगता है।"[2] मुक्तिबोध इन नयी रोशनी को 'पर्सपेक्टिव' कहते है। इसके परिणामस्वरूप फैंटेसी मे बहुत से नये तत्व समन्वित हो जाते हैं। स्वय भाषा उन तत्वो मे मुख्य है। फंटेसी यदि उपयुक्त भाषिक विधान का कारण होती है तो भाषा भी फैंटेसी को सशोधित-परिवर्तित करती है। भाषा में बँध कर फैटेसी को नाम-रूप मिलता है; और ज्योंही हम किसी चीज को नाम दे देते है त्यो ही वह अपनी अमूर्तता से कट कर मूर्त, नवल तथा भिन्न हो जाती है। अत. जो कृति हमारे सामने आती है वह फैंटेसी-प्रसूत तो होती है, फैंटेसी की प्रतिकृति नहीं।

1.4 4 फतासी का उपयोग लेखक को ऐसी सुविधाएँ भी देता है जो अन्य प्रकार का अप्रस्तुत-विधान नही दे सकता। उदाहरण के लिए मुक्तिबोध के उपर्युक्त कविताश मे यदि फतासी का स्वप्नचित्रात्मक विधान न किया जाता तो यह कविता एक प्रकार का विचारधारात्मक प्रचार बन कर रह जाती, फतासी विहीन सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतीक-योजना भी उसे इस सीमा से मुक्त न कर पाती। फतासी ने इसे विलक्षण कलात्मक समृद्धि प्रदान की है। जो लेखक प्रतिबद्ध होते है और वस्तु-पक्ष मे प्रातिनिधिक

1. मुक्तिबोध, तीसरा क्षण (एक साहित्यिक की डायरी) मुक्तिबोध रचनावली—4, पृ० 101
2. वही, पृ० 103

विचारों अथवा पात्रों की सृष्टि करते हैं, फंतासी उनकी पुनरावृत्तियों को ढक देती है और उनकी कृतियां नयी बनी रहती है। फंतासी में वस्तुपक्ष को गौण रखकर उसे भावों की भाषा में ध्वनित करने की विलक्षण क्षमता होती है। इस निगूढ़ता अथवा कलात्मक प्रच्छन्नता के अतिरिक्त, फंतासी में असंगति के द्वारा संगति-निदर्शन की सुविधा भी सर्वाधिक होती है। सामान्य जीवन में जो घटनाएँ, विचार या वस्तुएँ असंगत अथवा विरोधाभासी कही जाती है, फंतासी में वे ही संगति का उन्मेष करती है। यह संगति-सम्पादन उसके स्वप्निल स्वभाव के कारण सम्भव होता है, अन्यथा न कोई पुरुष अपनी भुजाओं पर आसमान उठा सकता है, न आग में कमल खिल सकता है—लेकिन मुक्तिबोध की इस फंतासी में यह सब स्वप्न के स्तर पर घटता है और अर्थ की सम्भावना को बढ़ाता है। मुक्तिबोध के अनुसार फंतासी के उपयोग की सुविधाओं में एक यह भी है कि इसके द्वारा 'जिये और भोगे गए जीवन की वास्तविकताओं के बौद्धिक अथवा सारभूत निष्कर्षों को अथवा जीवन-ज्ञान को, (वास्तविक जीवन-चित्र उपस्थित न करते हुए) कल्पना के रंगों से प्रस्तुत किया जा सकता है।'' लेखक वास्तविकता के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। वह, संक्षेप में, ज्ञान-गर्भ फैंटेसी द्वारा, सार रूप में जीवन की पुनर्रचना करता है।"[1]

2 लिखित का पुनर्लेखन : परिवर्तन-परिमार्जन

कहा जाता है कि रचना कभी खत्म नहीं होती। वास्तव में उसका एक अर्थ तो यह है कि कृति के आकार में बंध जाने और प्रतीयमानतः ''समाप्त' हो जाने के बाद भी सिसृक्षण की प्रक्रिया पाठकत्व में जीवित या जारी रहती है। दूसरा अर्थ यह है कि एक रचना के बाद भी रचनाकार दूसरी की ओर उन्मुख होता है, बल्कि कई बार तो वह एकाधिक रचनाओं पर एक साथ काम करता है और इस प्रकार उसका अनुभव-संक्रमण कई स्तरों पर बना रहता है, तीसरा अर्थ यह है कि सिसृक्षण की परिसमाप्ति या सिसृक्षित के आविर्भाव के उपरान्त भी उसे स्थायी परितोष नहीं मिलता, अपने लिखित को संशोधित या परिवर्तित करने की इच्छा से वह मुक्त कभी नहीं होता—बावजूद इसके कि लेखन के दौरान भी वह काट-छाँट कर चुका होता है। यहाँ यह तीसरा अर्थ ही अधिक विचारणीय है—अर्थात् रचनाकार क्यों अपने लेखन का पुनर्लेखन (जिसमें संशोधन, परिमार्जन, परिवर्तन, भूल-सुधार आदि सब कुछ शामिल है) करता है और कब तक करता है ?

2 1. तीन प्रकार के साक्ष्य

इस सम्बन्ध में तीन प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। पहला साक्ष्य उन लेखकों

---

1. मुक्तिबोध- कामायनी एक पुनर्विचार (पूर्वोद्धृत) पृ० 220।

का है जो अपुनर्लेखन में विश्वास रखते हैं—न केवल यह बताते हैं कि उन्होंने पुनर्लेखन कभी नही किया, बल्कि पुनर्लेखन को सहज लेखन का बाधक तत्व भी मानते हैं। उदाहरण के लिए नये रचनाकारों में हृदयेश ने 'हत्या' उपन्यास के लेखकीय वक्तव्य में इसकी शीघ्र समाप्ति के कारणों में एक यह भी बताया है कि—"अभी मैं उस अतिरिक्त सजगता से मुक्त भी था जो लेखन में एक विलम्बित लय उत्पन्न करती है। बार-बार की परख और काट-छाँट कला और शैली के नाम पर जिस कृत्रिमता से रचना को भर देती है, उपन्यास लेखन की उस ऊँचाई (?) से अभी मैं दूर था।"[1] यह धारणा, सैद्धान्तिक धरातल पर काफी हद तक वर्ड्स्वर्थवादी या प्रकृतवादी है, लेकिन व्यावहारिक धरातल पर अमनोवैज्ञानिक है। इसके विपरीत, दूसरा साक्ष्य उन लेखकों का है जो पुनर्लेखन को डंके की चोट पर स्वीकारते है और उसे अपने लेखन का साधक तत्व समझते हैं। उदाहरण के लिए 'दीक्षा' के विषय में नरेन्द्र कोहली का कथन है—"ढाई सौ पृष्ठों के उपन्यास के लिए मैंने कम से कम एक हजार पृष्ठ लिखे हैं, दो बार टंकित करवाया है···। कारण आत्मविश्वास का अभाव नही है···, इस उपन्यास के प्रति न्याय करने की भावना ही थी, लिखे को सुधारना और आगे लिखने का बल प्राप्त करना था। मैंने अपने आपको इतना प्रतिभाशाली कभी नही माना कि सोते-जागते जो कुछ लिख दूँ···वही अन्तिम प्रारूप हो जाए।"[2] तीसरा साक्ष्य उन लेखकों का है जो न चाहते हुए भी, किन्ही भीतरी-बाहरी दबावों के कारण, पुनर्लेखन करते है और हालांकि यह उन्हे अप्रिय, कष्टप्रद तथा वेजारका कर्म लगता है फिर भी इससे वे बच नही पाते। उदाहरण के लिए थॉमस वॉल्फ ने 'दि ऑक्टूबर फेयर' में की गई काट-छाँट के विषय में लिखा है—"पाण्डुलिपि में आमूल काट की आवश्यकता थी, लेकिन जिस प्रकार यह उपन्यास लिखा गया था और फिर जिस थकान ने मुझे आ घेरा था, उस सबने मेरी हिम्मत छीन ली थी···। काट-छाँट करना मेरे लेखन का सर्वाधिक कठिन तथा स्वादहीन अंश रहा है।···किसी ज्वालामुखी के जलते हुए लावे की तरह जब कोई रचना किसी व्यक्ति के भीतर से पाँच वर्षों तक निकलती रही हो, जब वह अपनी रचनात्मक ऊर्जा को सफेद गर्मी से उसकी सामग्री को—भले ही उसमें बहुत कुछ फालतू हो—भावावेशों की आग दे चुका हो, तब अचानक ठण्डी चीर-फाड़ और निर्मम असम्पृक्ति का रुख अपनाना बहुत मुश्किल हो जाता है।···इस खूनी काम के विचार से ही मेरी आत्मा काँप उठी। जिन प्रसंगों पर मेरा मन जम चुका था उन्हें कत्ल करने से पहले मेरी आत्मा ने प्रतिक्षेप किया, मगर कत्ल तो करना ही था। और मैंने किया।"[3] वस्तुत यह तीसरा साक्ष्य भी

1 हृदयेश, 'हत्या' पर लेखकीय वक्तव्य, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सम्पा० भीष्म साहनी और अन्य (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1980), पृ० 403।

2. नरेन्द्र कोहली, 'दीक्षा' की सृजन यात्रा (वही), पृ० 530।

3 थॉमस वॉल्फ, दि स्टोरी ऑफ ए नॉवेल, दि क्रिएटिव प्रॉसेस, सम्पा० घिसेलिन (पूर्वोद्धृत), पृ०197।

दूसरे ही का एक प्रकार है। मूल साध्य दो ही तरह के हैं और उनमे भी दूसरा ही वास्तविक, विज्ञान-सम्मत, अनिवार्य, बहुपुष्ट तथा महत्वपूर्ण है।

2 2 अपुनर्लेखन की स्थितियाँ

2 2.1. पुनर्लेखन या सशोधन के बिना पूरी रचना को फर्राटे से लिखकर प्रकाशन के लिए भेजने वालों की सख्या बहुत कम है। जिन रचनाकारो ने इस प्रकार के वक्तव्य दिये है उनके कथन या तो अतिशयोक्तिपूर्ण हैं या फिर वे बताना चाहते है कि कोई अदृश्य शक्ति, पता नही किस तरह, उनसे लिखवा जाती है; अतः उसमे सशोधन का हस्तक्षेप कैसा ? ऐसे रचनाकारो के उदाहरण पिछले अध्याय मे दिये जा चुके हैं। इस आस्थावान् स्थिति के अतिरिक्त कुछ रचनाकार जब यह मानकर चलने लगते हैं कि सशोधन और पुनर्लेखन तो द्रौपदी का चीर है—ऐसे अपूर्ण को पूरा करना है जिसकी पूर्णता कभी सम्भव नही—तब वे अपूर्णता ही को हकीकत मानकर उससे छेड़-छाड़ करना पसन्द नही करते। पूछने पर वे यही उत्तर देते हैं कि—पुनर्लेखन करना तो दूर, उन्होने अपनी रचना को लौटकर कभी पढ़ा तक नहीं (देखें इस शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट मे रमेश बक्षी का वक्तव्य)।

2.2 2. सशोधन या पुनर्लेखन न करने की एक स्थिति वह भी होती है जहाँ लेखक व्यावसायिक दृष्टि से काम लेता है और सम्भावनाओ की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक निर्भर करता है। वह निश्चित कार्य को निश्चित समय पर समाप्त करने की उस पाबन्दी से ज्यादा सतोष ग्रहण करता है जो उसे पुनर्लेखन का अवसर नही देती। पत्र-पत्रिकाओ के लिए नियमित रूप से लिखने वालो मे या पत्रकारिता की तरह का लेखन करने वालो मे यह प्रवृत्ति सर्वाधिक पायी जाती है।

2 2 3 पुनर्लेखन को कृत्रिम प्रकार का बाधक कार्य मानने वाले भी अपुनर्लेखन पर अधिक निर्भर करते है। इस कोटि के रचनाकार नंगे को फट से नंगा कह डालते हैं और नैतिक वर्जनाओं की नितान्त अवहेलना करते है। उन्ही की जमात के कुछ अपेक्षाकृत सम्य लोग यह तर्क भी देते है कि 'कलम चल पडने' के धारा-प्रवाह मे जो रच दिया जाता है उसका पुनरान्वीक्षण व्यर्थ है, क्योकि गतिशीलता को अगतिशीलता से नही पकडा जा सकता। यह विश्वास बहुत-से उच्चस्तरीय लेखकों मे भी घर किये रहता है—खास तौर से उनमे जो सृजन के विरल क्षणो की उपलब्धि को बौद्धिक मूल्याकन के शिकजे से दूर तथा अछूता रखना चाहते हैं।

2.2 4. अतिलेखन मे भी पुनर्लेखन की प्रक्रिया प्राय गायब रहती है। वहाँ रचना का जो 'ड्राफ्ट' एक बार बना लिया जाता है उसी पर बेधड़क होकर चला जाता है। ऐसा रचनाकार यदि एक कृति के 'ड्राफ्ट' पर चलते-चलते ऊब जाता है तो दूसरी कृति (प्राय. किसी इतर विधा की) के 'ड्राफ्ट' पर काम करने लगता है। उदाहरण के लिए रांगेय राघव पन्द्रह-बीस पृष्ठ तकरीबन रोज़ लिखते थे और इसी क्रम में, एक ही

दिन मे, उपन्यास से कविता तथा कविता से कहानी या रेखा-चित्र या चित्रकला या अनुवाद-कार्य या आलोचना आदि की ओर मुड़ जाते थे। ऐसे लेखकों के विषय मे अक्सर इस प्रकार की प्रशस्तियाँ चल निकलती हैं कि अमुक रचना उन्होंने अमुक संक्षिप्तावधि मे लिख डाली थी—"मैं स्तब्ध रह गयी। तो क्या आँख झपकते ही प्लाट तैयार! और उससे भी आश्चर्यजनक मेरे लिए यह था कि तीन दिन मे उन्होंने (रागेय राघव ने) उन लोहा-पीटों को, जो कभी एक स्थान पर बस कर नही रहते, 'धरती मेरा घर' उपन्यास लिख सबके मन मे बसा दिया।"[1]

2 2 5. जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम को शक्ल मिल जाने पर जमीन से कुछ इन्च ऊपर उठ जाता है, उसी प्रकार लेखक-कलाकार भी रचना की समाप्ति पर आह्लादक मुक्ति का अनुभव करता है; मगर कुछ रचनाकार इतने अधिक आह्लादित हो जाते है कि उन्हे अपनी ही कृति के अपना होने पर विश्वास नही होता। यह आश्चर्य-चकितता कमोबेश रूप मे हर रचनाकार को होती है, किन्तु इस प्रकार की आत्ममुग्धता का अतिरेक भी लिखित को संशोधित नही होने देता।

2 2.6. व्यक्तिगत जीवन मे जो रचनाकार जितने निर्ग्रंथि होकर सतुलित दायित्वों या लोकाचार मे बंधे होते हैं, प्राय. देखने मे आता है कि वे अपना लेखन-कार्य भी उतनी ही शीघ्रता से, बिना मीन-मेख निकाले, सम्पन्न कर लेते हैं। उन्हे खाली समय मिला नही कि लिखने बैठ जाते हैं। ऐसे कई रचनाकारो ने रचनाएँ भी बहुत अच्छी दी हैं—बिना किसी खास संशोधन का परिचय दिए। शायद रसखान की "ज्यो नागरी को चित गागर में" की तरह उनके विकल्पात्मक चिन्तन की प्रक्रिया, जीवन के क्रिया-कलापो मे हिस्सा लेते हुए भी, मन मे जारी रहती है। इसीलिए राजेन्द्र यादव ने पत्नी मन्नू भण्डारी के विषय मे लिखा है—"और मन्नू की जिन बातों की मैं बहुत-बहुत इज्जत करता हूँ उनमे उसके लिखने का तरीका, उसकी सहजता और निर्व्याज आत्मीयता का प्रवाह है।···किसी दिन कालेज से लौटकर जब वह कहती है, "आज लडकियो के इम्तहान थे, या पीरियड खाली था, सो लाइब्रेरी में जाकर मैंने एक कहानी पूरी लिख डाली"—तो मुझे अब आश्चर्य नही होता।"[2]

2 2 7. दूसरी ओर, विशिष्ट प्रयोजन का न होना, भाषिक निश्चिन्तता, पूर्वानुभव-निर्भरता आदि की स्थितियाँ भी ऐसी हैं जो पुनर्लेखन की आवश्यकता को बहुत घटा देती हैं।

2 3 पुनर्लेखन की स्थितियाँ

पुनर्विचार और पुनर्लेखन न करने वालो की अपेक्षा उन रचनाकारो की सख्या

---

1. सुलोचना रागेय राघव, पुन. (दिल्ली, शब्दकार, 1979-80), पृ० 56।
2. राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी, मेरा हमदम मेरा दोस्त, सम्पा० कमलेश्वर (नयी दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1975), पृ० 63।

वही अधिक है जो किसी-न-किसी स्तर पर इस कार्य में अनिवार्यतः प्रवृत्त होते हैं।

2.3.1. एक बहुत बड़ा वर्ग उन रचनाकारों का है जिन्हें रचना-प्रक्रिया के दौरान किये गए संशोधनों-परिवर्तनों के बावजूद यह लगता है कि जो रचना छप कर बंट चुकी है उसमें ऐसा बहुत कुछ अनकहा रह गया है जो कि उनकी अनुभूतियों और विचारों में शामिल था। अज्ञेय ने तो इस 'जो कहा नहीं गया' पर दार्शनिक अंदाज़ की एक कविता भी कह डाली है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी बहुत सोच-समझ और विचार-पुनर्विचार के बाद इतिहास, मिथक-पुराण तथा प्राचीन साहित्य आदि के ढाँचे में उपन्यास-लेखन करते थे, मगर उन्होंने भी लिखा है—"'पुनर्नवा' जैसी है उसी पर विचार करना चाहिए, फिर भी मेरा मन बार-बार 'जो नहीं हुआ' उसकी ओर खिंच रहा है; क्षमा करें।"[1] उर्वशीकार दिनकर को भी 'अकथनीय विषय' का आह्लाद सालता रहा है।[2] 'यह पथ बंधु था' की रचना के बारे में नरेश मेहता का कथन है—"मेरे लिए कोई भी रचना आसान नहीं रही है। मुझमें रचना लिखी नहीं जाती बल्कि बीतती है।"[3] इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया बहुत प्रदीर्घ हो जाती है। भगवती बाबू के 'भूले-बिसरे चित्र' और जगदीशचन्द्र के 'धरती धन न अपना' की शुरुआत और समाप्ति के बीच क्रमशः उन्नीस तथा चौदह वर्षों का अन्तर है। विश्व-साहित्य में इस अतृप्ति और पुनर्लेखन के फ्लाबर, थॉमस वोल्फ, हेमिंगवे, ब्रेख्त, दास्तोयव्स्की आदि के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। विषय की अकथनीयता, मानवीय क्षमता की सीमा, सर्वसम्पूर्णता की तलाश, अप्रस्तुत के लिए प्रस्तुत का न मिल पाना, प्रकाशकों-सम्पादकों के तकाज़े, पारिवारिक तथा व्यावसायिक व्यस्तताएँ आदि अनेक कारण हैं जो पुनर्लेखन की प्रवृत्ति को दर्शन से लेकर अपराध-चेतना तक के कई आयाम देते हैं।

2.3.2 संशोधन और पुनर्लेखन की एक अत्यन्त उग्र स्थिति वह भी होती है जिसमें रचनाकार अपनी रचना को असंशोधनीय, अपुनर्लेखनीय अथवा अप्रकाशनीय समझकर उससे एक प्रकार का सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यह सम्बन्ध-विच्छेद जायज भी हो सकता है और नाजायज भी। जब रचनाकार किसी सर्वव्यापी गलती के कारण रचना को रोक लेता है—जैसे परीक्षण के बाद किसी गलत औषधि के वितरण को रोक देना—तब उसका यह कर्म उचित होता है। उदाहरण के लिए मूर्तिकार थार्वाल्ड्सन ने बायरन को सामने बैठाकर उनकी एक आवक्ष-मूर्ति बनायी थी। उसे देखकर बायरन बहुत अप्रसन्न हुए—

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पुनर्नवा : संस्मरण, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सम्पा० भीष्म साहनी और अन्य (नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1980), पृ० 361।
2. रामधारी सिंह दिनकर, उर्वशी (पूर्वोद्धृत) भूमिका।
3. नरेश मेहता, एक रचना की प्रतिरचना : यह पथ बंधु था, आधुनिक हिन्दी उपन्यास (वही), पृ० 151।

> "यह किसी सकुशल आदमी की मूर्ति है, मेरी नही ।" उन्होंने कहा ।
> "किसी व्यक्ति को प्रसन्न दिखाने मे क्या गलती है ?" मूर्तिकार ने पूछा ।
> "प्रसन्नता और सकुशलता में उतनी ही दूरी है जितनी कि सगमरमर और मृत्तिका में । केवल मूर्खों और मिथ्यात्मों को हमारे युग मे सकुशलता नज़र आ सकती है । क्या सचमुच मेरे चेहरे पर ऐसा कुछ नही है जो कड़वाहट, साहस और उत्ताप की कहानी कहता हो ?" बायरन ने प्रश्न किया ।

थार्वाल्ड्सन को अपनी गलती का एहसास हुआ । लगा कि सारी सदृष्टि ही धोखा दे गयी । कुछ दिन बाद एक धनाढ्य उनकी मूर्तिशाला मे आया । वह एक भारी रकम देकर उस आवक्ष-मूर्ति (बस्ट) को खरीदना चाहता था । थार्वाल्ड्सन ने कहा—

> "अगर आपने मूर्ति को नष्ट करने के लिए यह रकम पेश की होती तो मैं इसे सहर्ष स्वीकार कर लेता । लेकिन महोदय ! मैं अपनी गलतियाँ नही बेचता ।"[1]

लेकिन अनुचित तब होता है जब कोई रचनाकार सर्वोत्तमता की असम्भव कामना की मनोग्रस्ति के कारण अपनी रचना को प्रकाश में नही आने देता । उदाहरण के लिए काफ्का ने अपनी विश्व प्रसिद्ध रचनाओं को अपने जीवन-काल में इसीलिए हवा नही लगने दी थी । मोहन राकेश ने न केवल अपनी कुछ रचनाओं को पुन. प्रकाशित होने से रोक लिया था बल्कि उनके मरणोपरान्त प्रकाशित 'अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज नाटक' नामक लघुनाटक-सग्रह की प्रकाशकीय भूमिका मे दिया गया यह वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है कि—"काश, मोहन राकेश के इन चार एकांकियो, दो बीज-नाटको एव एक पार्श्व-नाटक का यह संग्रह उसके जीते-जी प्रकाशित हो पाता । वह टालता रहा था, किस वजह से—अब कौन कह सकेगा ?"[2] वजह साफ है । हालांकि इस सग्रह के कुछ लघु नाटको ने नाट्य-विधा और रगमच की दृष्टि से नई ज़मीन तोडी है, फिर भी उस मोहन राकेश के लिए इनके प्रकाशन को टालना सर्वथा स्वभावानुकूल था जो पुस्तक के आवरण की कला को लेकर भी प्रकाशक से उलझ पड़ता था, निर्देशकों को खास छूट नही दे सकता था, शब्द-शब्द की तलाश में जान खपाता था—मतलब यह कि स्वय को ही पहले नम्बर पर रखता था । इसी प्रकार यह कहना कठिन है कि अज्ञेय ने 'शेखर—एक जीवनी' के तीसरे भाग को जो देर से रोक रखा है वह असतोष से उत्पन्न आत्म-निर्ममता है अथवा पाठकों से किया गया अन्याय ।

2.3 3. रचनाकार उस स्थिति में भी पुनर्लेखन करने के लिए आतुर हो उठता

---

1 कास्तेंतिन पाओस्तोव्स्की, ए बुक एबाउट आर्टिस्ट्स (पूर्वोद्धृत), पृ० 42-43 ।
2 मोहन राकेश, अण्डे के छिलके अन्य एकांकी तथा बीज-नाटक (नयी दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1977), पृ० 3 ।

है जहाँ रचना उसके अपने निमित्त बनकर रहना चाहती है लेकिन उसकी जी-तोड़ कोशिश होती है कि वह रचना और पाठक के बीच से हट जाये। यह पाठकीय अवहेलना की आशंका-स्थिति होती है। कई लेखक इस स्थिति का अतिक्रमण रचना की प्रक्रिया के दौरान या रचना की समाप्ति पर इसे दोहरा कर, आत्मालोचन के द्वारा कर लेते हैं जबकि कई लेखक पाठकों की प्रतिक्रियाएँ और सुधी समीक्षकों की सम्मतियाँ जान लेने के बाद, रचना के दूसरे-तीसरे संस्करण में उपयुक्त संशोधन द्वारा करते हैं, और अगर मंडी में मंदे के कारण नये संस्करण की नौबत नहीं आती तो अगली रचना में सावधान रहते हैं। पहली कोटि में मुक्तिबोध जैसे रचनाकार आते हैं जिनकी प्रतिबद्धता को पाठक से पार्थक्य बहुत अखरता है और जो 'खोई हुई अभिव्यक्ति' की निरन्तर तलाश में रहते हैं। यह तलाश मुक्तिबोध को इतना भटकाती थी कि वह अपनी कविताओं को बेरहमी से काट-काटकर उनका ढेर लगा दिया करते थे और फिर संतुलित क्षणों में उन्हें उठा-उठाकर ठीक करते थे। उनकी कविता की कोई भी हस्तलिखित प्रति ('रचनावली' के प्रारम्भ में ऐसी कुछ कविताओं की फोटो-प्रतियाँ जोड़ी भी गई हैं) ऐसी नहीं मिलती है जिस पर मूल की अपेक्षा संशोधनों की उपस्थिति हमारा ध्यान अधिक आकर्षित न करती हो। इन संशोधनों से उनके अचेतनाचेतन में तथा उनके रचनात्मक द्वन्द्व में झाँकने का प्रामाणिक अवसर प्राप्त होता है। अपने एक उदाहरणीय लेख में उन्होंने इस द्वन्द्व और द्वन्द्वजात पुनर्लेखन की प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया है—

"...बस, एक गुरु की, एक मार्गदर्शी मित्र की, प्यार भरे सलाहकार की बड़ी जरूरत है, बहुत बड़ी। उनसे बहस की जा सके, ऐसा अवसर हो।...यह जरूरी नहीं है कि वह आधुनिकतावादी हों। आधुनिकतावादियों को मैंने देख लिया है। उनमें दम नहीं है, वे पोचे हैं। वे समस्या को बड़ा करके बताते हैं, आदमी को छोटा करके नचाते हैं। वह भी एक स्वाग है। "मैं क्या हो सकता था, लेकिन नहीं हुआ। मेरे विकास के सम्भावित विकल्प खड़े हो गये। और मैंने पाया है कि वह महान् आत्मशक्ति मुझमें नहीं, जो मुझमें पूर्ण रूपान्तर कर दे, मैं क्या-क्या हो जाऊँ! मैं अपने खुद के कंधों पर चढ़ जाना चाहता हूँ, आकाश छूना चाहता हूँ...।

"और ऐसे ही किन्हीं भयानक क्षणों में मैंने कविता लिख दी। कविता लिखते समय कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ। विश्वास नहीं हो सका कि मैं अपने मन का सब-कुछ उसमें डाल रहा हूँ या नहीं, किन्तु लिखने के बाद यह जरूर लगा कि पूरे रंग नहीं उभर पाये हैं।" मैंने कलम छोड़ दी। काम खत्म कर, टेबिल छोड़, नीचे दरी पर आ बैठा, पैर फैला दिये और मन को सुना और ढीला कर दिया, यह सोचकर कि चलिये कविता से छुट्टी मिली और छुटकारा मिला, त्योंही मन ने कहा कि उसे एक बार और पढ़ लिया जाये।...थोड़ा संशोधन। थोड़ा उलट-फेर। किन्तु, इतना हुआ ही था कि कविता के भीतर समायी कविता विशालतर से उद्घाटित होने लगी। उद्घाटित होते हुए और भी विस्तृत होने की सम्भावना (मुक्तिबोध ने एक स्थान पर लिखा है कि लम्बी कविताओं

को पत्र-सम्पादक नही छापते) सामने उपस्थित होते ही मैने फिर कलम छोड दी। उस कविता के प्रति एक भयानक क्रोध, एक विनाशक (उत्तेजना) ने सिर उठाया। लेकिन मैंने पिन लगाकर उसे एक ओर डाल दिया।…दिमाग चलने लगा …भयानक आलोचना चल पडी। तत्काल अनुभव हुआ कि वीरान अमानवीय दूरियाँ मुझे घेरे हुए है।…मैं इस पार्थक्य का विधाता नही। यह मेरे ज़माने की बदनसीबी है।…मुझे कहने दीजिये कि आजकल आदमी मे दिलचस्पी कम होती जा रही है।…किनारे पर रहकर, तटस्थ रहकर (डिसएनगेज्ड रहकर, अनकमिटेड रहकर)…हम वह जिन्दगी नही जी सकते जिसे मै अपने शब्दो मे बिजली-भरी तडपदार जिन्दगी कहता हूँ। कविता को लिखने के बाद मैंने यह महान् निर्णय किया कि मेरे लिये कविता लिखना महान् मूर्खता है।…अपने बडे-से-बडे उत्तरदायित्व को मैने उठाकर फेंक दिया है। बाल-बच्चों की तरफ नहीं देखा। स्त्री से भी कह दिया कि मुझसे ज्यादा बात न किया करे, नहीं तो उसे अकारण अपमानित होना पडेगा।…क्या पुराने कीमियागर इसी तरह के लोग (धुन के पीछे बर्बाद होने वाले) नही थे? काव्य-सम्बन्धी मेरे प्रयत्न कीमियागरी से भी बदतर है। क्यो? इसलिए कि कविता लिखने के बाद जो भयानक मन स्थिति मुझे ग्रस्त कर लेती है, उसका तजुर्बा बहुत कम लोगों को है और अगर सचमुच है तो वे बताते नही। मुश्किल यह है कि कविता लिख चुकने के अनन्तर, उसी कविता मे समायी, किन्तु उससे बृहत्तर, विशालतर, सुन्दरतर कविता, अपने स्वरूप का विकास करती हुई उद्घाटित कर देती है, और मै उस प्रतिमा-रूप के प्रति दौड पड़ता हूँ। चाहिए, हाँ, मुझे वही प्रतिमा चाहिए। मुझे छोड दीजिए, मुझे जाने दीजिये उस नव्यतर के पास।"[1]

234. उपर्युक्त विवरण पुनर्लेखन अथवा सशोधन-परिवर्तन की मानसिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। ब्रेव्स्टर घिसेलिन ने सिसृक्षण-विषयक आत्मसाक्ष्य-प्रधान लेखन के लिए हेनरी जेम्स को—'दि एम्बेसडर्स' आदि रचनाओ के न्यूयार्क-सस्करण की भूमिकाओ को—सर्वोच्च ठहराया है। हिन्दी में वही स्थान मुक्तिबोध के रचना-प्रक्रियात्मक चिन्तन का है, शायद उससे भी ऊँचा। मुक्तिबोध के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि लिखित का पुनर्लेखन वस्तुत रचनात्मक अन्तर्वस्तु को सत्यापित करने का प्रयास है जिसमें रचनाकार का पूरा व्यक्तित्व शामिल होता है। वह महज़ भाषिक शुद्धीकरण नही है, 'नव्यतर के पास' जाने की सहज ललक है, अपने-आप को शीशे मे देखना है, आत्मविकास का सिलसिला है, लेखक का पाठक के साथ जुडने का उपक्रम है, मान्यताओ का प्रमाणीकरण है, अत जो लोग इसे प्रूफ-वाचन जैसी हल्की क्रिया समझते है वे भारी भूल करते है।

235 दूसरी कोटि मे वे रचनाकार आते है जो किन्ही बाह्य दबावो को भीतर के दबाव बनाकर लिखित का पुनर्लेखन करते हैं। इसमें उनकी सख्या ज्यादा है जो पत्र-

1 मुक्तिबोध, अकेलापन और पार्थक्य, मुक्तिबोध रचनावली-4, पृ० 111-16।

पत्रिकाओं में अपनी रचना के धारावाहिक प्रकाशन के उपरान्त, पाठकों तथा समीक्षकों के पत्रों-वक्तव्यों के आलोक में, सुधार करते हैं। कई बार अपनी दूसरी रचना लिखते समय या पहली का अनुवाद, रूपान्तर आदि करते समय भी उन्हें उसकी कमजोरियों का पता चलता है और वे उसका पुनर्लेखन करते हैं या चाहकर भी नहीं कर पाते क्योंकि वक्त हाथ से निकल चुका होता है। उदाहरण के लिए रमेश उपाध्याय ने 'दण्ड-द्वीप' के विषय में लिखा है कि "प्रकाशित होने से पहले शायद यह लगता था कि मेरा यह उपन्यास एक मुकम्मल रचना है, लेकिन जब यह 'धर्मयुग' में धारावाहिक रूप से छप चुका तो पाठकों के पत्रों से मुझे मालूम हुआ कि यह तो अधूरा उपन्यास है···", ··· 'यदि पाठकों ने इस तरह न झकझोरा होता तो शायद यह बात ही मेरी समझ में न आती कि इस तरह निर्मम पात्र की दृष्टि से (लेखकीय दृष्टि से नहीं) चीजों को देखने दिखाने का तरीका यथार्थवादी उपन्यास लिखने के लिए मुनासिब नहीं है।"[1] 'एकोगी नहीं राधिका' जो प्रकाशकीय/सम्पादकीय आग्रह के वशीभूत जल्दी में छपा था, के विषय में उषा प्रियंवदा को अफसोस ही रह गया कि उसे सम्यक् रूप से सुधार नहीं सकी—"लिखते समय मुझे इन सब बातों (असंगतियों) का भास न था, यह सब मैंने 'राधिका' का अंग्रेजी अनुवाद करते समय लम्बे अर्से के इंट्रोगेशन के दौरान अनुभव किया और तभी मुझे लगा कि अरे मैं कितनी निरावरण होकर पन्नों पर बिखर गयी हूँ। अनायास स्पौंटेनियस कही हुई बात में कथाकार पकड़ा जाता है, जबकि सँवार कर बात करने में उसे अपने को छिपाने का, तटस्थ हो जाने का समय मिल जाता है।"[2] यह तटस्थता की बात तो पता नहीं कहाँ तक ठीक है (क्योंकि लेखक 'तटस्थता' को तोड़ने के लिए भी लिखता है) लेकिन संशोधित करने के दौरान उसमें वैचारिक सन्तुलन अवश्य आता है।

2 3 6 जिस ढंग से हिन्दी में आजकल नाटक लिखे जा रहे हैं (पश्चिम में यह पद्धति बहुत पुरानी है) उससे यह पता चलता है कि नाटक-लेखन में संशोधन की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होती है। लिखते समय नाटककार की रंगचेतना सक्रिय होती है लेकिन एक तो सभी नाटककार रंगमंच से जुड़े नहीं होते और दूसरे यदि हों भी तो अपने नाटक के रंग-सत्य का वास्तविक पता उन्हें नाटक के मंच पर जाने के बाद ही अधिक चलता है। यही कारण है कि आजकल जो नाटक नाट्यालेख के रूप में पहले खेले जाते हैं और बाद में पुस्तकाकार छपते हैं, उनके इन दोनों रूपों के बीच संशोधन का सूत्र कहीं-न-कहीं अवश्य उपस्थित रहता है। प्रसाद जैसे नाटककार ने भी, जो नाटक को रंगमंच के लिए नहीं मानते थे, अपने ज़माने में अभिनेताओं या निर्देशक के आग्रह पर 'चन्द्रगुप्त' को पुनः लिखा था जो कुछ वर्ष पहले ही उनके पुत्र ने 'अभिनय चन्द्रगुप्त' के नाम से प्रकाशित किया है। 'कोणार्क' भी दूसरे संस्करणों में मंचीय विधान के धरातल पर संशोधित

1. रमेश उपाध्याय, 'दण्ड-द्वीप' और मैं, आधुनिक हिन्दी उपन्यास (वही), पृ० 253, 259।
2. उषा प्रियंवदा, 'एकोगी नहीं राधिका', संस्मरण (वही), पृ० 272।

होकर छपा है। अश्क ने इधर पुराने 'कैद' को नये 'लौटता हुआ दिन' का रूप दिया है। समकालीन हिन्दी नाटक के प्रकाशन मे तो यह संशोधन लगभग एक प्रणाली ही बन चुका है। यही कारण है कि वे लेखक जिन्होंने कभी अपनी रचना-प्रक्रिया मे पाठक की उपस्थिति को स्वीकार नही किया, अपने नाटको को इस तथ्य का अपवाद मानने लगे हैं।[1]

2 3 7 पुनर्लेखन अथवा संशोधन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति का निर्णय यदि करना हो तो उपलब्ध साक्ष्य यही कहता है कि वह स्थिति उस समय की है जब कोई लेखक 'रूप' की तलाश मे भटकता है या रचना सम्बन्धी अपने पूरे दृष्टिकोण को साफ करना चाहता है और इस प्रक्रिया में रचना के कई प्रारूप तैयार करने के बाद उनकी काट-छाँट से विकसित किसी एक प्रारूप का अन्तिम मंथन करता है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दो मे—" 'रागदरबारी' की शुरूआत 1960 के आसपास हुई। पर उस वक्त मुझे इसकी संरचना या स्वरूप का पता नही था, यह तक तय नही कि मेरे दिमाग मे इसकी विधा भी स्पष्ट थी या नही और शीर्षक तो मुझे 1967 के अन्त तक नही मिल पाया, अपनी हर किताब के शीर्षक की तरह 'रागदरबारी' का आविष्कार भी इसके प्रेस मे जाने के कुछ दिन पहले ही हो सका।"[2] अमृतराय ने 'बीज' उपन्यास को "कितनी ही बार काटा है—टुकडे यहाँ-वहाँ। पूरी पाण्डुलिपि दो बार लिखी गयी—जो बात मेरी सभी रचनाओ के लिए सच है। उपन्यास के दूसरे संस्करण मे आते-आते और भी कुछ हिस्से काट दिये गये हैं, जिससे मेरी समझ में उपन्यास मे और भी कसाव आ गया है।"[3] इसी प्रकार भीष्म साहनी ने 'तमस' पर तीन बार काम किया, और उनका कहना है कि छपने के बाद उसे पढा भी नही;[4] शायद इसलिए कि परिमार्जन की इच्छा तो अन्तहीन होती है। उपेन्द्रनाथ अश्क का कहना है कि 'गिरती दीवारें' के उन्होंने 'तीन-तीन वर्शन' तैयार किये थे।[5] कृष्ण बलदेव वैद भी बताते हैं कि 'उसका बचपन' के चार-चार 'ड्राफ्ट' बनाने के बाद ही उन्हे दृष्टिकोण की स्पष्टता और उपयुक्त 'फॉर्म' की प्राप्ति हुई थी।[6] जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' की जो पाण्डुलिपि प्रकाशित हुई थी वह भी संशोधन, परिवर्तन और परिमार्जन की रचना-प्रक्रियात्मक ज़रूरत को रेखांकित करती है। अज्ञेय ने भी 'आत्मनेपद' (पृ० 209-10) और 'अपरोक्ष' (पृ० 177-79)

---

1 पत्र-प्रश्नोत्तरी द्वारा प्राप्त।

2 श्रीलाल शुक्ल, 'रागदरबारी' : संस्मरण, आधुनिक हिन्दी उपन्यास (वही), पृ० 241।

3 अमृतराय, 'बीज' : अन्तर्बीज, आधुनिक हिन्दी उपन्यास (वही), पृ० 81।

4 भीष्म साहनी, तमस : संस्मरण (वही), पृ० 430-31।

5 उपेन्द्रनाथ अश्क, एक संस्मरणात्मक टिप्पणी (वही), पृ० 48।

6 कृष्ण बलदेव वैद, 'उसका बचपन' : मेरी जवानी (वही), पृ० 101।

मे लिखित के पुनर्लेखन की आवश्यकता को लगभग स्वीकारा है; यह और बात है कि उनका स्वीकार भी फलसफाना होता है।

2 3.8. उपर्युक्त स्थितियों के अलावा बहुत से अन्य कारण भी, मिश्रित या स्वतन्त्र रूप मे, किसी रचनाकार को सशोधन-कार्य के लिए प्रेरित करते है। उपयुक्त शब्दो की तलाश और शैल्पिक साज-सँवार शायद इनमे अधिक प्रमुख है। स्टीफन स्पेंडर के सामने पहले कविता का 'धुँधला-चेहरा' उभरता था, फिर एक-एक पक्ति को अनेक बार अनेक कोणो से परख कर लिखते थे और बीस-बीस प्रारूप तैयार करने के बाद कविता को अन्तिम शक्ल देते थे।[1] एलन टेट ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'ओड टू दि कान्फ्रेटिड डेड' के हर प्रकाशन मे सुधार किया है—"पाठको की सुविधा के लिए नही, कविता की स्पष्टता के लिये। इनका उद्देश्य यही था कि मूल कविता विरूपित होकर भी शायद शब्द, पद-बन्ध, पक्ति, अनुच्छेद आदि के स्तर पर अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति के निकटतम आ सके।"[2] कई बार इस परिवर्तन के पीछे लेखक की यह विवशता भी होती है कि रचना के अन्तिम चरण पर पहुँच कर वह अपने वैचारिक द्वन्द्व या विश्लेषण को सही संश्लेषण या निष्कर्ष तक पहुँचा पा रहा। यह विवशता भी सशोधन-परिवर्तन की खासी माँग करती है। मोहन राकेश द्वारा 'लहरो के राजहस' के तीसरे अक को बार-बार काटने और लिखने का कारण यही था कि नन्द और सुन्दरी के अन्तिम साक्षात्कार को सही परिप्रेक्ष्य मे रखकर या निश्चित परिणति तक ले जाकर नाटक का समापन करना बहुत बड़ी समस्या बन गया था।[3] कमलेश्वर के साथ यह दिक्कत नहीं है। उन्होंने स्वयं माना है कि—"मेरे लिए मेरी कहानियाँ समय की धुरी पर घूमती सामान्य सच्चाइयों के प्रति और पक्ष मे लिए गए निर्णयो की कहानियाँ है। कहानी यदि लेखक का निर्णय नही तो और क्या है?"[4]—और उनकी अधिकाश कहानियाँ भी प्रमाण है कि उनका लेखन निर्णय-जाल हैं; इसलिये उनमे बिना पूछे भी कहा जा सकता है कि वह राकेश की तरह किसी रचना को 'निर्णयो' के लिये लटकाते नही, बल्कि निर्णयो के प्रस्तुतीकरण मे, अर्थात् भाषिक स्तर पर, रचना की समाप्ति के उपरान्त यह अवश्य परख लेते होंगे कि कमी कहाँ रह गई है। चूंकि यह 'रिटचिग' की स्वभाव-सिद्ध और अविलम्बित कला होती है इसलिए उनके अधिक मजटिल प्रकृति वाले लेखक-मित्रो को लगता है कि—"यह कमबख्त सारे दिन इस या उस तिकड़म मे लगा रहता है और यह सब लिख किस

---

1. स्टीफन स्पेंडर, दि मेकिंग आफ ए पोइम, दि क्रिएटिव प्राँसेस, सम्पा० बी० घिसेलिन (पूर्वोद्धृत), पृ० 114-17।
2. एलन टेट, नार्सिसम एज़ नार्सिसस (वही), पृ० 145।
3. मोहन राकेश, लहरो के राजहस (पूर्वोद्धृत), भूमिका।
4. कमलेश्वर, मेरी प्रिय कहानियाँ (दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्ज़, 1980), भूमिका।

वक्त लेता है ?"[1] दरअसल दूसरे रचनाकारों को रचना-प्रक्रिया के दौरान 'निर्णय' लेने या निर्णय को अनिर्णीत छोडने मे जो रद्दोबदल की कशमकश करनी पडती है कमलेश्वर उस प्रक्रिया से व्यावहारिक "इस या उस तिड़कम" मे गुजर चुके होते हैं। दृष्टि अगर पहले से साफ हो और विचारधारा साथ हो तो लिखित का पुनर्लेखन न्यूनतम करना पडता है।

2 4. मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखे तो सभी सिसृक्षा-विचारको का स्वीकृत मत है कि सशोधन, परिवर्तन, परिमार्जन या घटाना-बढाना सिसृक्षण की आधारभूत सैद्धान्तिक अनिवार्यता है। वहाँ इसका सम्बन्ध समस्या-समाधान के लिये किये गये विकल्पात्मक प्रयासो से भी है, अवधारणा की स्पष्टता से भी है, अभिव्यक्ति की पर्याप्ति से भी है, स्फुरण की अचेतनगत पृष्ठभूमि से भी है और परिणाम के परीक्षण या सत्यापन से भी। अत. ऑसबॉर्न का यह मत बहुमान्य है कि अन्वेषण के मनोविज्ञान मे आत्मप्रश्नचिह्न, अनुकूलन, सशोधन, प्रतिस्थापन, परिवर्धन, गुणन, पुनर्प्रबन्धन और प्रत्यावर्तन की चेतावचेत स्तर पर अन्तर्ग्रथित भूमिका होती है।[2] डाउने का विचार है कि कविताओ आदि के पहले और बाद के प्रारूपो को रचनाकार की चेतन-स्तरीय विस्तारण-प्रवृत्ति के अध्ययन मे इस्तेमाल किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे एमी लॉवेल, लॉविस आदि के रचना-प्रक्रियात्मक विवरणो से उपलब्ध सामग्री के आधार पर उन्होने इस शताब्दी के तीसरे दशक मे, सुझाव दिया था कि "किसी मनोपथवादी को चाहिए कि इनमे क्रियाशील बनावट के सिद्धान्तो तथा समापन के प्रकारो का पता चलाने के लिए इनका ध्यानपूर्वक अनुशीलन करें।"[3] मगर अभी तक इस विषय पर कोई स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण काम नहीं किया जा सका है।

2 5 परिवर्तन-परिमार्जन : प्रयोग का अनिवार्य धर्म

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि सिसृक्षण की प्रक्रिया मे लिखित का पुनर्लेखन या परिवर्तन-परिमार्जन, किसी रचनाकार या रचना को विकासोन्मुखी बनाये रखने की कोई वैकल्पिक नहीं, मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यशास्त्रीय और रचना-प्रक्रियात्मक अनिवार्यता है। कोई रचनाकार आत्मविश्वास के अतिरेक वश इसकी उपस्थिति को

1. राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मेरा हमदम मेरा दोस्त, सम्पा० कमलेश्वर (दिल्ली, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1975), पृ० 38।
2. एलेक्स ऑस्बॉर्न, दि एप्लाइड इमेजिनेशन (पूर्वोद्धृत)—अध्याय 21-24।
3. जे० ई० डाउने, क्रिएटिव इमेजिनेशन (लन्दन; केगन पाल, ट्रेंच, ट्रुब्नेर एण्ड कम्पनी, 1929), पृ० 161।

अस्वीकार करे या खुलेपन में स्वीकार करे, अपूर्णता तथा अपर्याप्ति की अनुभूति——जो कि तमाम रचना-कर्म के मूल में होती है— उसका पीछा नहीं छोड़ती; और सचेत सशोधनों के माध्यम से कथ्य तथा अभिव्यक्ति की दूरी को पाटना इसी अपूर्णता तथा पर्याप्ति से निपटने के लिए किया गया साधनात्मक प्रयास होता है। अगर हम यह नहीं मानते तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि लेखक-कलाकार किसी रचना को पूरी तरह मन-मस्तिष्क में निश्चित रूप से बैठा लेता है और फिर उसी का हूबहू रूपान्तरण कर देता है, और ऐसी भ्रामक मान्यता को प्रश्रय देने की गलती हमें नहीं करनी चाहिये। "यह सार्वत्रिक अनुभव है कि किसी कलाकृति की वास्तविक रचना में बहुत समय लगता है जिसमें दोहराने, बदलने और कई बार तो प्रारम्भिक प्रारूप से आमूल विचलन की क्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि जिस वास्तु-विलक्षण ताजमहल के निर्माण में बीस वर्ष लगे थे, उसकी समग्र परिकल्पना और विचारणा वास्तुकार के मस्तिष्क में पहले से ही विद्यमान थी, जिसे बाद में उसने यथावत् कार्य-रूप दे दिया होगा। उतना ही असम्भाव्य यह भी है कि 'डिवाइन कामेडी', 'हैमलेट' या 'फाउस्ट' आदि विश्व की महानतम कृतियाँ—जिनमें प्रदीर्घ विचारण और संशोधन के लक्षण विद्यमान हैं—पहले पूर्णतया परिकल्पित कर ली गयी थीं और बाद में परिकल्पित को जस का तस शब्दों में उतार दिया गया था।"[1]

साहित्य-कर्म यदि शब्द-साधना है तो इस 'साधना' का मतलब क्या है ? वास्तव में पुनर्लेखन और परिवर्तन-परिमार्जन का सम्बन्ध अभिव्यक्ति सम्बन्धी उस उपलब्ध सामग्री के उपयोग से अधिक है जिसे काट-छाँटकर रचनात्मक अनुभव को सम्प्रेष्य बनाया जाता है। और लिखित का पुनर्लेखन इसी सम्प्रेषणीयता की सिद्धि का स्वाभाविक उपकरण है। राजेन्द्र यादव का रेखा-चित्र खींचते हुए मोहन राकेश ने लेखकों की दो कोटियाँ मानी हैं - एक बने हुए लेखकों की और दूसरी बनते हुए लेखकों की। उनके अनुसार जिस लेखक को अधूरेपन का एहसास सालता रहता है और जो संशोधनों-परिमार्जनों से निरन्तर विकसित होकर अपनी प्रयोगधर्मिता को बनाये रखता है, वही सफल लेखक होता है, बनता हुआ लेखक। "बना हुआ लेखक अपने संस्कार के एक पिच से लिखना आरम्भ करता है और जीवन-भर वहीं बना रहता है या निरन्तर उस पिच से नीचे उतरता जाता है। अपने कृतित्व को लेकर उसके मन में शंका नहीं होती, इसलिए उसकी हर नयी रचना, नया प्रयोग न होकर पहली रचना ही की कॉण्टीन्यूटी होती है···क्योंकि अधूरेपन का एहसास कभी नहीं सताता। मगर मेरा यह दोस्त (राजेन्द्र यादव) क्योंकि एहसास का ही मारा हुआ है, इसलिए उसका लेखन निरन्तर परिमार्जित

---

1 एम० सी० सेन गुप्ता, टुवर्ड्स ए थिअरी ऑफ दि इमेजिनेशन (ऑक्सफ़ोर्ड, यूनि० प्रेस, 1969), पृ० 131-32।

हुआ है और होता जा रहा है, और उन कइयों मे यह खाकसार भी है।"[1] जाहिर है कि लिखित का पुनर्लेखन या सशोधन-परिमार्जन हर 'बनते हुए लेखक' का लक्षण है, प्रयोग का अनिवार्य धर्म है। जैनेन्द्र का कहना है—"कोई रचना ऐसी नही है जो मेरे हाथ आए और बदली न जाए। बार-बार आए तो बार-बार बदलने की इच्छा होती है। इसलिए कोशिश करता हूँ कि होने पर फिर रचना मेरे सामने न आए।···यह फेर-फार करने की इच्छा क्यों होती है ? आखिर इसीलिए हो सकती है कि व्यक्तित्व और जीवन एक क्षण के लिए भी गतिहीन नही होता।"[2]

3 निष्कर्ष

रचना-प्रक्रिया के प्रदीर्घ और (अपनी समझ के अनुसार) सर्वतोमुखी विवेचन के उपरान्त उसके अधिगमों को इस प्रकार समेटा जा सकता है—

- साहित्यिक सदर्भ मे रचना-प्रक्रिया को रचनाकार के अन्तर्मुखी विल्यात्मक भावन के बहिर्मुखी भौतिक रचनान्तरण की अनिवार्य प्रक्रिया के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है। रचनाकार, आलोचक और आशसक—तीनो इसके अभिज्ञान से लाभान्वित होते हैं।
- साहित्यिक कृतियों के सभी गुण-दोष रचना-प्रक्रिया की शक्ति या अशक्ति के परिणाम होते हैं। इसलिए यह गम्भीरता से विचारणीय विषय है।
- रचना-प्रक्रिया पर्दे के पीछे का कर्म है, दुर्व्याख्येय है, अभी तक अप्रशमित जिज्ञासा का केन्द्र है। इसलिए उसे समझने का हर सार्थक प्रयास हमे उसके और समीप तो ले जा सकता है, उसकी एकमात्र विवेचना होने का विज्ञानोचित दावा नही कर सकता। हमारा प्रयास यह होना चाहिए कि उसमे क्रियाशील नियमों को उद्घाटित करते हुए, उसके स्वरूप को स्पष्ट करें।
- 'अपनी-अपनी रचना-प्रक्रिया' या व्यक्ति-विभिन्नता के बावजूद सर्जन-व्यापार का एक आधारभूत सामान्य स्वरूप होता

1 मोहन राकेश, 'राजेन्द्र यादव', मेरा हमदम मेरा दोस्त, सम्पा० कमलेश्वर, पृ० 29-30।

2. जैनेन्द्र, पूर्णता का नाम अर्द्धनारीश्वर है, साहित्यिक साक्षात्कार, रणवीर रांग्रा (पूर्वोद्धृत), पृ० 113।

है—इस प्राक्कल्पना के बिना सिसृक्षण की बात करना ही बेकार है। बहुत से साक्ष्यों और जाँच-परिणामों से यह प्राक्कल्पना सत्यापित होती है।

- साहित्यिक सर्जना एक अन्वेषण-यात्रा है जिसका अध्ययन दो उपागमों से किया जा सकता है। एक यात्रान्त से यात्रारम्भ की ओर पलटकर, अर्थात् रचना से रचनाकार की ओर लौटकर, अर्थात् व्यावहारिक उपागम द्वारा; और दूसरे यात्रारम्भ से यात्रान्त तक सहयात्री बनकर, अर्थात् सैद्धान्तिक उपागम द्वारा। सिसृक्षण की सामान्य-स्वरूपता का उद्घाटन एक सैद्धान्तिक विवेचन है जिसके लिए दूसरा उपागम ही उपयुक्त बैठता है।

- इधर-उधर न भटक कर इस अन्वेषण-यात्रा का स्पष्टीकरण इसकी अवस्थात्मक गतिशीलता में किया जाना चाहिए। यह ध्यान रखना जरूरी है कि अपनी संश्लिष्ट अनानुपातिकता के कारण सिसृक्षण की कुछ अवस्थाएँ आगे-पीछे भी हो जाती हैं और उनमें गुण-मात्रा का अन्तर भी प्रत्येक रचना-कर्म के वैशिष्ट्य को निर्धारित करता है।

- मनोविज्ञान में रचना-प्रक्रिया का विवेचन सर्वाधिक किया गया है, बल्कि आधुनिक अर्थों में इसकी वास्तविक अवधारणा ही मनोविज्ञान-क्षेत्रीय है। अनेक मनोविज्ञान-शास्त्रियों, मनोवैज्ञानिक सिसृक्षा-परक विधियों (साइनेक्टिक्स, साइबर्नेटिक्स, ब्रेन-स्टार्मिंग, सर्वेक्षण आदि) और कोशीय हवालों से सिसृक्षण की पाँच प्रमुख अवस्थाओं का पता चलता है—उपक्रम काल, साद्रण काल, विनिवर्तन काल, अन्तर्दृष्टि काल और सत्यापन काल। साहित्य अथवा कला ही को केन्द्र में रखकर किए गए किसी समावेशी पुस्तकाकार अध्ययन का मनोविज्ञान में भी अभाव है। अतः इस अवस्था-निर्धारण की अपनी शक्ति और सीमा है। लेकिन आंशिक ही सही, इसकी सहायता के बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

- साहित्य-कला-शास्त्रीय विवेचनों के व्यापक अध्ययन का समाहार करें तो रचना-प्रक्रिया की जो अवस्थाएँ उभर कर सामने आती हैं, वे हैं—प्रभावाभिग्रहण, कल्पना-बिम्बात्मक आवृत्ति, सम्बन्ध-निर्धारण, वैचारिक सामान्यीकरण, बहिर्निरूपण और

कलाकृति का आविर्भाव। इसी प्रकार सर्जक साहित्यकारों (जिनमें हमारे अभिमत संग्रह के रचनाकार भी शामिल हैं) ने प्रायः अनुभूति, चिन्तन और अभिव्यक्ति की अवस्थाओं के संकेत दिए हैं। कुछ लेखकों ने प्रेरणा, स्मृति, संकेन्द्रण, कल्पना, विचार-संयोजन, निर्वैयक्तीकरण, शाब्दिक रूपायन आदि का उल्लेख किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में वाणी के प्राथमिक स्फुरण, लौकिक प्रत्यक्ष का कवि-प्रत्यक्ष में परिवर्तन, कल्पनात्मक भावन, शब्दार्थ-संयोजन और साधारणीभूत रसावस्था की स्थितियों को यत्र-तत्र स्पष्ट किया गया है।

- उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक और अन्य क्षेत्रीय प्रयासों में मूलतात्विक अभेद है। लेकिन कुल मिलाकर एक तो इन्हें किसी व्यापक परिप्रेक्ष्य में सग्रथित करने की आवश्यकता है और दूसरे इनकी विकीर्णताओं, अतिव्याप्तियों, अपर्याप्तियों और असंगतियों को दूर करने की भी। इसलिए हमारी स्थापना के अनुसार साहित्यिक रचना की प्रक्रिया मूलतः दो सायुज्य तथा अन्योन्यक्रियात्मक अवस्थाओं में सम्पन्न होती है—बाह्य के आभ्यन्तरीकरण और अभ्यन्तर के बाह्यीकरण में। ये दोनों यांत्रिक नहीं, अयांत्रिक अवस्थाएँ हैं।

- बाह्य के आभ्यन्तरीकरण में रचनाकार की चेतना और आभ्यन्तरीकृत विषय, दोनों का स्वातन्त्र्य बना रहता है क्योंकि दोनों के अपने-अपने नियम होते हैं जो यहाँ परस्पर-द्वन्द्व में आते हैं। इस प्रक्रिया में रचनाकार को जिन स्थितियों में से गुजरना पड़ता है उनमें विषय के ऐन्द्रिय संवेदन की स्थिति पहली होती है। संवेदन के बिना सिसृक्षण की शुरूआत नहीं हो सकती। संवेदन से रचनाकार को व्यापक परिदृश्य मिलता है, लेकिन संवेदिक प्रभाव बहुत इकहरे किस्म के होते हैं। अतः प्रत्यक्षण दूसरी स्थिति में उन प्रभावों से वह सार्थक प्रतिरूपों को उत्पन्न करता है। इसका रचनात्मक प्रत्यक्षण, आम प्रत्यक्षण से विशिष्ट होता है जिसके निर्धारण में उसकी उद्देश्यपरकता, भाषा, संस्कृति, रूप-रंग-आकार की अभिदृष्टियों, इच्छाओं, संदर्भाधारों आदि की विशेष भूमिका होती है। तीसरी स्थिति विषय-संलिप्ति और तज्जन्य अभिप्रेरणा की होती है। रचनात्मक अभिप्रेरण के कई स्रोत हो सकते हैं जिनमें मनोवैज्ञानिक स्रोत, वास्तविक अनुभव-योग, प्रति-

क्रियात्मक निषेध और निषेधात्मक प्रतिक्रिया, समानुभूति, कलाक्षेत्रीय प्रभाव आदि के स्रोतों की प्रमुखता होती है। अभिप्रेरण के बाद रचनात्मक अनुभूति या अनुभव का स्वरूप स्पष्ट होता है। अनुभूति का काम ऐसी सामग्री प्रस्तुत करना है जिसे विधायक कल्पना छान-चुनकर नई सार्थकता के साथ प्रस्तुत करती है। अनुभूति 'विशुद्ध' नहीं होती। सार्वत्रिकता उसकी विशेषता होती है उसकी सापेक्षता, प्रामाणिकता और रसार्द्रता भी विचारणीय है। वह सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव है जिसे आध्यात्मिक रहस्य-जाल में नहीं उलझाना चाहिए क्योंकि वह एक ससीम सम्भावना है। अगली स्थिति रचनात्मक विचारण की है, और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण। यहाँ रचनाकार अपने विषय और भाव-संवेगात्मक, अनुभव से 'दूरी' पर चला जाता है और दूर जाकर उसके अधिक 'समीप' आता है। वह चयन को महत्व देता है, वास्तविकता के लिए आग्रहशील होता है, सम्यक आलोचना करता है, साहचर्यात्मक चिन्तन से काम लेता है, प्रासंगिकता चालित रहता है, सामान्यीकरण या प्रतिनिधिकरण अर्थात् समाधान की दिशा में अग्रसर होता है--और इस सबके दौरान अपनी 'स्वाधीनता' या मौलिकता भी बनाए रखता है। रचनात्मक विचारण की प्रक्रिया में अचेतावचेत की क्रियाशीलता--अप्रस्तुत पाठक की उपस्थिति, अन्तर्दृष्टि, स्वयं प्रकाश्य तथा स्वयम्भू कल्पना का महत्वपूर्ण योग होता है।

- अभ्यन्तर का बाह्यीकरण अर्थात् सम्प्रेष्य भाषिक अभिव्यक्ति रचना-प्रक्रिया का दूसरा पक्ष है। सर्जना के उस पहले और इस दूसरे पक्ष में अविच्छिन्नता का सूत्र निरन्तर बना रहता है। यह अभिव्यक्त होने और अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने का संघर्ष है। इसमें अन्तर्वस्तु और दृष्टि-विकास का संघर्ष अपने आप समाविष्ट रहता है। यहाँ विचार की प्रातिनिधिक इकाइयाँ भाषा और शब्दों के 'पैटर्नों' में ढलती हैं जिसके निर्माण में रचनाकार के भाषिक समाज की अपनी अदृश्य भूमिका होती है। यह बाह्यीकरण साहित्य-रूपों और साहित्यिक विधाओं की विरासत से अछूता कभी नहीं होता। अतः रचनाकार के भाषिक अर्जन की क्षमता और भाषिक परम्परा के चयन पर ही रचना-प्रक्रिया के इस पक्ष की सफ-

लता सर्वाधिक निर्भर करती है। यह अभ्यन्तर का बाह्यीकरण किन्ही उपकरणो अथवा भाषिक माध्यमो से सम्पन्न होता है। बिम्ब, प्रतीक, मिथक, फंतासी आदि ऐसे ही उपकरण हैं जिनकी रचना-प्रक्रियात्मक भूमिका तथा सगति का अभिज्ञान अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

रचना-प्रक्रिया में पुनर्लेखन या परिवर्तन-परिमार्जन का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। अधिकाश साक्ष्यो और मनोवैज्ञानिक स्थितियों से यही सिद्ध होता है कि यह इस प्रक्रिया का अनिवार्य धर्म है।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

1 अग्रवाल, पद्मा : प्रतीकवाद, वाराणसी : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 2023 वि०।

2. अग्रवाल, रामकृष्ण : प्रसाद-काव्य में बिम्ब-योजना, इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन, 1979।

3 अभिनव गुप्त : अभिनव भारती (हिन्दी अभिनव भारती) अनु० विश्वेश्वर, दिल्ली : अनुसंधान परिषद दिल्ली विश्वविद्यालय, 1960।

4. अलेक्सेंडर : ब्यूटी एण्ड अदर फॉर्म्स ऑफ वेल्यू।

5 अज्ञेय : अन्तरा० दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 1975।

6 अज्ञेय : अपरोक्ष; अज्ञेय से सात संवाद, नयी दिल्ली : सरस्वती विहार, 1979।

7 अज्ञेय : जोग लिखी, दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्ज़, 1977।

8. अज्ञेय : त्रिशंकु, बीकानेर : सूर्य प्रकाशन मन्दिर, 1973।

9. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, अनु० जगन्नाथ पाठक, वाराणसी : चौखम्भा विद्या-भवन, 1965।

10 ऑर्नल्ड मैथ्यू : एस्सेज़ इन क्रिटिसिज़्म—सैकेंड सीरीज़, लंदन : मैकमिलन कंपनी, 1956।

11. ऑस्बोर्न, एलेक्स : एप्लाइड इमेजिनेशन, इलाहाबाद : सेंट पाल पब्लिकेशन, 1967।

12 इलियट, टी० एस : सिलेक्टिड एस्सेज, लंदन : फेबर एण्ड फेबर, 1959।

13. इलियट, टी० एस : दि सेक्रिड वुड, लंदन : मेथुइन एण्ड कम्पनी, 1969।

14. इलियेड, मर्सिया : दि सेक्रिड एण्ड दि प्रोफॉउण्ड, न्यूयार्क : हार्कोर्ट, 1959।

15. उपाध्याय, विश्वम्भर नाथ : जलते और उबलते प्रश्न, जयपुर : बोहरा प्रकाशन, 1969।

16 ओवचारेंको, ए : सोशलिस्ट रियलिज़्म एण्ड दि मॉडर्न लिटरेरी प्रॉसेस, मास्को : प्रोग्रेस पब्लिशर्ज़, 1980।

17. एडर्सन (सपा०) : क्रिएटिविटी एण्ड इट्स कल्टीवेशन, लंदन : हार्पर एण्ड रो, 1959।
18 कमलेश्वर (सपा०) : मेरा हमदम मेरा दोस्त, नयी दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1973।
19 कमलेश्वर : मेरी प्रिय कहानियाँ, दिल्ली : राजपाल एंड सन्ज, 1980।
20. कागन, जेरोम (सपा०) : क्रिएटिविटी एंड लर्निंग, बोस्टन : हटन मिफलिन कंपनी, 1967।
21 कामिसार जहेव्स्की, विक्टर (संपा०) : नाइन मॉडर्न सोवियत प्लेज, मास्को : प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज, 1977।
22 कालिंगवुड, आर० जी० : कला के सिद्धान्त (अनूदित), जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972।
23. कॉलरिज, एस०टी० · बायोग्राफिया लिटेरेरिया।
24 कुमार, केसरी · साहित्य के नये धरातल, नयी दिल्ली · राजकमल, 1980।
25 कुमार, दुष्यन्त : साये में धूप, नयी दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन, 1981।
26. कुमार, वचनदेव, (सम्पा) लेखक और परिवेश, नयी दिल्ली · राजकमल प्रकाशन, 1978।
27. कुलिकोवा, आई० और जिस०ए० (सपा०) मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स एंड लाइफ, मास्को प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज़, 1976।
28 कुलिकोवा और जिस० (सपा०) : मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट एस्थेटिक्स एंड दि आर्ट्स, मास्को · प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज, 1980।
29. कुर्गानोवा, वी०एम० (सपा०) लेखन-कला और रचना-कौशल, अनु० अली अशरफ, मास्को प्रगति प्रकाशन, 1977।
30 कोइस्लर, आर्थर दि एक्ट ऑफ क्रिएशन, लंदन : पिकाडॉर पैन बुक्स, 1977।
31 कोलर, एम०ए० (सपा०) एस्सेज ऑन क्रिएटिविटी, न्यूयार्क : यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963।
32. क्रोचे, बेनेदेतो एस्थेटिक्स, कलकत्ता रूपा एंड कम्पनी।
33. क्रोचे, बेनेदेतो · सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्व, अनु० श्रीकान्त खरे, इलाहाबाद : किताब महल, 1969।
34. ख्रापचेंको, एम० दि राइटर्ज क्रिएटिव इंडिविजुअलिटी एंड दि डिवेलपमेंट ऑफ लिटरेचर, मास्को : प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज, 1977।
35 गार्डन, विलियम जे०जे० माइनेक्टिक्स, न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1961।
36. ग्रे, बेनिसन . दि फिनॉमिनन ऑफ लिटरेचर, दि हेग : माउटन, 1975।
37. गोकक, विनायक कृष्ण . एन इटेग्रल व्यू ऑफ पोइट्री, एन इंडियन पर्स्पेक्टिव, नयी दिल्ली अभिनव पब्लिकेशन्स, 1975।
38. गोल्डमैन, मार्क दि रीडर्ज आर्ट, पेरिस : माउटन, 1976।

39. गोल्डिंग, जॉन : क्यूबिज्म, ए हिस्टरी एंड एन अनालिसिस, लदन : फेबर एण्ड फेबर, 1959।
40 गोर्की, मक्सिम . ऑन लिटरेचर, मास्को . प्रॉग्रेस पब्लिशर्स।
41. घिसेलिन, ब्रेवस्टर . (सपा०) दि क्रिएटिव प्रॉसेस, लदन : न्यू इग्लिश लाइब्रेरी, 1952।
42. चक्रधर, अशोक · मुक्तिबोध की काव्य-प्रक्रिया, नयी दिल्ली · मैकमिलन एण्ड कम्पनी, 1975।
43. चतुर्वेदी, रामस्वरूप . सर्जन और भाषिक सरचना, इलाहाबाद . लाक भारती, 1980।
44 चौधरी, इन्द्रनाथ . तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, नयी दिल्ली : नेशनल, 1981।
45 जेम्स, हेनरी . सिलेक्टिड लिटरेरी क्रिटिसिज्म, मिडलसेक्स · पेंगुइन बुक्स, 1968।
46 जैन, निर्मला · रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, नयी दिल्ली नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1977।
47 जोन्स, एन०वी० . दास्तॉयव्स्की—दि नॉविल ऑफ डिस्कार्ड, लदन : पॉल एविक, 1976।
48. झा, सूर्यकान्त एन अनालिसिस ऑफ गर्टेन डाइमेंशन्स ऑफ क्रिएटिविटी, बम्बई . हिमालय पब्लिशिंग हाउस, 1978।
49 टारेंस, ई० पाल गाईडिंग क्रिएटिव टेलेंट, लदन प्रेंटिस हाल, 1962।
50. डे, एस०के० सस्कृत पोइटिक्स ऐज़ ए स्टडी ऑफ एस्थेटिक्स, बम्बई : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1963।
51 डाउने, जे०ई० क्रिएटिव इमेजिनेशन, लदन केगन पाल ट्रेंच ट्रूब्नर, 1929।
52. डायमड, एडविन दि साइस ऑफ ड्रीम्स, न्यूयार्क मेलफेंडन बुक्स, 1963।
53 तुर्नेन, फ्रैंक (सम्पा०) रीडिंग्ज इन साइकॉलॉजी, न्यूयार्क होल्ट राइनहर्ट एंड विस्टन, 1973।
54. थाम्सन, राबर्ट दि साइकॉलॉजी ऑफ थिंकिंग, एलेस्बरी बक्स दि इग्लिश लेंग्वेज बुक सोसाइटी एंड पेंगुइन बुक्स, 1971।
55. दासगुप्त, सुरेन्द्रनाथ सौन्दर्य-तत्व, रूपान्तरकार आनन्द प्रकाश दीक्षित, इलाहाबाद भारती भण्डार, 2017 वि०।
56 दिनकर, रामधारी सिंह उर्वशी, पटना उदयाचल, 1961।
57 दिनकर, रामधारी सिंह काव्य की भूमिका, पटना उदयाचल, 1958।
58 दीक्षित, भागीरथ अभिनव साहित्य-चिन्तन, दिल्ली . इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, 1977।
59. द्विवेदी, हजारी प्रसाद आलोक-पर्व, दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1972।
60. द्विवेदी, हजारी प्रसाद विचार और वितर्क, इलाहाबाद साहित्य भवन, 1969।

61. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, साहित्य-सहचर, वाराणसी : नैवेद्य निकेतन, 1968।
62. दीक्षित, आनन्द प्रकाश (संपा०) : आलोचना-प्रक्रिया और स्वरूप, नयी दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1976।
63. नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, नयी दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1967।
64. नगेन्द्र : भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, नयी दिल्ली : नेशनल, 1974।
65 नाविकॉव, वेस्सिली : आर्टिस्टिक ट्रूथ एण्ड डायलेक्टिक्स ऑफ क्रिएटिव वर्क, मास्को : प्रॉग्रेस पब्लिशर्ज़, 1981।
66. न्यूटन, एरिक : दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी, लंदन : पेंगुइन बुक्स, 1962।
67 न्यूमान एरिक . आर्ट एण्ड दि क्रिएटिव अनकाशस, लदन : रूटले एण्ड केगन पाल, 1959।
68 पत, सुमित्रानन्दन शिल्पी, इलाहाबाद : सेंट्रल बुक डिपो, 1952।
69 पाडेय, कातिचन्द्र स्वतंत्र कलाशास्त्र भाग-I, वाराणसी : चौखम्बा सस्कृत सीरीज़, 1967।
70. पास्तोव्स्की, कास्तेतिन ए बुक अबाउट आर्टिस्ट्स, मास्को प्रॉग्रेस, 1978।
71 प्रसाद, जयशकर . अभिषेक, संपा० रत्नशकर प्रसाद, वाराणसी : हिन्दी प्रचारक सस्थान, 1978।
72. प्रसाद, जयशकर : काव्य-कला तथा अन्य निबध, इलाहाबाद : भारती भण्डार, 2013 वि०।
73 प्रसाद, दिनेश्वर, लोक-साहित्य और सस्कृति, इलाहाबाद : लोकभारती, 1973।
74. प्रेमचन्द : कुछ विचार, इलाहाबाद : सरस्वती प्रैस, 1973।
75 प्रेमचन्द, शिवरानी देवी . प्रेमचन्द घर मे, दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्ज़, 1956।
76. फॉक्स, रेल्फ उपन्यास और लोक जीवन, नयी दिल्ली . पीपुल्स हाउस, 1980।
77 फॉउलर, अलस्टेयर काइड्स ऑफ लिटरेचर, न्यूयार्क : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1982।
78 फ्राइ, नार्थ्रॉप अनॉटमी ऑफ क्रिटिसिज़्म, प्रिंस्टन : यूनिवर्सिटी प्रैस, 1973।
79 फ्रायड, सिगमड कम्पलीट साइकॉलॉजिकल वर्क्स, लदन : हॉगार्थ प्रैस, 1971।
80 फोगल, आर० एच० दि इमेजरी ऑफ कीट्स एण्ड शैले, चैपलहिल . कार्लोनिया यूनिवर्सिटी प्रैस, 1949।
81. बटरोही : कहानी—रचना-प्रक्रिया और स्वरूप, दिल्ली अक्षर प्रकाशन, 1973।
82 बदी उज्ज़मा एक चूहे की मौत, नयी दिल्ली प्रवीण प्रकाशन, 1979।
83. बार्थ, रोला इमेज-म्यूज़िक-टेक्स्ट, ग्लासगो : फॉन्ताना, 1977।
84 बीब, मॉरिस (सम्पा०) लिटरेरी सिम्बॉलिज़म, सानफ्रांसिस्को : वाड्सवर्थ पब्लिशिंग कम्पनी, 1960।
85 बूचर, एस०एच० अरिस्टाटल्स थिअरी ऑफ पोइट्री एड फाइन आर्ट्स, न्यूयार्क , डॉवर पब्लिकेशन्स, 1951।

86. बेंजामिन, वाल्टर : इल्यूमिनेशन्स, लंदन . जोनाथन केप, 1970।
87 बोलम, राबर्ट०सी० : थिअरी ऑफ मोटिवेशन, न्यूयार्क : हार्पर एण्ड रो, 1969।
88 *भरत कृत नाट्यशास्त्र : व्याख्याकार रघुवंश, वाराणसी : मोतीलाल बनारसीदास, 1964।*
89. मम्मट काव्यप्रकाश, अनु० विश्वेश्वर, वाराणसी · ज्ञानमंडल, 1960।
90. मार्क्स, कार्ल · सिलेक्टिड राइटिंग्ज इन सोश्यॉलॉजी एंड सोशल फिलासफी, सपा० टी०बी० बाटोमोर, लंदन . वाट्स एंड कम्पनी, 1956।
91. मॉरिस, चार्ल्स०जी० · साइकॉलॉजी एन इंट्रोडक्शन, न्यूयार्क एपलटन सेंच्युअरी क्राफ्ट्स, 1973।
92 मालिनोव्स्की . मैजिक माइस रिलेजन एंड अदर एस्सेज़, लंदन फ्री प्रेस, 1948।
93 मिश्र, शिव कुमार · दर्शन, साहित्य और समाज, दिल्ली · पीपुल्स लिटरेसी, 1981।
94 मुक्तिबोध, गजानन माधव : मुक्तिबोध रचनावली भाग 1-6, सपा० नेमिचन्द्र जैन, नई दिल्ली राजकमल प्रकाशन, 1980।
95. मुद्राराक्षस साहित्य समीक्षा—परिभाषाएँ और समस्याएँ, नई दिल्ली . नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1963।
96 मे, रोलो . दि करेज टु क्रिएट, लंदन · विलियम कॉलिन्स, 1976।
97. मेघ, रमेश कुन्तल · अथातो सौंदर्य-जिज्ञासा, दिल्ली मैकमिलन कम्पनी, 1977।
98. मेघ, रमेश कुन्तल . क्योंकि समय एक शब्द है, इलाहाबाद . लोक भारती प्रकाशन, 1975।
99 मेघ, रमेश कुन्तल साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, नयी दिल्ली नेशनल, 1980।
100 मोहन, नरेन्द्र आधुनिक हिन्दी-काव्य मे अप्रस्तुत-विधान, नयी दिल्ली . नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1972।
101 युग, सी०जी० साइकॉलॉजिकल टाइप्स, लंदन केगन पाल, 1944।
102 युग, सी०जी० कोलेक्टिड वर्क्स वाल्यूम-6, लंदन रूटले एंड केगन पाल, 1952।
103 येट्स, डब्ल्यू० बी० · एस्सेज़, न्यूयार्क मैकमिलन, 1924।
104 रसेल, बर्टरेंड : मिस्टिसिज़्म एंड लॉजिक, लंदन पेंगुइन बुक्स, 1953।
105. रस्तोगी, गिरीश मोहन राकेश और उनके नाटक, इलाहाबाद · लोकभारती प्रकाशन, 1976।
106. राय, रणवीर साहित्यिक साक्षात्कार, दिल्ली पूर्वोदय प्रकाशन, 1978।
107 राघव, सुलोचना · धुन, दिल्ली . शब्दकार प्रकाशन, 1979-80।
108. राकेश, मोहन अण्डे के छिलके, अन्य एकांकी तथा बीज-नाटक, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1977।
109. राकेश, मोहन लहरों के राजहंस, दिल्ली . राजकमल प्रकाशन, 1978।
110. राघव, रांगेय : बोलते खण्डहर, इलाहाबाद किताब महल, 1955।

111. राजशेखर - काव्य मीमांसा, अनु० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1965।

112. रानी, इन्द्रा · छायावादी काव्य और नयी कविता मे बिम्ब, अप्रकाशित शोध-प्रबंध, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1975।

113 राय, गुलाब सिद्धान्त और अध्ययन, दिल्ली आत्माराम, 1955।

114 राव, पी०आदेश्वर काव्य-बिम्ब—स्वरूप और संरचना, इलाहाबाद : कालिंदी-कावेरी प्रकाशन, 1978।

115 रिचर्ड्स, आई०ए० और आग्डेन, सी०के० : दि मीनिंग ऑफ मीनिंग, लंदन : केगनपाल, 1936।

116. रिचर्ड्स, आई०ए० . प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, लंदन : रूटले एण्ड केगनपाल, 1963।

117 रैंक, आटो आर्ट एंड आर्टिस्ट, न्यूयार्क . एगाथन प्रैस, 1962।

118 रैंड, एइन - दि रोमांटिक मेनिफेस्टो, न्यूयार्क : न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, 1975।

119 लारेंस, डी०एच० सिलेक्टिड लिटरेरी क्रिटिसिज्म, लंदन : विलियम हेनमान, 1955।

120 लीविस, एफ०आर० न्यू बियरिंग्ज इन इंग्लिश पोइट्री मिडलसेक्स : पेलिकन बुक्स, 1976।

121 लीविस, सी०डी० पोइटिक इमेज, लंदन जोनाथन केप, 1955।

122 वर्नन, पी०ई० (सपा०) क्रिएटिविटी, मिडलसेक्स पेंगुइन बुक्स, 1975।

123 वर्मा, निर्मल शब्द और स्मृति, दिल्ली : राजकमल, 1976।

124 वर्मा, निर्मल · कला का जोखिम, दिल्ली · राजकमल, 1981।

125 वर्मा, महादेवी मेरे प्रिय निबंध, नयी दिल्ली : नेशनल, 1981।

126 वाजपेयी, नंददुलारे आधुनिक साहित्य, इलाहाबाद : भारती भंडार, 2013 वि०।

127 वाजपेयी, अशोक · फिलहाल, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1970।

128. वात्स्यायन, सच्चिदानन्द · अद्यतन, दिल्ली सरस्वती विहार, 1977।

129. वात्स्यायन, सच्चिदानन्द . आलवाल, नयी दिल्ली : राजकमल, 1977।

130 वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, अनु० विश्वेश्वर, दिल्ली : आत्माराम एण्ड सन्ज, 1954।

131 वालस, जी० दि आर्ट ऑफ थॉट, लंदन . हार्कोर्ट ब्रेस एण्ड जोनाथन केप, 1926।

132 विटेकर, जेम्स० ओ० · इंट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी, लंदन : साउंडर्स कम्पनी, 1970।

133 विमल, कुमार : सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, नयी दिल्ली : राजकमल, 1981।

134. विमल, कुमार (संपा०) : काव्य-रचना-प्रक्रिया, पटना बिहार ग्रंथ अकादमी, 1974।

135. विश्वनाथ, साहित्य-दर्पण टीकाकार शालिग्राम शास्त्री, वाराणसी . मोतीलाल बनारसीदास, 1961।

136. वेलेक, रेने और वारेन, आस्टिन साहित्य-सिद्धान्त (अनूदित), इलाहाबाद ; लोकभारती प्रकाशन।

137. शिलर, जेरोम० पी० . आई०ए० रिचर्ड्स—थिअरी ऑफ लिटरेचर, लदन . येल युनिवर्सिटी प्रेस, 1969।

138. शुक्ल, रामचन्द्र चिन्तामणि भाग-1, इलाहाबाद इंडियन प्रेस, 1958।

139 शुक्ल, रामचन्द्र रस-मीमासा, बनारस · काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० 2011।

140 श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ शैली विज्ञान और आलोचना की नयी भूमिका, आगरा : केन्द्रीय हिन्दी सस्थान, 1972।

141 श्रीवास्तव, परमानन्द कहानी की रचना-प्रक्रिया।

142 शर्मा, रामविलास प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ, आगरा विनोद पुस्तक मन्दिर, 1957।

143. सहाय, रघुवीर आत्महत्या के विरुद्ध, नयी दिल्ली राजकमल, 1967।

144 सहाय, रघुवीर · लिखने का कारण, दिल्ली राजपाल एंड सन्ज, 1978।

145 साहनी, भीष्म तथा अन्य (सम्पा०) आधुनिक हिन्दी उपन्यास, नयी दिल्ली . राजकमल प्रकाशन, 1980।

146. सार्त्र, ज्या पाल दि साइकॉलॉजी ऑफ इमेजिनेशन, लदन मैथ्युइन कम्पनी, 1972।

147 सार्त्र, ज्या पाल वट इज लिटरेचर, नार्थम्पटन . मैथ्युइन कम्पनी, 1967।

148 सिंह, नामवर · कविता के नये प्रतिमान, नयी दिल्ली राजकमल, 1972।

149 सिंह, बच्चन आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन, 1978।

150. सिंह, महीप (सम्पा०) लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, नयी दिल्ली · शारदा प्रकाशन, 1978।

151 सिंह, शिवकरण कला-सृजन-प्रक्रिया और निराला, वाराणसी : संजय बुक सेंटर, 1978।

152 सिंह, शिवप्रसाद . मुरदा सराय कलकत्ता . भारतीय ज्ञानपीठ।

153 सेन गुप्ता, एम०सी० : टुवर्ड्ज ए थियरी ऑफ इमेजिनेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1959 ।

154. सेलिमर, रिचर्ड म (सपा०) ; मोटिव्ज वाइ टु यू राइट, बम्बई : शकुन्तला पब्लिशिंग हाउस, 1974 ।

155. हक्सले, एल्डस : मोश, संपा० माइकल हार्बिट्ज और एस० पागेर०, लदन : चट्टो एड विड्स, 1980 ।

156. हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु · भारत-दुर्दशा, सपा० कृष्णदेव शर्मा, दिल्ली : अशोक प्रकाशन, 1977 ।

157. ह्यू ज, ग्लेन इमेजिज्म एड इमेजिस्ट्स, लंदन : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1931 ।

158 हार्टमैन, अर्नेस्ट दि बॉयालोजी ऑफ ड्रीमिंग, स्प्रिंगफील्ड : सी०सी० थॉमस, 1967 ।

159. हेरमेरिन, गॉरन . इनफ्लुएन्स इन आर्ट एंड लिटरेचर, प्रिंस्टन : यूनिवर्सिटी प्रैस, 1975 ।

160 इटरनेशनल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोश्यल साइंसिज, सम्पा० डेविड० एल० सिल्स, न्यूयार्क : मैकमिलन एड फ्री प्रैस, 1968 ।

161 इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, न्यूयार्क लेक्सिंग्टन एवेन्यू, 1971 ।

162 इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, लदन : विलियम बेंटन पब्लिशर्ज, 1974 ।

163 ए डिक्शनरी ऑफ साइकॉलॉजी, सम्पा० जेम्स ड्रेवर, मिडल सेक्स : पेंगुइन बुक्स, 1961 ।

164 डिक्शनरी ऑफ लिटरेरी टर्म्स, जे० ए० कडन, नयी दिल्ली : इडियन बुक कपनी, 1977 ।

165 दि रेंडम हाउस डिक्शनरी ऑफ दि इंग्लिश लेंग्वेज, सम्पा० जेस्स स्टेन, बम्बई : तुलसी शाह एटरप्राइजर्ज, 1970 ।

166 प्रिंस्टन इन्साइक्लोपीडिया ऑफ पोइट्री एण्ड पोइटिक्स, लदन · प्रिंस्टन पेपर-बैक्स, 1963 ।

167 भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, डा० राजवंश सहाय हीरा, पटना : बिहार ग्रन्थ अकादमी, 1973 ।

168. मानविकी पारिभाषिक कोश ।

169. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1, सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा तथा अन्य, वाराणसी : ज्ञान-मंडल लिमिटेड।

170. साइकॉलॉजिकल एब्स्ट्रेक्ट्स, सम्पा० एल० ग्रेनिक, वाशिंगटन : ए०पी०ए०, 1977-80।

171. दि इन्साइक्लोपीडिया ऑफ साइकॉलॉजी, सम्पा० एच०जे० आइजेंक, लंदन : सर्च प्रैस, 1972।

172. दि इन्साइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी, सम्पा० पाल एडवर्ड्स न्यूयार्क : दि मैकमिलन कम्पनी एण्ड दी फ्री प्रैस, 1967।

(नोट : उपर्युक्त सभी संदर्भ-ग्रथों के प्रकाशन-वर्ष उपलब्ध संस्करणों के आधार पर दिये गए हैं। अतः आवश्यक नहीं कि किसी उल्लिखित वर्ष का सम्बन्ध पुस्तक के प्रथम संस्करण ही से हो।)